मैक्समूलर लिखित

धर्म की उत्पत्ति और विकास

MAXMULLER

●

अनुवादक—
ब्रह्मदत्त दीक्षित 'ललाम'

●

प्रकाशक
आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४९२ मालवीय नगर
इलाहाबाद

●

पहला सम्करण] नवम्बर १९६८ [मूल्य १०) रुपये

प्रकाशक
गिरिधर शुक्ल
४६२ मालवीय नगर
इलाहाबाद

मुद्रक—
उत्तम प्रिन्टिंग प्रेस
१४६ ए, सादियापुर
इलाहाबाद

एक हिबर्ट लेक्चर की स्थापना के लिये स्मारक
हिबर्ट ट्रस्टियों के नाम

महानुभाव,

हम नीचे हस्ताक्षर करने वाले आपका ध्यान नीचे दिये गये ज्ञापन की ओर आकर्षित करते हैं —

यह एक वास्तविकता है कि इस देश के प्रमुख देवत्व सम्बन्धी विचार केन्द्र प्राय सभी, अब तक परम्परागत बन्धन में पड़े है, इन बन्धनों से अन्य अनुसधान क्षेत्र मुक्त हो चुके हैं, धार्मिक विषयों की चर्चा और विवाद चच सम्बन्धी निहित वग के पूर्वाग्रह से प्रभावित है और परिणाम स्वरूप उसे बौद्धिक सम्मान और प्रतिष्ठा नही प्राप्त होती जो किसी दूसरे क्षेत्र मे ज्ञान और अनुसधान को सहज प्राप्त हैं।

कोई कारण नही है कि पर्याप्त ज्ञान और कुशल मीमासा, यदि सत्य की खोज में निष्पक्ष प्रयुक्त हो तो धार्मिक क्षेत्र में, भौतिक और सामाजिक विचार क्षेत्रो से कम सफल होंगे और इसमे सन्देह नही किया जा सकता कि धर्म-शास्त्र की अनिर्णीत समस्याओं के निष्पक्ष और सुयोग्य समीक्षाकरण के स्वागत के लिये मर्मज्ञ-खोजी लोग तैयार हैं। हमारी समझ मे वह समय आ गया है कि ऐसी समस्याओं के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार के लिये यदि स्पष्ट व्यवस्था हो तो, विद्वानो का यह कार्य महत्वपूर्ण निष्कर्ष देगा। यद्यपि इग्लैण्ड में, धर्म के इतिहास एव सिद्धान्त के निष्पक्ष विवेचन के मार्ग में परम्परागत बन्धन रहे हैं, फिर भी जर्मनी और हालैण्ड के उदार विचार क्षेत्रो से बहुत साहित्य आया है और न्यूनाधिक मात्रा में वर्तमान पीढ़ी के मस्तिष्क को उसने शिक्षित किया है और उसे वेग दिया है। इसलिये धार्मिक विचारो के पुनसङ्गठन के लिये, जो हमारे बीच हो रहा है, सुयोग्य अनुशीलन कर्त्ताओं की कमी नहीं हो सकती। भावना और अनुभूति का परिवर्तन केवल बाहर से नही लाया जा सकता, जब तक कि वे ऐसे लोगो के मानस में नही प्रवाहित होते तब तक न तो उनका विकास स्वाभाविक है और न स्थानीय रग उनमे है। अङ्गरेजो की सम्मति और उनकी सस्थाओं को परिशोधित करने के लिये अगरेजी विद्वानों की आवश्यकता है।

इस आवश्यकता को, हमारी समझ में आपका प्रोत्साहन पूर्ण कर सकता है। आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी में बम्पटन लेक्चर और काग्रेगेशनल लेक्चर ऐसी सस्थाओं ने, पुरातनवादी परिवर्तन-शील क्षेत्र में बहुत काय किया है जिससे जन मानस ईसा धर्म

के भली भाँति निश्चित विचारों की ओर गया है। हमारा विश्वास है कि इसी प्रकार की संस्था महान सेवा कर सकती है जिससे निष्पक्ष और स्वतंत्र निर्णय करने में सहायता मिले। निर्णय करने में धार्मिक श्रद्धा का पर्याप्त अंश हो। समय समय पर समकालीन धर्म शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन और बाइबिल सम्बन्धी समालोचना और दर्शन के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिणाम प्रकट किये जाय।

इसलिये हम आप से निवेदन करने का साहस करते हैं कि हिबर्ट लेक्चर या अन्य किसी उपयुक्त नाम से लेक्चर की स्थापना आप करें। कम से कम ६ लेक्चर तो लन्दन या ग्रेट ब्रिटेन के प्रमुख नगरों में प्रति दो या तीन वर्ष में प्रस्तुत किये जायँ।

उन भाषणों, (लेक्चर) को बिना किसी बन्धन के अनुशासन के रूप में प्रकाशित किया जाय जो निश्चित वर्ग के सामने एक अच्छे रूप में प्रस्तुत हो।

हस्ताक्षर

जेम्स मार्टिनो	राबर्ट वालम
आर्थर पी० स्टैनली	लुई कैम्पबेल
जान एच० टाम	जान केर्ड
चार्ल्स विक्स्टीड	विलियम गस्केल
विलियम बी० कारपेन्टर	चार्ल्स बियर्ड
एफ० मैक्समूलर	टी० के० चेन
जार्ज डब्लू० काक्स	ए० एच० सास
जे० म्योर	रसेल मैट्रियू
जान टुलोक	जेम्स ड्रमण्ड

भूमिका

हिबर्ट ट्रस्टी वर्ग ने इन भाषणों के प्रकाशन के लिये आवेदन प्रस्तुत किया था। इस रूप में ये भाषण किस प्रकार आये उन परिस्थितियों का, कुछ का वर्णन आवश्यक है। ट्रस्ट के संस्थापक श्री राबर्ट हिबर्ट ने, जिनकी मृत्यु १८४९ में हो गयी थी, कुछ धन इस आदेश के साथ दान किया था कि यह धन उनके बताये हुये तरीके से खर्च किया जाय, किन्तु ट्रस्टियों को पूरा अधिकार था कि वे आवश्यकता का उचित अर्थ लगावें। इसका पूरा विवरण श्री हिबर्ट के संस्मरण में है जो १८७४ में छपा था।

कई वर्ष तक ट्रस्टी वर्ग इस धन को ईसाई धर्म के छात्रों की उच्च संस्कृति के लिये ही खर्च करता रहा और इस प्रकार इस आदेश का पूरा करता रहा कि ईसाई धर्म के विस्तार के लिये जो सरल और बुद्धि गम्य हो और धर्म के मामले में बिना किसी बंधन के आत्म निर्णय का अवसर मिले, ट्रस्टी वर्ग समय समय पर ऐसी योजनाएं चलाने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं। आगे चलकर ट्रस्टी वर्ग को धन के उपयोग के अन्य सुझाव भी दिये गये जिनमें से कुछ पर कार्य भी हुआ। इनमें से सबसे ताजा उपयोग है 'हिबर्ट लेक्चर' की योजना की स्थापना जो बम्पटन और बायलेक्चर लेक्चर के समान है। यह योजना जो एक पत्र द्वारा भेजी गयी इस वर्णन के साथ संलग्न है। इसे कुछ प्रसिद्ध धर्म रक्षकों ने और साधारण लोगों ने प्रस्तुत किया था जो विभिन्न चर्चों के थे उनकी इच्छा एवं यही थी कि ईश्वर और धर्म सम्बन्धी अनिर्णीत समस्याओं का अच्छी तरह से निष्पक्ष रूप से विवेचन किया जाय।

ट्रस्टी वर्ग ने खूब विचार करने के बाद यह निर्णय किया कि यदि वे उपयुक्त लेक्चररों की सहायता ले सकें तो ट्रस्ट के मन्तव्य को पूरा करेंगे। इस काम में संसार के अनेक ऐतिहासिक धर्मों का विवेचन प्रमुख होगा। सौभाग्य से उनको प्रोफेसर मैक्स मूलर की स्वीकृति मिल गयी। उन्होंने लेक्चरों का सिलसिला प्रारम्भ करना स्वीकार किया और भारत वर्ष के धर्मों के विवेचन का विषय चुना। वेस्ट मिन्स्टर के डान की कृपा से उनको अव (चर्च) के प्रयागार के उपयोग की अनुमति बोर्ड आफ वर्क्स ने दे दी। लेक्चरों की घोषणा के साथ ही सबसे बड़ी कठिनाई टिकटों के लिये असंख्य प्रार्थना पत्रों की थी। प्रोफेसर मैक्समूलर ने स्वीकृति दे दी कि प्रत्येक लेक्चर दो बार दिया जायगा। इससे समस्या सुलझी।

प्रथम क्रम की सफलता से ट्रस्टी वर्ग का उत्साह बढ़ा और दूसरा क्रम प्रारम्भ किया गया। इस श्री पज रिनाफ करेंगे। वे हर मैजेस्टी के स्कूलों के इन्सपेक्टर हैं। उनका विषय है मिश्र के धर्म। इसके लिये अगले वर्ष व्हिटसन टाइड और ईस्टर के बीच का समय रक्खा गया है।

जे० एम०

के भली भाँति निश्चित विचारों की ओर गया है। हमारा विश्वास है कि इसी प्रकार की संस्था महान सेवा कर सकती है जिससे निष्पक्ष और स्वतन्त्र निर्णय करने में सहायता मिले। निर्णय करने में धार्मिक श्रद्धा का पर्याप्त अंश हो। समय-समय पर समकालीन धर्म शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन और बाइबिल सम्बन्धी समालोचना और दर्शन के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिणाम प्रकट किये जाय।

इसलिये हम आप से निवेदन करने का साहस करते हैं कि हिबर्ट लेक्चर या अन्य किसी उपयुक्त नाम से लेक्चर की स्थापना आप करें। कम से कम ६ लेक्चर तो लन्दन या ग्रेट ब्रिटेन के प्रमुख नगरों में प्रति वर्ष या तीन वर्ष में क्रमशः दिये जायें।

उन भाषणों, (लेक्चर) को बिना किसी बन्धन के अनुशीलन के रूप में प्रकाशित किया जाय जो शिक्षित वर्ग के सामने एक अच्छे रूप में प्रस्तुत हो।

हस्ताक्षर

जेम्स मार्टिनो	राबर्ट वालस
आर्थर पी० स्टैनली	लुई कैम्पबेल
जान एच० टाम	जान पर
चार्ल्स विकस्टीड	विलियम गैस्केल
विलियम बी० कारपेंटर	चार्ल्स बियर्ड
एफ० मैक्समूलर	टी० के० चेन
जार्ज डब्ल्यू० काक्स	ए० एच० सास
जे० म्योर	रसेल मैट्रियू
जान टुलोक	जेम्स ड्रमण्ड

भूमिका

हिबर्ट ट्रस्टी वर्ग ने इन भाषणों के प्रकाशन के लिये आवेदन प्रस्तुत किया था। इस रूप में ये भाषण किस प्रकार आये उन परिस्थितियों का, कुछ भी वर्णन आवश्यक है। ट्रस्ट के संस्थापक श्री राबर्ट हिबर्ट ने, जिनकी मृत्यु १८४९ में हो गयी थी, कुछ धन इस आदेश के साथ दान किया था कि यह धन उनके बताये हुये तरीके से खर्च किया जाय, किन्तु ट्रस्टियों को पूरा अधिकार था कि वे आदेशों का उचित अर्थ लगावें। इसका पूरा विवरण श्री हिबर्ट के संस्मरण में है जो १८७४ में छपा था।

कई वर्ष तक ट्रस्टी वर्ग इस धन को ईसाई धर्म के छात्रों की उच्च संस्कृति के लिये ही खर्च करता रहा और इस प्रकार इस आदेश को पूरा करता रहा कि ईसाई धर्म के विस्तार के लिये, जो सरल और बुद्धि गम्य हो और धर्म के मामले में बिना किसी बन्धन के आत्म निर्णय का अवसर मिले, ट्रस्टी वर्ग समय समय पर ऐसी योजनाएं चलाने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं। आगे चलकर ट्रस्टी वर्ग को धन के उपयोग के अन्य सुझाव भी दिये गये जिनमें से कुछ पर कार्य भी हुआ। इनमें से सबसे ताजा उपयोग है 'हिबर्ट' लेक्चर' की योजना की स्थापना जो बम्पटन और बायलेशन लेक्चर के समान है। यह योजना जो एक पत्र द्वारा भेजी गयी इस वर्णन के साथ संलग्न है। इस कुछ प्रसिद्ध धर्म रक्षकों ने और साधारण लोगों ने प्रस्तुत किया था जो विभिन्न चर्चों के थे उनकी इच्छा एक यही थी कि ईश्वर और धर्म सम्बन्धी अनिर्णीत समस्याओं का अच्छी तरह से निष्पक्ष रूप से विवेचन किया जाय।

ट्रस्टी वर्ग ने खूब विचार करने के बाद यह निर्णय किया कि यदि वे उपयुक्त लेक्चरों की सहायता ले सकें तो ट्रस्ट के मन्तव्य को पूरा करेंगे। इस काम में संसार के अनेक ऐतिहासिक धर्मों का विवेचन प्रमुख होगा। सौभाग्य से उनको प्रोफेसर मैक्स मूलर की स्वीकृति मिल गयी। उन्होंने लेक्चरों का सिलसिला प्रारम्भ करना स्वीकार किया और भारत वर्ष के धर्मों के विवेचन का विषय चुना। वेस्ट मिन्स्टर के डीन की कृपा से उनको एब (चच) के प्रयागार के उपयोग की अनुमति बोर्ड आफ वर्क्स ने दे दी। लेक्चरों की घोषणा के साथ ही सबसे बड़ी कठिनाई टिकटों के लिये असंख्य प्रार्थना पत्रों की थी। प्रोफेसर मैक्समूलर ने स्वीकृति दे दी कि प्रत्येक लेक्चर दो बार दिया जायगा। इससे समस्या सुलझी।

प्रथम क्रम की समाप्ति में दूसरा [illegible] का अन्तर पड़ा और दूसरा क्रम प्रारम्भ किया गया। ये श्री [illegible], [illegible] के स्कूल के [illegible] हैं। उनका विषय है मिस्र के धर्म। [illegible] और ईस्टर के बीच का समय रक्खा गया है।

जे० एम० [illegible]तम

विपय-सूची

— ० —

पहला भापण

अनन्त की धारणा

दूसरा भापण

क्या मूर्ति पूजा धर्म का आदिम रूप है ?

तीसरा भाषण

भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य

चौथा भाषण

साकार की पूजा

पाँचवाँ भाषण

अनन्त के विचार और नियम

छठवाँ भाषण

देववाद, अनेकदेववाद, एकदेववाद और नास्तिकवाद

सातवाँ भाषण

दर्शन और धर्म

धर्म की उत्पत्ति और विकास

पहला भाषण

अनन्त की धारणा

धर्म के उत्पत्ति की समस्या

क्या कारण है कि हमारा एक धर्म है। यह प्रश्न ऐसा है जो पिछले दिनों में ही पहली बार नहीं पूछा गया है फिर भी यह प्रश्न है जो उन कानों को भी चकित कर देता है जो अनेक संग्रामों के तुमुल नाद से कठोर से हो गये हैं और वे संग्राम भी ऐसे जो सत्य की विजय के लिये लडे गये थे। हमारा अस्तित्व ही किस प्रकार हुआ, हम अनुभूति कैसे करते हैं, हम सिद्धान्त कैसे बनाते हैं, हम अनुभूति और सिद्धान्त की तुलना कैसे करते हैं, उनको कैसे घटाते बढ़ाते हैं और कैसे गुणित और विभाजित करते हैं। ये सब समस्याएं ऐसी हैं जिनमें न्यूनाधिक सभी परिचित है और प्रत्येक में प्लेटो, अरिस्टाटल, ह्यूम या कैन्ट के ग्रन्थों के अपने लालन के साथ ही ये प्रश्न सोचे गये होंगे। इन्द्रिय ज्ञान, अनुभूति, कल्पना और विवेक सब कुछ जो हमारी चेतना में विद्यमान हैं सबको अपने अस्तित्व के कारण और अधिकार की रक्षा आवश्यक है। फिर भी यह प्रश्न है कि हम विश्वास क्या करते हैं। हमारा अस्तित्व ही क्यों है या हम क्या कल्पना करते हैं कि हमें उनका ज्ञान है जिनकी अनुभूति हम न तो इन्द्रियों से कर सकते हैं और न विवेक से ही प्रतिपादन कर सकते हैं। यह प्रश्न बहुत ही सरल जान पड़ता है किन्तु इस प्रश्न पर बड़े बड़े दार्शनिकों ने भी प्रायः उतना ध्यान नहीं दिया है जितना देना चाहिये।

स्ट्रास : क्या अब भी हमारा कोई धर्म है ?

लौकिक विवाद के क्षेत्र में इस प्रश्न को जिस प्रकार रक्खा गया है उसे असन्तोष जनक ही कहेंगे। स्ट्रास कई प्रकार से एक सूक्ष्म विवेचक हैं, उन्होंने अपनी अंतिम पुस्तक 'पुराना और नया विश्वास' में यह प्रश्न पूछा है 'क्या हमारा अब भी कोई धर्म है ?' इस प्रकार के उद्गार का उत्तर यही हो सकता है कि ऋग्वेद, सहस्र शास्त्र देखिये, जरू देखिये। हमें पता लग जायगा कि लाखों में शायद ही कोई एक होगा जो कहेगा कि हमारा कोई भी धर्म नहीं है। यदि दूसरा उत्तर चाहिये तो प्रश्न का रूप दूसरा

ससार को हम जानते हैं। जब से हम मनुष्य की भावनाओं और विचारो का कुछ भी ज्ञान हुआ है तब से हम देखते है कि उन पर धर्म का प्रभाव है या वह धर्म से अभिभूत है। सबसे प्राचीन साहित्यिक पत्र सब जगह धार्मिक है। हूगर के अनुसार, धार्मिक परम्पराओं में ही इस ससार की सब विशिष्ट सस्कृतिया के बीज मिलते हैं वे साहित्यिक लेख हो या मौलिक सूत्र।

साहित्य युग के आगे जाने पर भी, यदि हम मनुष्य के गहन विचारो की खोज करें तो हमे पता लगेगा कि धार्मिक भावनायें विद्यमान थी, प्रारम्भिक खान म जिससे मनुष्य के मस्तिष्क के सिक्के चले, ये भावनायें निहित थीं।

आर्य भाषाओं के अलग होने के पहले, उनम प्रकाश के लिये अभिव्यक्ति थी। मूल, दिव, प्रकाश से देव विशेषण बनाया गया। इसका अर्थ प्रारम्भ मे प्रकाशमान था। यह बताना कठिन है कि कितने हजार वर्ष म, वेदो की पहली ऋचा या होमर की पहली पक्ति के बाद आर्य भाषायें अलग हुई।

कुछ समय के बाद देव शब्द व्यापक रूप से प्रभात और वसन्त के उज्वल रूप म प्रयुक्त किया गया। रात्रि और शीत के अन्धकार के विपरीत उषा का गान उचित ही था। किन्तु यही देव शब्द जब पुरानी साहित्यिक कृतियो मे मिलता है तो हम देखते हैं कि मूल शब्दार्थ से यह दूर है। वेद म बहुत कम ऋचायें इसके बाद मिलती है जिनम देव, दिव का अनुवाद निश्चित रूप से प्रकाशमान किया जा सकता है। वेद म प्रकाशमान प्रभात को देवी उषा कहा गया है। परन्तु इसम सन्देह है कि पुराने कवियो ने इन ऋचाओ मे प्रकाश के शब्दार्थ मे उसे प्रयुक्त किया। तब क्या हमे वेद म व्यवहृत देव को, लैटिन म देवस की भाति ईश्वर के नाम से अनूदित करना चाहिये। इस अनुवाद में ऐसा अर्थ लगाना कठिन है। फिर भी हम निश्चित रूप से जानते हैं कि देव का अर्थ ईश्वर लगाया जाने लगा। प्रारम्भ म इसका अर्थ प्रकाश था। इसम सन्देह नही है कि, भारतीय और इटली के पूर्व पुरुषो के अपने एक स्थान से अलग होने से पहले, देव का प्रकाश अर्थ तो था फिर भी देव शब्द के साथ प्रकाश अर्थ से ज्यादा सन्निहित था।

इस प्रकार हम देखते है कि हम चाहे अपने बौद्धिक विकास के नीचे से नीचे स्तर पर जाय, चाहे आधुनिक अनुमान की ऊँची से ऊँची उडान ल, सब जगह हम यह मिलता है कि धर्म एक शक्ति है। जिसने विजय प्राप्त की है इतना ही नहा धर्म ने उनपर भी विजय पायी है जो सोचते हैं कि उन्होंने धर्म पर विजय पायी है।

धर्म का विज्ञान

धर्म की इस शक्ति को प्राचीन यूनान के दूरदर्शी दार्शनिक भली भाँति जानते थे। उनके लिये विचारो का ससार उतना ही गभीर और स्पष्ट था जितना कि वायु, जो एथन के समुद्र, उसके किनारे और आकाश का दिग्दर्शन करवाती था। उन दारा-

होना चाहिये । स्कास को सबसे पहले हमे बता देना चाहिये था कि वह धम को क्या समझते हैं । उनको धर्म की परिभाषा बताना था, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनो विकासो के परिवेश मे । किन्तु इसके स्थान पर उन्होने क्या कहा है ? श्लमर की धर्म पुरानी परिभाषा उन्होने ले ली है ।

पूर्ण निर्भरता की भावना धर्म है । फारबाख की इस परिभाषा को उसम जोड दिया है कि सब धर्मों का सराश हैं लालच । प्रार्थना बलिदान और विश्वास के रूप मे यह भावना प्रकट होती है । उन्होने निष्कर्ष निकाला है कि इसलिये युग मे चूँकि प्राथना कम होती है, क्रास का उपयोग कम है और सामूहिक प्रार्थना कम है इसलिये धर्म और पवित्रता बहुत कम रह गयी है । मैंने यथा सभव स्कास के ही शब्दो का प्रयोग किया है । किन्तु स्कास ने या किसी न भी यह सिद्ध कहीं किया कि सच्चा धम प्रार्थना, क्रास और मास (सामूहिक प्रार्थना) मे है । और जो प्राथना नही करते, क्रास का उपयोग नही करते या मास मे नही जाते उनका कोई धर्म नही है, उनको ईश्वर म विश्वास भी नही है । आगे पन्ने पर स्वीकार करना पडता है कि रेना का यह कथन ठीक था । 'वचारे जमन अधार्मिक और नास्तिक बनने के लिये बहुत प्रयत्न करते हैं किन्तु सफल नही होते । स्कास का कथन है यह ससार बुद्धिवादी और नेक लोगो का कारखाना हैं। जिसके सम्मुख हम अपने को नितात निभर पाते हैं वह शक्ति पशुता की नही है । जिसके सामने हम मौन होकर घुटने टेक देना है । वह शक्ति नियम और व्यवस्था विवेक और नेकी की है जिसके आगे हम प्यार से विश्वास अर्पित करत हैं । अपने अतरतम मे हम जिस पर निभर हैं उसके प्रति आत्मीयता पाते हैं । इस निभरता मे भी हम मुक्त हैं । गर्व और नमता, आनन्द और त्याग समग्र जगत की भावना से ओत प्रोत हो जाता है ।

यदि यह धम नही है तो इसे क्या कहा जायगा । स्कास की सारी दलील यहाँ है । निर्माण की भावना के रूप मे वे धम को लेत हैं जिसकी पूरी व्याख्या श्लमर ने की है किन्तु वे फाख की लालच की व्याख्या नही मानते । इस वे असत्य और अधार्मिक कहते हैं । धम तत्व पर स्कास स्वय इतने अधकार मे हैं कि अपनी पुस्तक के दूसरे अध्याय के अत मे जब वे अपने स ही पूछते हैं कि अब भी क्या उनका कोई धम है तब केवल यही उत्तर देते है 'हाँ या नही, जैसा तुम समझो । किन्तु इसी प्रश्न को पहले हल करना था धम से हम क्या समझत हैं । मेरा कहना है कि धम क्या है इसे समझने मे पहले हमे यह जान लेना चाहिये कि धम क्या रहा है और आज जिस अवस्था में है, वह कैस आया ।

धर्म की पुरातनता

धम कोई नया आविष्कार नही है । यह उतना ही पुरातन है, यदि उतना पुरा तन नही जितना कि ससार तो कम से कम उस ससार क बराबर पुरातन है जिन

ससार को हम जानत हैं। जब से हमे मनुष्य की भावनाओ और विचारो का कुछ भी ज्ञान हुआ है तब से हम देखते हैं कि उन पर धर्म का प्रभाव है या वह धर्म से अभिभूत है। सबसे प्राचीन साहित्यिक पत्र मत्र जगह धार्मिक हैं। हडर के अनुसार, धार्मिक परम्पराओ मे ही इस ससार की सब विशिष्ट सस्कृतियो के बीज मिलत हैं, वे साहित्यिक लेख हो या मौखिक सूत्र।

साहित्य युग के आगे जाने पर भी, यदि हम मनुष्य क गहन विचारो की खोज करें तो हमे पता लगेगा कि धार्मिक भावनाये विद्यमान थी, प्रारम्भिक खान म जिससे मनुष्य क मस्तिष्क के सिक्के चले, ये भावनाये निहित थी।

आय भाषाओ के अलग होने क पहले, उनम प्रकाश के लिये अभिव्यक्ति थी। मूल, दिव, प्रकाश स देव विशेषण बनाया गया। इसका अथ प्रारम्भ म प्रकाशमान था। यह बताना कठिन है कि कितने हजार वष मे, वेदो की पहली ऋचा या होमर की पहली पक्ति के बाद आर्य भाषायें अलग हुई।

कुछ समय के बाद देव शब्द व्यापक रूप स प्रभात और वसन्त क उज्वल रूप म प्रयुक्त किया गया। रात्रि और शीत के अधकार क विपरीत उषा का गान उचित ही था। किन्तु यही देव शब्द जब पुरानी साहित्यिक कृतियो म मिलता है तो हम देखत हैं कि मूल शब्दाथ से यह दूर है। वेदो म बहुत कम ऋचायें इसक बाद मिलती है जिनम देव, दिव का अनुवाद निश्चित रूप स प्रकाशमान किया जा सकता है। वद म प्रकाशमान प्रभात को देवी उषा कहा गया है। परन्तु इसम सन्देह है कि पुरान कवियो ने इन ऋचाओ मे प्रकाश के शब्दाथ म उसे प्रयुक्त किया। तब क्या हम वेद म व्यवहृत देव को, लैटिन मे देवस की भाँति ईश्वर के नाम से अनूदित करना चाहिये। इस अनुवाद मे ऐसा अथ लगाना कठिन है। फिर भी हम निश्चित रूप स जानत है कि देव का अथ ईश्वर लगाया जाने लगा। प्रारम्भ म इसका अथ प्रकाश था। इसम सन्देह नही है कि, भारतीय और इटली के पूर्व पुरुषो के अपन एक स्थान स अलग होन मे पहले, देव का प्रकाश अर्थ तो था फिर भी देव शब्द क साथ प्रकाश अर्थ स ज्यादा सन्निहित था।

इस प्रकार हम देखते ह कि हम चाह अपने बौद्धिक विकास क नीचे से नीचे स्तर पर जाय, चाहे आधुनिक अनुमान का ऊची से ऊची उडान ल, सब जगह हमे यह मिलता है कि धर्म एक शक्ति है। जिसने विजय प्राप्त की है इतना ही नही धर्म ने उनपर भी विजय पायी है जो सोचने हैं कि उन्होंने धर्म पर विजय पायी है।

धर्म का विज्ञान

धर्म की इस शक्ति को प्राचीन यूनान के दूरदर्शी दार्शनिक भली भाँति जानते थे। उनके लिये विचारो का ससार उतना ही गभीर और स्पष्ट था जितना कि वायु, जो एथन के समुद्र, उसके किनारे और आकाश का दिग्दर्शन करवाता थी। उन दार्श-

निको को धर्म के अस्तित्व पर उस पुरातन काल में भी आश्चर्य हुआ था। वैसा ही आश्चय जैसा कि किसी प्रकाश पिण्ड को देख कर होता था जिसको वे समझ नहीं पाते थे। यही पर धर्म के विज्ञान का प्रारंभ था। जैसा प्राय कहा जाता है धर्म का विज्ञान आज या कल का नहीं है। फ रवाख ने अपनी पुस्तक 'ईसाइयत का सारांश' में धर्म की उत्पत्ति पर जो सिद्धान्त दिया है वह हमको आधुनिक निराशा का अंतिम वक्तव्य जान पडता है। यूनान के दार्शनिकों ने दो हजार से अधिक वर्षों के पूर्व ही इस समझा था। फारबाख की राय में धर्म एक पुरातन बुराइ हैं जो मनुष्य मात्र में है। मनुष्य का बीमार हृदय ही सब धर्मों का मूल है सब दुखों का कारण है। हेराक्लिगेज की राय में, धर्म एक बीमारी है यद्यपि वह पवित्र बीमारी है। उनका समय इसा के पूर्व छठी शताब्दी है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें सत्यांश चाहे जितना हो फिर भी धर्म और धार्मिक विचारों की उत्पत्ति पर गंभीर मनन हुआ था जिसे हम दर्शन का इतिहास कहते हैं उसके प्रारम्भ के समय ही।

फिर भी हमे सन्देह है कि हेराक्लिगेज के कथन में सब धर्मों के प्रति उतनी ही उग्र भावना थी जितनी कि फारबाख के लेखों में। विश्वास करना श्रेयस्कर है यह प्राचीन यूनान का विचार नहीं है इस लिये सन्देह प्रकट करना उस समय तक अपराध नहीं था। सार्वजनिक संस्थाओं के काम में बाधा डालने की छूट नहीं थी यदि उस सन्देह से वह उत्पन्न हो। निस्सन्देह यूनान में एक पुरातनवादी दल था फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वह धर्मान्ध था। इतना ही नहीं, यह समझना बहुत ही कठिन है कि किस समय उसने सत्ता प्राप्त की और किस प्रकार उसमें एक शृंखलता आयी, हराक्लिटज उनकी निन्दा करता है जो गायकों के पीछे चलते हैं, जिनके गुरु साधारण जनसमूह है, जो मूर्तियों से प्रार्थना करते हैं मानो मकानों की दीवालों से वे बातें करते हों। उनको यह ज्ञान नहीं है कि वास्तव में भगवान क्या हैं, उनके वीर पुरुष कहाँ हैं। ऐपीकोरस भी यही कहता है। किन्तु ऐपीकोरस के विपरीत हेराक्लीटस कहीं भी इसमें इन्कार नहीं करता हैं कि अदृश्य देवताओं का यह एक दैवीशक्ति या अस्तित्व हैं उनको तब आश्चर्य हुआ जब उन्होंने देखा कि लोग जायस और हेरा, तथा हरमस और एफ्राडाइट के बारे में होमर और हसियाड एस गायकों की बातों पर विश्वास करते हैं। इसका समाधान उनको यही मिला कि यह बौद्धिक रोग है। इसकी चिकित्सा डाक्टर ही कर सकता है। किन्तु इस निर्मूल करने की आशा उनको नहीं थी।

इसलिये कुछ हद तक धर्म का विज्ञान बहुत कम आधुनिक आविष्कार है। उतना ही कम जितना कि धर्म।

जहाँ भी मानव जीवन है, धर्म है और जहाँ भी धर्म है वहाँ इस प्रश्न को और अधिक टाला नहीं जा सकता कि धर्म आया कहाँ से। जब बच्चे प्रश्न पूछने लगते हैं

तो वे प्रत्येक वस्तु के लिये क्यो और कहाँ से जानना चाहते हैं, धर्म के लिये भी। इतना ही नहीं, मेरा विश्वास है कि जिसे हम दर्शन कहते हैं उसकी प्रथम समस्यायें धर्म से ही निकलीं। प्राय यह प्रश्न किया जाता है कि टेल्स को दार्शनिक क्या माना जाय और दर्शन के इतिहास के प्रथम पन्ने पर उसका नाम ही क्यो रक्खा जाय। स्कूल के बच्चों का आश्चर्य करना स्वाभाविक है कि इसे दर्शन क्यों कहा जाता है कि सब वस्तुओ के आदि मे जल था। हमे यह बात चाहे बच्चो को सी लगे किन्तु टेल्स के समय में यह बचकानी नही थी और कुछ भी हो। यह पहली साहसपूर्ण अस्वीकृति थी कि संसार को देवताओ ने बनाया। जन समूह के धर्म के विरुद्ध यह पहला विरोध था। इस विरोध के सामने बारम्बार प्रकट होने पर, यूनानियो को मानना पडा कि हेराक्लीटोज और जेनोफेन्स को भी ईश्वर के सम्बध म कहने का उतना ही अधिकार है जितना कि होमर आदि गायको को।

इसमे सन्देह नही है कि उस समय यह बताना आवश्यक था कि जन समूह जिसमे विश्वास करता है, वह कल्पाए की उडान मात्र है। यह कपोल कल्पना पैदा कैसे हुई यह समस्या आगे आने वाले युग की था। फिर भी यह समस्या यूनान के सबमे पहले विचारको के मस्तिष्क म थी। हेराक्लीटोज को यह उत्तर कौन देता, जो प्रश्न हम आज पूछते है वह उसने स्वय से पूछा होता—धर्म की उत्पत्ति क्या है, कैसे हुई ? या आधुनिक भाषा मे, हम कैसे उस पर विश्वास करते हैं उसे मान लेते है जो हमे मित्र और शत्रु बताते हैं जिसे हम इन्द्रियो स प्राप्त नही कर सकते या विवेक और विवेचन से जिसकी स्थापना नही हो सकती।

प्राचीन और नवीन विश्वास म अन्तर

यह कहा जा सकता है कि जब हेराक्लीटोज ने विश्वास पर मनन किया तब उनका अर्थ इनसे भिन्न था जिसे हम मानते हैं। निश्चय ही यह हुआ क्योकि यदि कोई शब्द है जो प्रत्येक शताब्दी म परिवर्तित हुआ है और प्रत्येक देश म प्रयोग म जिनका भिन्न भिन्न अर्थ हुआ है, इतना ही नही जिसके विचित्र अथ लगाये गये हैं, जिनका पुरुष स्त्री और बच्चे प्रयोग करते हैं तो वह शब्द है धम। आधुनिक भाषा में हम धर्म को कम से कम तीन अर्थों मे प्रयुक्त करते हैं। पहला विश्वास की वस्तु दूसरा विश्वास की शक्ति, तीसरा विश्वास का रूप, पूजा के कार्यों में या पवित्रता के कार्यों म।

दूसरी भाषाओं म यह अनिश्चय व्याप्त है। धम शब्द को ग्रीक या संस्कृत म अनुवाद करना कठिन है। लेटिन म रिलीजो शब्द म वे अथ सन्निहित नही हैं जो अंग्रेजी के धर्म शब्द म। इसलिये हमे आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि बार-बार भ्रम उत्पन्न हुआ है परिणाम स्वरूप झगडे हुये हैं, धर्म के लेखक द्वन्द्व म पडे हैं। उन्होने

अपने को और दूसरो को यह स्पष्ट बता दिया होता कि क्या वे धर्म का अभिप्राय धार्मिक विश्वास, धार्मिक जड विचार या धार्मिक कार्य समझते हैं।

इस प्रश्न पर इन भाषणों के प्रारम्भ में ही स्पष्टता आवश्यक है। धर्म की परिभाषा देना परम आवश्यक है, इसके बाद हमारी खोज यात्रा होगी जो हमारे विश्वास के गुप्त स्रोतो का निकट से पता लगायगी।

धर्म की परिभाषाएँ

मेरे विचार से यह पुरानी अच्छी प्रणाली थी कि किसी भी वैज्ञानिक समस्या पर विवाद करने के पहले मुख्य शब्दों की परिभाषा देना आवश्यक है, जो शब्द प्रयुक्त *किये जायगे। तर्क शास्त्र या व्याकरण की पुस्तक के प्रारम्भ में यह रहता है तर्क शास्त्र* क्या है? व्याकरण क्या है? खनिज पदार्थों के विषय में कोई नही लिखेगा जब तक पहले खनिज पदार्थ की परिभाषा न कर दे। इसी प्रकार कला के सम्बन्ध में लिखने के पूर्व कला की परिभाषा यथा सम्भव दी जाती है।

इसमे शक नही है कि लेखक को ऐसी प्रारम्भिक परिभाषा देने में कठिनाई होती थी और पाठक को वह व्यर्थ जान पडती थी क्योंकि वह प्रारम्भ में उनका महत्व समझने मे असमर्थ रहता था। इस प्रकार परिभाषा देने की प्रणाली को कुछ समय के बाद लोग *व्यर्थ और अप्रचलित समझने लगे। कुछ लेखक इसमे गर्व करते थे कि उन्होंने* परिभाषा नही दी और यह चलन हो गया कि लोग शान से कहने लगे—तर्क शास्त्र या व्याकरण नियम या धर्म से क्या अभिप्राय है इसकी परिभाषा तो पुस्तकों मे दी है जो इन विषयो पर लिखी गयी है।

इसका परिणाम क्या हुआ? निस्सीम विवाद और झगडे खडे हुए। अधिकांश मे इनसे बचा जा सकता था यदि दोनो पक्ष के लोग परिभाषा कर देते कि कुछ शब्दो को वे इस अर्थ में लेते है या नही लेते हैं।

धर्म के सम्बन्ध में वास्तव मे परिभाषा देना बहुत ही कठिन है। हजारों वर्ष पहले यह शब्द व्यवहार में आया, शब्द तो रहा किन्तु उसका अर्थ शताब्दी तक बदलता गया और अब उसका प्रयोग ठीक उलटे अर्थ में होता है जो मूल मे उसका प्रयोजन था।

धर्म का शाब्दिक अर्थ

ऐसे शब्दो के लिये शब्दार्थ के मूल में जाना नितान्त व्यर्थ है। शाब्दिक अर्थ बहुत महत्वपूर्ण है मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनो कारणों से। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किस ठीक बिन्दु से कुछ विचारो का उदय हुआ। किन्तु किसी नदी के छोटे *उद्गम स्थान को जानने की अपेक्षा नदी के पूरे रूप के प्रवाह को समझना दूसरी बात* है। इसी प्रकार किसी शब्द की उत्पत्ति खोजना दूसरी बात है और वह शब्द आज जिस

रूप मे है उस रूप मे आने मे उसे कितने उत्थान, पतन परिवर्तन देखने पडे यह दूसरी बात है।

नदी की भाति ही शब्दो के लिये यह कहना बहुत कठिन है कि ठीक इस स्थान से उनका उद्‌गम हुआ। रोम निवासी स्वय रिलीजो शब्द के प्रारम्भिक अर्थ के सम्बन्ध में सदिग्ध थे। सिसरो ने, जिसे सब जानते हैं, इसे रिलगरे से लिया जिसका अर्थ है फिर एकत्र होना, फिर विचार करना, मनन करना यह नेकलिगरे से विरुद्ध है जिसका अर्थ है उपेक्षा करना। दूसरो ने इसे रिलिगरे से लिया जिसका अर्थ है सम्बद्ध करना, पीछे हटना। मेरी राय मे सिसरो का शब्दार्थ और व्युत्पत्ति ठीक है किन्तु यदि रिलीजो का प्रारम्भ म अथ था एकाग्रता, आदर और श्रद्धा तो यह बिलकुल स्पष्ट है कि बहुत दिनो तक यह सरल अर्थ नही चला।

धर्म का ऐतिहासिक पहलू

यह स्पष्ट हो गया कि जब हम ऐसे शब्दो का प्रयोग करते हैं जिनका अपना बडा इतिहास रहा है तब हम उनको न तो प्रारम्भिक शब्दार्थ म प्रयोग कर सकते हैं और न हम एक साथ ही उनको सब रूपों मे प्रयुक्त कर सकते हैं जो समय समय पर प्रकट हुये हैं। उदाहरण के लिये यह कहना बिलकुल बेकार है कि धम का यह अर्थ था, यह नही था, या उसका अथ था विश्वास या पूजा या नैतिकता था। आनन्द-दर्शन और उसका अर्थ भय या आशा या अनुमान नही था या देवताओ की श्रद्धा नही था। धम का यह सब अथ हो सकता है, शायद किसी न किसी समय धम शब्द इन सब अर्थों म प्रयुक्त होता था। किन्तु यह कहने का अधिकार किसको है कि धर्म का अर्थ इनमे से एक ही है और एक ही और एक ही रहेगा, एक केवल एक जगनी लोगो में शायद धर्म के लिये कोई नाम ही न हो फिर भी जब पपुआ अपने करवार के सामने बैठता है, माथे के ऊपर अपने हाथ जोडता है अपने से पूछता है कि वह जो करने जा रहा है वह ठीक है या नही, तब उसके लिये धर्म यही है। अनेक जगली जातियो मे जिनमें देव पुरुषो के ज्ञान का कोई आभास नही था, मिशनरी लोगो ने देखा है कि मृत पुरुषो की आत्माओ की पूजा की जाती है, यह धर्म के प्रारम्भ का पहला आभास है।

धर्म की अन्तिम लौ हमें वहाँ भी स्वीकार करनी चाहिये जहाँ आधुनिक दार्शनिक ईश्वर और देवताओ को तो निषेध घोषित करता है किन्तु किसी प्रेम की मधुर स्मृति मे नत मस्तक होता है और अपना सवस्व मानवता की सेवा में लगाता है।

जब पब्लिकन दूर रहकर, आकाश की ओर अपनी नजर भी नही उठाता किन्तु छाती पीट कर कहता है '*भगवान मुझ पापी पर दया करो*'। उसके लिये वह धर्म था। जब टेल्स ने घोषणा की कि देवता सब म व्याप्त हैं और जब बुद्ध ने कहा कि कोई भी देवता कही नही हैं तब दोनों अपने धार्मिक विश्वास प्रकट कर रहे थे। जब युवा ब्राह्मण

सुर्योदय के समय अपनी सरल वेदी म अग्नि जलाता है और प्रार्थना करता है कि ससार की प्राचीनतम ऋचायें, 'सूर्य हमारी बुद्धि कुशाग्र करे' और जब आगे चलकर वह प्राथना और बलिदान को व्यथ समझ कर छोड देता है और स्वय को अनन्त म लीन करता है तब, यह सब धर्म है। गिलर का कहना था कि उसका कोई धम नहा है क्या ? इन सब विचारा को समझने के लिये धर्म की परिभाषा जा व्यापक हो हम धम म कैसे मिल सकती है।

कैंट और फिटशे की धर्म की परिभाषा

धर्म की कुछ अर्वाचीन परिभाषाओ की समीक्षा लाभप्रद होगी इसस यह ज्ञान होगा कि एक का खडन दूसरे ने किया है, वह परिभाषा धर्म क्या है या क्या होना चाहिये इसके ठीक विपरीत होती है। कैंट के कथनानुसार धम सदाचार है। जब हम अपने नैतिक कतव्यो को दैवी आज्ञा मानते हैं तब धर्म है। इसे नही भूलना चाहिये कि कट की सम्मति म यह धर्म का इलहाम होगा। इसके विपरीत उनका कहना है कि हम म स्वय कत्तव्य के लिये चेतनता है इसलिये हम उनको दैवी आज्ञा मानते हैं। कैंट दशन के मानने वाले किसी बाहरी शक्ति को चाहे वह दैवी शक्ति हो नही मानते यह निराधार है या मनुष्य की दुबलता को मानना है।

एक सगठित धर्म या चच का विश्वास प्रारम्भ मे इन विधाना को नही त्याग सकता जो शुद्ध नैतिकता के आगे जाते हैं किन्तु उसम यह सिद्धान्त रहना चाहिये कि आगे चलकर उसका आदश होगा सुदर नैतिक चरित्र का धर्म और हम इस योग्य होंगे कि अत मे चच के विश्वास को समपण कर देंगे।

फिटशे जो कैण्ट के बाद हुये हैं ठीक इसके विपरीत सम्मति देते है। उनका कहना है कि धम कभी भी व्यावहारिक नही होता, धर्म का उद्देश्य कभी यह नही था कि वह हमारे जीवन को प्रभावित करे। इसके लिये शुद्ध नैतिकता पयाप्त है। एक भ्रष्ट समाज ही नैतिक कार्य के लिये धम की दुहाई देता है। ज्ञान ही धम है। यह मनुष्य को स्पष्ट आत्म विवेचन करवाता है महान प्रश्नो का उत्तर देता है, हममे पूरा सामजस्य लाता है और मानस को पवित्र बनाता है।

कैण्ट की यह सम्मति ठीक हो सकती है कि धम को नैतिकता कहना चाहिये। फिटशे का यह कहना भी ठीक है कि धम को ज्ञान कहना चाहिये। मेरा विरोध केवल इतना ही है कि इनम से एक ही परिभाषा ठीक होगी कि धम क्या है या धम शब्द से सब जगह क्या समझा जाता है।

धर्म, पूजा सहित और पूजा रहित

एक और दृष्टिकोण है जिसके अनुसार देव पुरुषो की पूजा ही धर्म है। अनेक लेखको ने इसे माना है कि किसी वाह्य तत्व प्रत्यक्ष उपासना के बिना धर्म का अस्तित्व ही

नहा हो सकता । एक धार्मिक सुधारक को ऐसा करने का पूरा अधिकार है किन्तु धर्म के इतिहास लेखक कहते हैं कि बिना बाह्य पूजा के भी धर्म का अस्तित्व रहा है और अब भी है ।

अन्थ्रापोलाजिकल सोसायटी के फरवरी १८७८ के गत अंक म श्री सी०एच० ई० माइकेल ने हमारा ध्यान मिशन के रोचक वर्णन की ओर आकर्षित किया है । इसकी स्थापना १८४५ म पर्थ के रोमन कैथलिक बिशप की ओर से स्वान नदी के उत्तर पश्चिमी आस्ट्रेलिया म न्यूनरसिया के समीप बेने डिक्टिन सन्तों ने की थी। इन सन्तों ने मूल-निवासियो की भावना और धारणाओं का पता लगाने म बहुत श्रम किया और बहुत दिनो तक उनको कोई भी चिह्न ऐसा नही मिला जिसे धर्म कहा जा सके । मिशन के तीन वर्ष के जीवन के बाद मानसियर सलवादा ने घोषणा की कि मूल निवासी किसी भी देव की वह सत्य हो या असत्य, पूजा नहीं करते । आगे चल कर वे बनाते हैं कि व एक सब शक्तिमान सत्ता को मानते हैं जिसने पृथ्वी और आकाश की सृष्टि की । उस वे मोटोगन कहते हैं । उनके विचार से वह बहुत लम्बा, शक्तिमान, और उनके देश का उनके रंग रूप का और बुद्धिमान मनुष्य है । अपनी श्वास से उसने सृष्टि की रचना की। पृथ्वी की उत्पत्ति के लिये उसने कहा, 'पृथ्वी हो जा,' उसने श्वास ली इस प्रकार पृथ्वी उत्पन्न हुई । इसी प्रकार सूर्य, वृक्ष और कंगारू उत्पन्न हुये । मोटोगन नेकी का सृष्टा है गियांगा उसका शत्रु है जो बुराई का सृष्टा है । गियागा आंधी और तूफान चलाता है, उनके बच्चो को अदृश्य होकर मृत्यु लाता है इसलिये मूल निवासी इससे बहुत भय खाते हैं। मोटोगन को मरे बहुत दिन बीत गये इस लिये वे उस नष्ट सत्ता की पूजा नही करते ।

गियागा को लोग कष्टो लाने वाला तो मानते हैं किन्तु किसी रूप मे उसकी पूजा नही करते ।

अब हम एक आदिम जाति से दूसरी पर ध्यान दे तो हम ठीक इसके विपरीत अवस्था मिलेगी । मिसौरी के हिदान्सा या ग्रासवेंनर इंडियन जाति का मैथ्यूज ने पृष्ठ ४८ म वर्णन किया है "यदि हम पूजा को व्यापक अर्थ म लें तो यह कहा जा सकता है कि पुरातन अमर पुरुष या महान आत्मा या महान गूढ के रूप मे पूजते हैं और प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को पूजते है । केवल मनुष्य ही नही, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, छोटी जाति के पशु भी, वृक्ष, पौधे, नदियां , झीलें, चट्टाने, लट्ठे, पर्वत और कुछ शिलाखंड संक्षेप प्रत्येक वस्तु जिसका निर्माण मनुष्य के हाथो से नहा हुआ, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है या जिसे एक की सज्ञा दी जा सक्ती है, सब में आत्मा है या छाया है । प्रत्येक छाया को सम्मान दिया जाता है किन्तु सबको समान रूप से नहीं । सूर्य का सम्मान बहुत अधिक और अनेक बहुमूल्य बलिदान उसके लिये किये जाते हैं ।

यहाँ हम बहुत ही पिछड़ी आदिम धर्म में यह देखते हैं कि कुछ लोग प्रत्येक की पूजा करते हैं जब कि दूसरे लोग किसी की पूजा नही करते। यह कौन कह सकता है कि दोनो मे कौन वास्तव मे अधिक धार्मिक है।

अब हमें धर्म की उस भावना का विवेचन करना चाहिये जो यूरोप की अत्यन्त सस्कृत जातियो मे व्याप्त है। वहाँ भी विपरीतता है। कैन्ट का कहना है कि ऐसे कार्यों से देवता को प्रसन्न करना जिनका कोई नैतिक मूल नहो है केवल वाह्य पूजा, धर्म नहीं है। केवल अन्ध विश्वास है। दूसरी ओर, विशिष्ट विद्वानो के उद्धरण की आवश्यकता नही, यह कहा जाता है कि हृदय का मौन धर्म, या साधारण जीवन मे क्रियात्मक धर्म वाह्य पूजा, पुरोहित और कर्म काण्ड के बिना कुछ नही है।

धर्म की और परिभाषाओ की भी हम समीक्षा कर सकते हैं। हमे ज्ञात होगा कि उनमे यही है कि धर्म क्या होना चाहिये। इस विषय मे कुछ लोगो के विचार हैं। किन्तु वे परिभाषाए इतनी व्यापक नही है कि विश्व इतिहास के विभिन्न काल मे धर्म के सम्बन्ध में सब विचार उनमे आ जायें। ऐसी स्थिति मे दूसरी धारणा यह है कि इन परिभाषाओ मे जो नही आता उसे धर्म नही मानना चाहिये। उसे अन्धविश्वास कहना चाहिये, मूर्ति पूजा नैतिकता या दर्शन या इसी प्रकार के हेय नामो से पुकारना चाहिये। दूसरे लोग जिसे धर्म कहते है उसे अधिकाश मे कैथल भ्रम कहते हैं। फिटशे कैथल के धर्म को केवल नियम कहते हैं। बहुत से लोग चीन के मन्दिरो मे या रोमन कैथलिक गिरजाघरो मे होने वाली उत्तम पूजा को केवल अन्धविश्वास कहते है। दूसरे लोग कैथल के अनकचरे विश्वास मे और मौन आस्ट्रेलिया वासियो के विश्वास मे एक रूपता पाते हैं जो नास्तिकवाद से बहुत दूर नही है।

श्लेमर की निर्भरता की और हीगेल की स्वतन्त्रता की परिभाषा लोकप्रिय और स्मरणीय बना लिया है। उनके कथनानुसार धर्म हमारी वह चेतना है जो हमे किसी पर नितान्त निर्भर रखती है जो हमारा निर्णय करती है किन्तु हम उसका निर्णय नही कर सकते। यही पर दूसरा दार्शनिक वर्ग कहता है कि निर्भरता की भावना तो धर्म के नितान्त प्रतिकूल है। हीगेल की एक प्रसिद्ध उक्ति है जिसे बुद्धिमत्ता पूर्ण नही कह सकते, यदि निर्भरता की भावना मे धर्म है तो कुत्ता सबसे अधिक धार्मिक है। इसके विपरीत हीगल का कहना है कि धर्म का अर्थ है या होना चाहिये पूर्ण स्वतन्त्रता क्योंकि यह इससे न कम है न ज्यादा, कि दैवी शक्ति, सात शक्ति द्वारा स्वय अपनी चेतना प्राप्त कर लेना है।

कामटे और फारबाक

इसके आगे एक ही कदम और आवश्यक था जिसे जरमनी मे फारबाक ने उठाया। फ्रांस मे कामटे ने यही कहा कि मनुष्य स्वय धर्म का और धार्मिक पूजा का

उद्देश्य है, वह केवल कर्त्ता ही नही है । धम का कम भी मनुष्य है । यह कहा गया है कि मनुष्य मनुष्य से बडी बात नही जान सकता इसलिये मनुष्य ही वास्तव मे धार्मिक नान और पुजा का विषय है । मनुष्य एक व्यक्ति के रूप में नही वरन् मनुष्य जाति के रूप मे । मनुष्य की विकास भावना या मानवता की प्रतिमा की पुष्टि होनी चाहिए तब मानवता पूजनीय है और स्वय पुरोहित भी ।

कामटे और उनके शिष्यों ने मानवता क धम का जो प्रचार किया उससे अधिक गम्भीर और सुदर स्पष्ट व्याख्या नही हो सकती । फारबाक ने कामटे के शेष रहस्य को कम कर दिया । उनका कहना था कि अपने आप से प्रेम, आवश्यक अविच्छिन्न और सार्वभौम सिद्धान्त है उसे प्रत्येक प्रकार के प्रेम से अलग नही कर सकते । इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ में धम इसकी पुष्टि करता है और करना चाहिये । जब मनुष्य इस मानवीय अहवृत्ति को, जिस अथ म वरान किया गया है, दबाता है, धम मे, दशन म या राजनीति म तब वह मूखता या पागलपन के गत मे गिरता है क्योंकि वह भावना जो सब मानवीय भावनाओ की इच्छाआ का और कार्यों का मूलाधार है, वह है मनुष्य के व्यक्तित्व की तृप्ति मनुष्य के अहभाव की तृप्ति ।

धर्म की परिभाषा करने मे कठिनाई

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक धम की परिभाषा, प्रारम्भ होते ही, दूसरी परिभाषा सामने आती है जो पहली का एकदम निषेध करती है । ऐसा जान पडता है कि स सार में जितने धम हैं उतनी ही उनकी परिभाषाएँ हैं । धम की इन परिभाषाओ मे उतना ही विरोध है जितना कि विभिन्न धर्मों के मानने वालों मे । तब किया क्या जाय ? क्या धम की परिभाषा देना असम्भव है जो उन सब पर लागू हो सके जिनको कभी धम माना गया है । या इसी प्रकार के किसी नाम से पुकारा गया है । मेरे विचार में बात यही है । आपने स्वय देखा होगा कि इसका कारण क्या है ?

धम एक ऐसी चीज है जो ऐतिहासिक विकास से गुजरी है और अब भी गुजर रही है । हम केवल यही कर सकते हैं कि उसके श्रोत का पता लगावें और फिर ऐतिहासिक विकास का क्रम देखें ।

धर्म की स्पष्ट विशिष्टता

किन्तु यद्यपि पर्याप्त परिभाषा या सम्पूर्ण वरान देना असम्भव हैं—जिसे कभी धम कहा गया है उसका विशद वर्णन कठिन है, फिर भी यह सम्भव है कि धार्मिक चेतना के स्वरूपो की स्पष्ट विशिष्टता हम दे सकें जिसे किसी भी समय धम के नाम स पुकारा गया है वह चेतना जो दूसरी वस्तुओं से भिन्न है । जो हमारी चेतना को धार्मिक वस्तुओ पर लागू करने से विशिष्टता दे सके । इन्द्रियो और विवेक द्वारा प्राप्त दूसरे विषयो के सम्बन्ध मे जा चेतना है वह इससे भिन्न है ।

यहाँ हम बहुत ही पिछड़ी आदिम वर्ग मे यह देखते हैं कि कुछ लोग प्रत्येक की पूजा करते हैं जब कि दूसरे लोग किसी की पूजा नही करते। यह कौन कह सकता है कि दोनो मे कौन वास्तव म अधिक धार्मिक है।

अब हमे धर्म की उस भावना का विवेचन करना चाहिये जो यूरोप की अत्यन्त सस्कृत जातियो मे व्याप्त है। वहाँ भी विपरीतता है। कैन्ट का कहना है कि ऐसे कार्यों से देवता को प्रसन्न करना जिनका कोई नतिक मूल नही है केवल वाह्य पूजा, धर्म नही है। केवल अ ध विश्वास है। दूसरी ओर विशिष्ट विद्वानो के उद्धरण की आवश्यकता नही, यह कहा जाता है कि हृदय का मौन धर्म, या साधारण जोवन मे क्रियात्मक धर्म वाह्य पूजा पुरोहित और कर्म काण्ड के बिना कुछ नही है।

धर्म की और परिभाषाओ की भी हम समीक्षा कर सकते हैं। हमे ज्ञात होगा कि उनमे यही है कि धर्म क्या होना चाहिये। इस विषय में कुछ लोगो के विचार है। किन्तु वे परिभाषाए इतनी व्यापक नही है कि विश्व इतिहास के विभिन्न काल म धम क सम्बध मे सब विचार उनम आ जाय। ऐसी स्थिति मे दूसरी धारणा यह है कि इन परिभाषाओ मे जो नही आता उसे धर्म नही मानना चाहिये। उसे अधविश्वास कहना चाहिये, मूर्ति पूजा नैतिकता या दशन या इसी प्रकार के हेय नामो से पुकारना चाहिये। दूसर लोग जिसे धर्म कहते हैं उस अधिकाश म कैएट भ्रम कहते हैं। फ्रिटिश कैएट के धम को केवल नियम कहते हैं। बहुत से लाग चीन के मदिरो म या रोमन कैथलिक गिरजाघरों मे होने वाली उत्तम पूजा को केवल अधविश्वास कहते है। दसरे लोग कैएट के अप्रकट विश्वास मे और मौन आस्ट्रेलिया वासियो के विश्वास मे एक रूपता पाते हैं जो नास्तिकवाद से बहुत दूर नही है।

श्लेमर की निभरता को ओर हीगेल को स्वतन्त्रता की परिभाषा लोकप्रिय और स्मरणीय बना दिया है। उनके कथनानुसार धम हमारी वह चेतना है जो हम किसी पर नितान्त निभर रखती है जो हमारा निर्णय करती है किन्तु हम उसका निर्णय नही कर सकते। यही पर दूसरा दार्शनिक वग कहता है कि निभरता को भावना तो धम क नितान्त प्रतिकूल है। हीगेल की एक प्रसिद्ध उक्ति है जिसे बुद्धिमत्ता पूर्ण नही कह सकते, यदि निभरता की भावना मे धम है तो कुत्ता सबसे अधिक धार्मिक है। इसके विपरीत हीगल का कहना है कि धम का अर्थ है या होना चाहिये पूर्ण स्वतन्त्रता क्योंकि यह इससे न कम है न ज्यादा, कि दवी शक्ति सात शक्ति द्वारा स्वय अपनी चेतना प्राप्त कर लना है।

कामटे और फारबाक

इसके आगे एक ही कदम और आवश्यक था जिसे जरमनी मे फ़ारबाक ने उठाया। फ्रांस मे कामटे ने यही कहा कि मनुष्य स्वय धम का और धार्मिक पूजा का

उद्देश्य है, वह केवल कर्त्ता ही नही है । धर्म का कर्म भी मनुष्य है । यह कहा गया है कि मनुष्य मनुष्य से बडी बात नही जान सकता इसलिये मनुष्य ही वास्तव मे धार्मिक ध्यान और पुजा का विषय है । मनुष्य एक व्यक्ति के रूप मे नही वरन् मनुष्य जाति के रूप मे । मनुष्य की विकास भावना या मानवता की प्रतिमा की पुष्टि होनी चाहिए तब मानवता पूजनीय है और स्वय पुरोहित भी ।

कामटे और उनके शिष्यों ने मानवता क धम का जो प्रचार किया उससे अधिक गम्भीर और सुदर स्पष्ट व्याख्या नही हो सकती । फारबाक ने कामटे के शेष रहस्य को कम कर दिया । उनका कहना था कि अपने आप से प्रेम, आवश्यक अविच्छिन्न और सार्वभौम सिद्धान्त है उसे प्रत्येक प्रकार के प्रेम स अलग नही कर सकते । इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ मे धम इसकी पुष्टि करता है और करना चाहिये । जब मनुष्य इस मानवीय अहवृत्ति का, जिस अथ मे वणन किया गया है, दबाता है, धम मे, दशन मे या राजनीति मे तब वह मूखता या पागलपन के गत मे गिरता है क्योकि वह भावना जो सब मानवीय भावनाओ की इच्छाओं का और कार्यों का मूलाधार है, वह है मनुष्य के व्यक्तित्व की तृप्ति मनुष्य क अहभाव की तृप्ति ।

धर्म की परिभाषा करने मे कठिनाई

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक धम की परिभाषा, प्रारम्भ होते ही, दूसरी परिभाषा सामने आती है जो पहली का एकदम निषेध करती है । ऐसा जान पडता है कि स सार मे जितने धम हैं उतनी ही उनकी परिभाषाएँ हैं । धम की इन परिभाषाओ म उतना ही विरोध है जितना कि विभिन्न धर्मों के मानने वालों म । तब किया क्या जाय ? क्या धम की परिभाषा देना असम्भव है जो उन सब पर लागू हो सके जिनको कभी धम माना गया है । या इसी प्रकार के किसी नाम से पुकारा गया है । मेरे विचार मे बात यही है । आपने स्वय देखा होगा कि इसका कारण क्या है ?

धम एक ऐसी चीज है जो ऐतिहासिक विकास से गुजरी है और अब भी गुजर रही है । हम केवल यही कर सकते हैं कि उसके स्रोत का पता लगावें और फिर ऐतिहासिक विकास का क्रम देखे ।

धर्म की स्पष्ट विशिष्टता

किन्तु यद्यपि पर्याप्त परिभाषा या सम्पूर्ण वणन देना असम्भव है—जिसे कभी धम कहा गया है उसका विशद वर्णन कठिन है, फिर भी यह सम्भव है कि धार्मिक चेतना के स्वरूपा की स्पष्ट विशिष्टता हम दे सकें जिसे किसी भी समय धम के नाम स पुकारा गया है वह चेतना जो दूसरी वस्तुओ से भिन्न है । जो हमारी चेतना को धार्मिक वस्तुओ पर लागू करने से विशिष्टता दे सके । इन्द्रियों और विवेक द्वारा प्राप्त दूसरे विषयो के सम्बन्ध मे जो चेतना है वह इससे भिन्न है ।

फिर भी यह धारणा नही बन। लेनी है कि धम की चेतना काई अलग वस्तु है। एक आत्मा है और एक ही चेतना है यद्यपि वह चेतना बदलती रहती है। जैसे पदार्थों के सम्बध मे होती है उसके अनुसार। हम अनुभूति और विवेक म भेद करते हैं यद्यपि ये दोनो एक ही चेतन आत्मा के उच्च चिंतन के बाद, दो कम हैं यह स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार विश्वास को हम धार्मिक प्रवृत्ति मानते है जो प्रत्येक मनुष्य म है किन्तु उसका अभिप्राय है हमारी साधारण चेतना जो धार्मिक विषयो का ग्रहण करने म विकसित और संशोधित है। यह नई भावना नही है जो दूसरो के साथ चलती है या नया विवेक भी नही है जो हमारे साधारण विवेक के साथ है आत्मा के भीतर ही नई आत्मा भी नही है। यह वास्तव म पुरानी चेतना है जो नये पदार्थों पर लागू की गई है और उसम उनकी प्रतिक्रिया भी व्याप्त है। धम का व्याख्या करने म विश्वास को अलग धार्मिक प्रवृत्ति मानना, या आस्तिकता की भावना कहना उसी प्रकार है जैसे जीवन की व्याख्या करने मे एक जीवनी शक्ति को स्वीकार करना। यह शब्दो का इन्द्रजाल होगा या सत्य से खिलवाड। ऐसी व्याख्याओ से पहले काम चल सकते थे किन्तु अब बात बहुत आगे बढ गई है और ऐसी सूरत म समझौता करना कठिन है।

धर्म, अनन्त के लिए एक मानसिक शक्ति

सन् १८७३ मे मैंने रायल इन्स्टीच्यूशन मे धम के विज्ञान पर प्रारम्भिक भाषण दिये थे। उनमे मैंने धम के मानसिक पक्ष की परिभाषा देने का प्रयत्न किया था या जिसे साधारणतया विश्वास कहते है उस की व्याख्या इन शब्दो मे की थी कि धम एक मानसिक शक्ति है जो इन्द्रियो और विवेक से स्वतत्र है इतना ही नहा इनके बिना भी उसका अस्तित्व है। इससे हम को अनेक रूपो म और अनेक नामो से अनन्त का ज्ञान प्राप्त करना सुलभ होता है। इस शक्ति के बिना कोई भी धम मूर्तियो की निम्नतर उपासना भी सम्भव नही है। यदि हम ध्यान से सुने तो हम प्रत्येक धम मे प्राणो की पुकार अगम्य की प्राप्ति के लिये प्रयास, अनिर्वचनीय को वर्णन करने की भावना अनन्त की अभिलाषा और ईश्वर का प्रेम मिलेगा।

मैंने इन शब्दो का उद्धरण इसलिये नहा दिया है कि मैं अब भी इस जैसा का वैसा पूरा पूरा मानता हूँ। मैं जो कुछ पहले लिख चुका उस जैसा ही प्राय अभी भी मानता हूँ। धम की इस परिभाषा के विरोध मे जो कुछ कहा गया है उसके तर्क बल को भी मैं स्वीकार करता हूँ। फिर भी मेरा विचार है कि इस परिभाषा का मूलतत्व ठीक है मैं इस धम की पूरी परिभाषा नही कह सकता फिर भी मेरा विश्वास है कि इसके एक ओर धार्मिक चेतना और दूसरी ओर इन्द्रिय जनित एव बौद्धिक चेतना का भेद करने मे आसानी होगी।

मेरी धर्म की परिभाषा में सबसे मुख्य आपत्ति यही की गयी है कि मैंने उसे मानसिक शक्ति कहा है। कुछ दार्शनिकों को शक्ति शब्द पर आपत्ति है, इस पर वे क्रोध करते हैं कुछ अंशों में उनकी आपत्ति ठीक है। यह मान लिया गया है कि शक्ति का सूचक कोई ठोस पदार्थ होना चाहिये। एक श्रोत, मशीन को चला देने वाला वेग, एक बीज जिसे छुआ जा सके, उपयोग में लाया जा सके और जो समुचित जमीन में बात ही अंकुर देने लगे। शक्ति का यह अर्थ कैसे हो सकता है, यह मैं नहीं समझ पाया। यद्यपि मैं मानता हूँ कि इस अर्थ में उसका उपयोग किया गया है। शक्ति, एक कार्य के तरीके की सूचक है उसका अर्थ कोई ठोस पदार्थ कदापि नहीं है। तत्वों में शक्तियां निहित हैं जिस प्रकार बल या वेग। हम प्रायः चेतन की शक्ति की बात करते हैं और अचेतन पदार्थों के बल की बात भी करते हैं। हम यह जानते हैं कि पदार्थ के बिना कोई शक्ति नहीं है और शक्ति के बिना कोई पदार्थ नहीं है। उदाहरण के लिये गुरुत्वाकर्षण को स्वयं एक शक्ति कहना केवल पुराणपंथी बात है। यदि गुरुत्वाकर्षण का नियम रोम में खोज निकाला गया होता तो वहाँ गुरुत्वाकर्षण की देवी का मंदिर होता। अब हम मन्दिर नहीं बनाते किन्तु जिस प्रकार प्रकृति के खोजी दार्शनिक गुरुत्वाकर्षण की बातें करते हैं उसे पुराण पन्थ से कम क्या कहा जाय। मैं स्वीकार करता हूँ कि यही भय उत्पन्न होता है जब कुछ दार्शनिक हमारी शक्तियों की बात कहते हैं। हम यह मानते हैं कि एक विवेक की शक्ति की वेदी, कुछ समय पहले बन चुकी है। इस लिये यदि शक्ति शब्द आपत्ति जनक और सन्दिग्ध है या वह लोकप्रिय नहीं है तो हमें उसे छोड़ देना चाहिये। मैं कोई दूसरा शब्द, बदले सकता हूँ। तब भी धर्म की परिभाषा यही होगी कि अनन्त के ज्ञान के लिये सक्षम क्रिया, बल या शक्ति।

यदि अंग्रेजी भाषा में यह ग्राह्य हो तो मैं शक्ति के बदले नया शब्द 'अभी नहीं' दे सकता हूँ और कह सकता हूँ धर्म और भाषा के सम्बन्ध में 'अभी नहीं', शक्ति और बल आदि शब्दों के स्थान पर।

प्रोफेसर फ्लेइडरर ने धर्म के विज्ञान पर बहुत सुन्दर लिखा है उनको मेरी परिभाषा में इस लिये दोष दिखायी देता है कि वह किसी बड़ी शक्ति को स्वीकार करती है। यहाँ भी बड़ी शक्ति के अर्थ में सब कुछ निर्भर है। यदि उसका अर्थ केवल यही है कि मनुष्यों में व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अनन्त को समझने की कोई शक्ति है जिसका विकास भावना, अनुभूति और विश्वास में होता है तो मैं 'बड़ी शक्ति' शब्द स्वीकार करता हूँ। एक दृष्टिकोण से जिसका विकास होता है उसको हम परा विद्या कह सकते हैं। यह विश्वास की शक्ति पर ही लागू नहीं होता इन्द्रियों की और विवेक की शक्ति पर भी लागू होता है। (१)

---

(१) बारम्बार उसी को दोहराने के स्थान पर हम लाक के शब्द ही उद्धृत करते हैं। 'विचार के सम्बन्ध में' पुस्तक नं० २१, १७ "यदि यह मान लेना ठीक है

इन्द्रिय, विवेक और विश्वास के तीन कार्य

इस पर भी आपत्ति की गयी है कि धर्म के इस दृष्टिकोण म कुछ रहस्यमय सा लगता है। मैं जहाँ तक समझता हूँ इससे मनोविज्ञान मे कोई रहस्यमय तत्व नही आता। यदि हम यह स्वीकार कर ले कि इन्द्रिय और विवेक के अतिरिक्त अनन्त के विचार म चेतन आत्मा का भी तीसरा काय है। सब धर्मों के ज्ञान का आवश्यक तत्व यह है कि हम ऐसी सत्ता को मानते हैं, जिसको हम न तो इन्द्रियो स प्राप्त कर सकते हैं और न विवेक या तर्क से समझ सकते हैं। हमारे सामने जो वास्तविकता है उसका कारण बताने के लिये इन्द्रियाँ और तर्क पर्याप्त नही होग। तब यदि हम चेतना का तीसरा काय भी स्वीकार करल और स्पष्ट रूप से तब वह काय उसस अधिक रहस्यमय नही होगा जो इन्द्रिया द्वारा प्राप्त है, सब रहस्यो का मूल रहस्य यह फिर भी हमारा स्वभाव बन गया है कि हम उसे स्वाभाविक और ठीक समझते हैं। इसके बाद विवेक का नम्बर है जो कवल इन्द्रिय गम्य बोध को मानने वाल के लिये बहुत रहस्यमय जान पडेगा। कुछ दार्शनिकों ने इसे नितान्त अगम्य माना है। फिर भी हम जानते हैं कि इन्द्रिय-अनुभूति का ही विकास विस्तार है विवेक तक जो कुछ स्थितिया म ही सभव है। इन स्थितियो को हम विवेक की शक्ति या आधा शक्ति क समकक्ष समझ सकते हैं। ये सब एक ही चेतना के अग हैं और यद्यपि विवेक का काय कुछ भिन्न है फिर भी यदि सतुलन से काय किया जाय तो विवेक इन्द्रिया से सामजस्य स्थापित करके कार्य करता है। *धर्म के विषय मे भी यही बात है विश्वास के बौद्धिक अथ मे। मैं इसे* स्पष्ट करने का प्रयत्न करूगा कि वह भी केवल इन्द्रिय बोध का दूसरा विकास है जिस प्रकार विवेक है। कुछ परिस्थियो मे यह सभव है और ये परिस्थियाँ वही हैं जिनको हम धम की मूल शक्ति कहते हैं। इस तीसरी शक्ति क बिना, धर्म के जो तत्व हमे प्राप्त हैं उनको बौद्धिक और क्रियात्मक दोनों प्रकार से वर्णन करना हम कठिन लगता है।

कि शक्तियो का कोई अलग अस्तित्व है जो हमारे कथनानुसार शक्ति या इच्छा आज्ञा देती है, वह स्वतन्त्र है तो हमे भाषण की शक्ति, चलने की शक्ति और नाचने की शक्ति का अलग अस्तित्व मानना पडेगा। ये सब गति या शक्ति के कार्य हैं जो अनेक रूपो म प्रकट होते हैं। इसी प्रकार सकल्प और विचार जिनके द्वारा अनुभूति और चयन किया जाता है, विचार के ही अनेक स्वरूप हैं। यह भी कहा जा सकता है कि सगीत की शक्ति, जिसका अलग अस्तित्व है, गाती है नाचने की शक्ति नाचती है, सकल्प चयन करता है विचार आना मानता है या नही मानता है और तब यह भी कहा जा सकता है कि बोलने की शक्ति गाने की शक्ति को आदेश देती है, या गाने की शक्ति आना मानती है या नहीं मानती है जो बोलने की शक्ति देती है। इस प्रकार का विवाद नि सन्देह प्रचलित है। मेरे विचार स इससे बहुत बडा भ्रम उत्पन्न हुआ है।

इन्द्रिय और विवेक के प्रयोग से, इन शब्दा के साधारण अर्थ में यदि उनका वर्णन हो सकता है तो किया जाय। तब हमे बौद्धिक, तर्क सम्मत धर्म प्राप्त होगा या इन्द्रिय-बोध का धर्म उसे वह सकेंगे। अब तक हमारे आलोचकों ने यह नही किया है और मेरा विश्वास है कि कोई करना भी न चाहेगा।

जब मैं यह कहता है कि अनन्त का ज्ञान हमको इन्द्रिय और विवेक के बिना भी प्राप्त होता है, उनसे स्वतन्त्र भी प्राप्त होता है तब मैं इन दोनों शब्दों को प्रचलित अर्थ म प्रयुक्त करता हूँ।

यदि यह सत्य है कि इन्द्रियों से हम केवल सान्त का ही ज्ञान होता है और विवेक उन सान्त स्वरूपा के अतिरिक्त और किसी प्रकार से काय नहीं करता तब हमारी मानी हुई अनन्त का धारणा स्वतन्त्र होगी, इन्द्रिय और विवेक के बिना भी होगी। यह तर्क का आधार ठीक है या नही यह दूसरा प्रश्न है इस पर हम विचार करेंगे।

अनन्त का अर्थ

अब हम देखें कि धार्मिक चेतना के कुछ साधारण लक्षणा पर हम एक मत हो सकते हैं या नहो जिन्ह धार्मिक चेतना के रूप मे माना जाता है। इसके लिये हमने अनन्त शब्द चुना है। इस शब्द से उन सब का बोध होता है जो इन्द्रियो और विवेक से ऊपर है, इन शब्दों का साधारण अर्थ में लिया गया है। इन्द्रियों द्वारा सारा बोध, चाहे जो कुछ हो, सान्त है यह सभी मानते हैं। वह समय और स्थान की दृष्टि से सान्त है। मात्रा और गुण के विचार से सान्त है और हमारा इन्द्रिय गम्य ज्ञान ही आधार है सिद्धान्तिक ज्ञान का इसलिये वह भी सान्त विषयो पर है। समग्र ज्ञान के लिये सान्त ही सर्वमान्य आधार है इसलिये हमने अनन्त शब्द को सबसे कम विवादास्पद माना। यह शब्द इन्द्रिया और ज्ञान के परे जो भी आता है उसके लिये प्रयुक्त है। इन शब्दों का अर्थ भी साधारण प्रचलित लिया गया है। अनिश्चित, अदृश्य, इन्द्रिय-अगोचर, अलौकिक, पूर्ण, इन शब्दों से जिसे धर्म कहा जाता है उसके सब विशिष्ट गुण आ जाते हैं किन्तु हमने अनन्त कहना ही ठीक समझा। इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है। इनसे एक ही विषय के विभिन्न पक्ष स्पष्ट होते हैं फिर भी अनन्त शब्द के लिये हमारा कोई भी पूर्वाग्रह नही है। हम यह शब्द बहुत व्यापक उच्च-तम सिद्धान्त निरूपक जान पड़ता है। फिर भी यदि कोई दूसरा शब्द पसन्द किया जाता है तो ठीक है।

हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि अनन्त से हमारा अभिप्राय क्या है या तत्सम दूसरे शब्द का अर्थ क्या है जो हमे पसन्द करता है।

जैसा कुछ दार्शनिक मानते हैं यदि अनन्त का अर्थ केवल नकारात्मक रूप है तो विवेक शब्द से स्पष्ट हो जायगा कि हमम वह आया कैसे। किन्तु नकारात्मक क्रिया

से केवल यही मिलेगा कि हमने किससे कितना पाया, इससे अधिक कुछ नही अनेक अनुभूतियों से हम एक समूह का सिद्धांत घड़ सकते हैं। फिर भी सांत में अनन्त सम्पूर्ण समाविष्ट नही है।

जो यह कहते है कि अनन्त एक नकारात्मक सूक्ष्म है वे शब्दों का इंद्रजाल बनाते हैं। नकारात्मक सूक्ष्म सिद्धान्त वहीं बनाया जाता है जहाँ क्रमागत या सम्बद्ध सिद्धांत विवेचन होता है। हम एक क्रमागत सिद्धान्त लें। नीला कहने के बाद 'नीला-नहीं' का अर्थ होगा हरा, पीला लाल या कोई रंग जो नीला न हो। 'नीला नहीं' में सब रंगों का अनुभूति है नीला के अतिरिक्त। 'नीला नहीं' शब्द से हम मीठा या भारी या टेढ़ा समझ सकते हैं — नीला नहीं की नकारात्मक सूक्ष्म अनुभूति से। किन्तु हमारे तर्कशास्त्र में इस तरह का स्थान नहीं है।

यदि हम सम्बन्धित विचार लें जैसे टेढ़ा या सीधा तब 'सीधा-नहीं' शब्द को तर्कशास्त्री नकारात्मक विचार कहेंगे। किन्तु यह वास्तव में उतना ही स्वीकारात्मक है जितना टेढ़ा। जो सीधा नहीं वह टेढ़ा जो टेढ़ा नहीं वह सीधा।

अब हम इसका उपयोग सान्त में करें। यह कहा जाता है कि जो इंद्रियों से प्राप्त है या विवेक से ग्राह्य है वह सब सांत है। इसलिये यदि हम कोई शब्द यों ही न बनावें मात्र में कोई नकारात्मक साधारण अंश जोड़ कर बल्कि वास्तव में नकारात्मक विचार बनावें तब अनन्त का विचार सांत के विचार के बाहर होगा। एक सर्वमान्य आधार में सांत की अनुभूति के अलावा हम कुछ नहीं जानते। तब अनन्त की अनुभूति में कुछ नहीं आवेगा। इस लिये अनन्त को केवल नकारात्मक विचार नहीं कह सकते। यदि वह इतना ही है तो वह गलत मिसाल है जिसका कोई मतलब नहीं है।

क्या अनन्त की धारणा सान्त कर सकता है?

अब तक की सारी आपत्तियाँ जिन पर हमने विचार किया है हमारे मित्र लेखकों की हैं। वे तो मेरी अपनी धर्म की परिभाषा के ही संशोधन मात्र हैं वे पिछले प्रश्न से अलग नहीं हैं। पिछला प्रश्न भी सामने है।

दार्शनिकों के अतिरिक्त समाज के प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र विचारकों का बड़ा दल है जो धर्म की परिभाषा करने के किसी भी प्रयास को बिलकुल व्यर्थ समझता है। जो इस विवाद को भी नहीं सुनना चाहता कि अमुक धर्म सत्य या और अमुक असत्य। वह तो किसी भी धर्म के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकार करता है। उनका कहना है कि मनुष्य अनन्त की धारणा कर ही नहीं सकता। इसके विपरीत दूसरे सभी धर्म इस पर एक मत हैं यद्यपि अन्य बातों में मतभेद करते हैं, कि इंद्रियाँ और विवेक, कम या अधिक जो गुण रखते हैं उनसे अधिक मनुष्य धारणा कर सकता है। इसी आधार पर सूचनात्मक ज्ञान खड़ा है। धर्म की संभावना को वह अस्वीकार करता है और उन सब

को भी ललकारता है जो यह मानते हैं कि इंद्रिया और विवेक से परे नान का कोई और श्रोत है। वह इसके प्रमाण माँगता है ।

यह नही है कि ऐसी घोषणा आज हुई है। जिस आधार पर विवाद होना है वह भी नया नहीं है। कँट ने इस पुराने समर क्षेत्र का सर्वेक्षण किया था, बहुत पहले ही, एक बात जो छूट गयी थी वह यह थी कि नैतिक सत्य को पूर्ण निश्चय से माना जाता था और इसके द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को माना जाता था। अब वह बात नही है इस ओर अब दूसरा माग ही नही है। अब तो समरागण मे दोनों दल आमने सामने हैं। एक दल मानता है कि ऐसा कुछ है जो इन्द्रियो और ज्ञान से परे हैं, जो यह दावा करता है कि अनन्त की धारणा के लिये मनुष्य में एक शक्ति है। दूसरा दल यह नही मानता है और वह मनोवैनानिक आधार पर इसे नही मानता है। इस सघष मे एक दल की विजय और दूसरे की पराजय निश्चित होनी चाहिये ।

दोनों दलों को स्वीकार्य बातें

इस जीवन और मृत्यु के सग्राम में उतरने के पहले हमे समरागण का फिर एक बार सर्वेक्षण कर लेना चाहिये। दूसरा ने जो किया है उसे देख लेना चाहिय और यह समझ लेना चाहिये कि एक मत कितना है जिसे दोना दलो ने माना है जिस पर उनकी विजय पराजय निभर है। यह मान लिया गया है कि समग्र चेतना और ज्ञान इंद्रियो की अनुभूति से प्राप्त होता है। अनुभव करना, स्पश, करना, सुनना, देखना आदि अनुभूतियाँ हैं जा इंद्रियो से प्राप्त हैं। इमसे इंद्रिय नान होता है। इसी प्रकार यह भी मान लिया गया है कि इसी अनुभूति से हम सामूहिक या सूक्ष्म दशन और धारणा बनाते हैं। जिसे हम विचार कहते हैं वह अनुभूति एव धारणा का जोड बाकी है। धारणा का नान, इंद्रिया के नान से, रूप मे भिन्न हो सकता है आशय मे नही। जहाँ तक पदार्थ का प्रश्न है बुद्धि मे उसके अतिरिक्त किसी का अस्तित्व नही है जो इंद्रिया मे विद्यमान है। नान का अस्त्र बराबर वही है, केवल बात इतनी ही है कि उन प्राणियों की अपेक्षा जो केवल एक इंद्रिय रखते हैं पाँच इंद्रिया वाले प्राणी मे ज्ञान और विचार अधिक विकसित होते हैं। उन मनुष्या के भी विचार और नान अधिक विकसित होते हैं जो धारणा की क्रिया करते हैं। इनका, जो प्राणी धारणा नही करते हैं उनसे अधिक ज्ञान तो स्वाभाविक है।

इस धरातल पर और इन अस्त्रा से हम युद्ध म आना है। यह कहा जाता है कि इनके द्वारा सारा नान प्राप्त किया गया है सारे ससार पर विजय प्राप्त की गयी है। यदि इनके द्वारा हम परलोक में पहुँच सकते हैं तो अच्छी बात है यदि नही तो हम स्वीकार कर लेना चाहिये कि वह सब कुछ केवल भ्रम है जिसे निम्नतर विकृति से लेकर उच्चतम आध्यात्मिक विश्वास तक की सज्ञा दी जाती है—जिस धम के नाम से पुकारा

जाता है। इस युग की सब से बड़ी विजय यही है कि इस भ्रम को स्वीकार कर लिया गया है।

मैं इन बातों को स्वीकार करता हूँ फिर भी कहता हूँ कि धर्म जो अब तक असम्भव रहा है, अनिवार्य है यदि हम इन्द्रिय ज्ञान को अपनी धारणा समझें जैसा कि वह है न कि जैसी परिभाषा इनके सम्प्रदाय में हम बताई गई है। इस प्रकार स्थिति नितान्त स्पष्ट है। हम किसी विशेष शक्ति का दावा नहीं करते। किसी इलहाम या अवतरण की बात नहीं करते। हम केवल धारणा की शक्ति का दावा करते हैं। किसी अवतरण का दावा है तो केवल इतिहास का—जिसे अब ऐतिहासिक विकास कहा जाता है।

यह कल्पना नहीं कर सकी कि इतिहास के प्रारम्भ से ही मनुष्य के मस्तिष्क में अनन्त की भावना बनी बनायी है। आज भी कतिपय व्यक्ति ऐसे हैं जो इस शब्द को ही नहीं समझ सकते। हमारा कहना केवल इतना ही है कि प्राचीनतम इन्द्रियगम्य बोध में अभी नहीं की भावना छिपा है और सान्त से जैसे विचार का विकास होता गया है वैसे ही विश्वास का विकास होता गया है, प्रारम्भ से ही इन्द्रिय-बोध में अनन्त की धारणा थी।

क्रियात्मक दर्शन का कहना है कि जो हम इन्द्रिय से प्राप्त है वह सब ज्ञान है। सान्त के ऊपर जाने की बात केवल भ्रम है। अनन्त शब्द ही भ्रामक है। सान्त विशेषण में नकारात्मक अक्षर जोड़कर इसे बनाया गया है जो तुलनात्मक या क्रमिक विचारों में हो सकता है किन्तु सान्त से जो स्वयं पूर्ण है उसका मेल नहीं बैठता है।

यदि इन्द्रियों से केवल सान्त का ज्ञान होता है तब अनन्त की बात करने का किसी को क्या अधिकार है? यह सत्य हो सकता है कि समस्त धर्मों का मुख्य ज्ञान इसे स्वीकार करता है कि उस सत्ता की अनुभूति इन्द्रियों से नहीं हो सकती और न विवेक से ही उसकी धारणा की जा सकती है जो अनन्त है, सान्त नहीं है। किन्तु धर्म के इन तथ्यों के कारण बताने में, क्रियात्मक दार्शनिक इसे स्वीकार नहीं करते कि कोई तीसरी अदृश्य शक्ति है। वे तो उल्टे यह तर्क देते हैं कि इसीलिये हमारी चेतना में धर्म को कोई स्थान नहीं है। वह तो मरुभूमि में मरीचिका मात्र है जो यात्रियों को आकर्षक भविष्य दिखाती है फिर निराशा के गर्त में छोड़ देती है। जिसे भावी जीवन का स्रोत समझे या जिसके निकट वह अपनी प्यास बुझाने गया था वह मृग मरीचिका थी।

कुछ दार्शनिकों का विचार है कि इस निराशावादी दृष्टिकोण का उत्तर इतिहास के पन्नों में सन्तोषप्रद मिलेगा। इसमें सन्देह नहीं है कि मनुष्य को हम जितना इन्द्रियों और विवेक से पूर्ण मानते हैं उतना ही वह धर्म से भी परिपूर्ण है यह बात बहुत ही महत्व रखती है। किन्तु सिसरो की वाक पटुता भी इस सत्य को इस कोटि में नहीं ले गयी है कि तर्क की गुञ्जाइश न हो। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि सभी मनुष्य देवताओं की कामना करते हैं किन्तु होमर की प्रतिभा भी इस सत्य को सन्देह से परे नहीं रख

सकी । होमर के इन सरल शब्दो पर किसको आश्चर्य नही है कि "सभी मनुष्य देवताओ की कामना करते हैं" या इससे भी अधिक स्पष्ट और सरल शब्दो मे "चिड़िया के बच्चे जैसे चारा के लिये अपनी चोच खोलते हैं, वैसे ही मनुष्य देवताओ की कामना करते हैं।" शब्दार्थ भी प्रारम्भ मे मुह खोलना या फिर कामना करना हुआ । किन्तु इतनी सरल व्याख्या का निषेध भी उतने ही सरल शब्दो मे है । अत्यन्त पुरातन काल म और आधुनिक युग मे भी कुछ मनुष्यो मे इस प्रकार की कामना होती ही नही । इसलिये यह बताना पर्याप्त नही है कि मनुष्य ने सदैव इन्द्रियो और विवेक की सीमा से परे की कामना की है । यह बताना भी पर्याप्त नही है कि पूजा की निम्नतर भ्रान्ति म भी जो हम देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श करते हैं केवल वही सब नही है और भी बहुत कुछ है । यह बताना भी उतना ही अपर्याप्त है कि प्रकृति के पदार्थों का पूजा, पर्वत, वृक्ष और नदियों की उपासना जो हम देखते हैं केवल वही नहीं है वरन् कुछ और ही है जिसे हम देख नही सकते । जब आकाश और स्वर्ग की विभूतियो का स्मरण किया जाता है तब वह सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रो का ही नही होता जो चर्म चक्षुओ को दिखायी देते हैं वरन् इससे परे बहुत कुछ होता है जो नेत्रो से नही देखा जा सकता । धार्मिक विश्वास का यही आधार है । वर्षा दिखायी देती है किन्तु वर्षा भेजने वाला दिखायी नही देता है । बिजली की कड़क सुनाई देती है, तूफान का अनुभव होता है किन्तु मनुष्य की आखो से कड़क पैदा करने वाला या तूफान पर सवारी करने वाला दिखायी नही देता है । ग्रीक के देवता कभी-कभी दिखायी देते हैं लेकिन देवताओं का और मनुष्यो का पिता दिखायी नही देता है । स्वर्ग का पिता, जिसे आर्य बहुत पहले कहते थे, ग्रीक म उसी को ज्यास पीटर और लेटिन म जुपिटर कहते थे । न वह इन्द्रिय गम्य था और न स्वर्ग का पिता ।

यह सब ठीक है । इन भाषणो का उद्देश्य यही है कि धार्मिक विचारो की प्रारम्भ से अत तक समीक्षा की जाय । यह समीक्षा एक ही क्षेत्र म होगी—भारत का पुरातन धर्म । इसके पहले हम प्रारम्भिक और अधिक सूक्ष्म प्रश्न का उत्तर देना होगा । जिसे इन्द्रियाँ और विवेक नही दे सकते वह ज्ञान या कुछ और की कल्पना आती कहाँ से है । उसके खड़े होने के लिये कौन सी आधार शिला है जो इन्द्रियो के अतिरिक्त और किसी को आधार नही मानता या विवेक से प्राप्त निष्कर्षों के अतिरिक्त किसी पर विश्वास नही करता । फिर भी यह कहना है कि इन्द्रियो और विवेक से परे कुछ और है ।

अनन्त की धारणा

हमने यह स्वीकार कर लिया है कि इन्द्रियों से हमारे ज्ञान का प्रारम्भ होता है, इन्द्रियाँ जो सामग्री देती है उसी से विवेक अपना आश्चर्यजनक भवन निर्माण करता है । तब यदि सब सामग्री सान्त है तो प्रश्न यह है कि अनन्त की धारणा कहाँ से आती है ?

अनन्त रूप से महान

पहले हम इस बात को निश्चित कर लेना है कि क्या इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सब सामग्री सान्त है केवल सान्त है ? इसी बात पर हमारा मत तय आधारित है। यह ठीक है कि हम जो देखते, सुनते और अनुभव करते हैं उसका आदि और अन्त है। इस आदि और अन्त पर विचार करके ही हम उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। नीले और पीले रंग के अनेक अन्तरालों के बीच हम हरा रंग देखते हैं। जहाँ पर आरम्भ होता है और जहाँ पर अन्त होता है उसके बीच में हम पाते हैं बस सम्पूर्ण गुलत है। इन्द्रियों द्वारा ज्ञात सब इसी प्रकार प्राप्त होता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह ठीक है। किन्तु जरा हम और सावधानी से देखें। हमारी आँखें जब दूर से हर वस्तु को देखती हैं, यन्त्र के द्वारा या बिना यन्त्र के, तब सान्त के एक ओर एक सीमा तक देखना है। दूसरी ओर आँखें उसे नहीं देख पाता जो अनन्त है, उनकी क्षमता के अर्थ में सान्त नहीं है। हम स्मरण रखना चाहिये कि हमने अपने विरोधियों के शब्दों का ही प्रयोग किया है। इसलिए हम मनुष्य को केवल इन्द्रिय ज्ञान वाला ही मान रहे हैं।

अनेक दार्शनिक इसे स्वाभाविक मान लेते हैं कि मनुष्य के विवेक की आवश्यकता है अनन्त की धारणा, इस आवश्यकता से ही विवेक ने अनन्त की धारणा की। मुझे इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता। शून्य, आकाश या समय में जब हम एक बिन्दु स्थापित करना चाहते हैं, तब उनके मतानुसार, हम उसे इस प्रकार स्थापित नहीं कर पाते कि उसमें उसके आगे के बिन्दु की सम्भावना ही न रहे।

वास्तव में हमारे सीमा के विचार में ही सीमा से परे की भावना निहित है। इस प्रकार अनन्त का विचार आता है, हमें वह पसन्द हो चाहे न हो।

यह बिल्कुल ठीक है किन्तु हम अपने मित्रों का नहीं, अपने विपक्षियों का विचार करना है। यह सब जानते हैं कि वे इस तर्क को नहीं मानते।

उनका कहना है कि यदि एक ओर हमारी सीमा की भावना में आगे की सीमा से परे की भावना निहित है जिससे हम अनन्त की धारणा करते हैं तो दूसरी ओर सम्पूर्ण की भावना परे की भावना को बिल्कुल बाहर कर देती है और इस प्रकार सान्त की ही धारणा बनती है।

कैण्ट ने मनुष्य में इन अन्तर्विरोधों को पूर्ण रूप से समझाया की है और बाद के दार्शनिकों ने यह कहा है कि जिन्हें हम आवश्यक समझते हैं वे मनुष्य के विवेक की दुर्बलताएं हो सकती हैं। दूसरे विचारों की भाँति यह भी, सान्त और अनन्त की धारणा की भाँति, परीक्षण के परिणाम से ही स्पष्ट होना चाहिये, अनुमान मात्र से नहीं। तब यह स्वीकार हो सकता है। हमारा प्रथम ज्ञान इन्द्रियों से होता है इसलिए वह भी इन्द्रियों के अनुभवों के परिणाम स्वरूप होना चाहिए। हम इसे तर्क से विचार करना है। इसमें न तो सर डब्ल्यू हैमिल्टन हमारी सहायता कर सकते हैं और न ल्यूकेनस।

हमने आदिम पुरुष को केवल पंच इन्द्रिय ज्ञान बोध वाला ही माना है। ये पाँच इन्द्रियाँ उसे सान्त का ज्ञान करवाती हैं। तब हमारी समस्या यह है कि ऐसा प्राणी अनन्त को या किसी तत्व को जो सान्त नहीं है, बात कैसे करता है, उस पर विचार कैसे करता है।

मेरा उत्तर है और मुझे विरोध का भय नहीं है, कि उसकी इन्द्रियाँ ही पहले अनन्त का विचार देती हैं और अन्त में अनन्त की सूचना देती हैं। आदिम पुरुष के लिये प्रत्येक वस्तु जिसकी सीमा उसकी इन्द्रियाँ नहीं जान सकती, असीमित है अनन्त है। बौद्धिक विकास क्रम में आदि काल में यही बात प्रत्येक पुरुष पर घटती है।

मनुष्य देखता है, एक बिन्दु तक देखता है फिर उसकी दृष्टि काम नहीं देती। यही पर वह चाहे या न चाहे उसे असीम या अनन्त की धारणा मिलती है। यह कहा जा सकता है कि शाब्दिक अर्थ में यह धारणा नहीं है। यह इससे अधिक कुछ नहीं फिर भी यह कम तक नहीं है। अनन्त की धारणा में हम न गणना करते हैं, न नापते हैं, न तुलना करते हैं और न नामकरण करते हैं। हम नहीं जानते कि वह है क्या फिर भी हम जानते हैं कि वह है। हम इसलिये जानते हैं कि वास्तव में हम उसका अनुभव करते हैं, उसके सम्पर्क में आते हैं। यदि यह कहना अधिक साहस का है कि मनुष्य अदर्शनीय को वास्तव में देखता है, तब यह कहना ठीक होगा कि वह अदृश्य से अभिभूत है और यह अदृश्य अनन्त का ही विशेष नाम है।

इसलिये जहाँ तक अन्तर और विस्तार का सम्बन्ध है इससे इन्कार करना कठिन है कि नेत्र जिस क्रिया से सान्त की अनुभूति करते हैं उसी से अनन्त की धारणा भी करते हैं। जैसे ही हम आगे बढ़ते हैं हमारा क्षितिज बड़ा होता जाता है किन्तु हमारी इन्द्रियों के लिए वह क्षितिज नहीं है और न हो सकता है जब तक एक ओर दृश्यमान और सान्त तथा बीच में दूसरी ओर अदर्शनीय और अनन्त नहीं। इसलिये अनन्त केवल सूक्ष्म विचार नहीं है। इन्द्रियों के ज्ञान में वह प्रारम्भ में ही प्रकट है। धर्मशास्त्र का प्रारम्भ पुरातन शास्त्र से होता है। हमें प्रारम्भ करना है उस मनुष्य से जो ऊँचे पर्वतों पर रहता है या विस्तीर्ण मैदान में बसता है या किसी द्वीप में डेरा डाले है जिसमें न पर्वत हैं न झरने। जिसके चारों ओर अनन्त सागर का विस्तार है और ऊपर अगम्य आकाश है। तब हम समझ सकेंगे कि इन्द्रियों के द्वारा जो भूतियाँ उसके सामने आईं हैं जो अनुभूति उसे प्राप्त हुआ है उनसे उसके मस्तिष्क में अनन्त की कोई भावना उठी है। सान्त की भावना के पहले अनन्त की भावना जागी है। तब हम उसके एक ढले हुए जीवन की धुँधली छाया पा सकेंगे जो उपरोक्त आधार पर है।

अनन्त लघु

इतनी ही बात नहीं है। अनन्त की धारणा हम असीम से नहीं करते हैं वरन् सान्त में ही करते हैं और उसे सब प्रकार से केवल महान ही **नहीं मानते**। उसे सब

प्रकार से लघु मानते हैं। हमारी इन्द्रियाँ पूर्ण प्रयास के बाद भी छोटे से छोटे पदार्थ को स्पर्श नहीं कर सकती।

सदैव एक दूर गम्य, परे की भावना बनी रहती है, लघु से लघुतम की भावना। हम चाहें तो अणु को प्रारम्भिक अर्थ में कह सकते हैं कि वह एक ऐसी वस्तु है जिसका विभाजन नहीं हो सकता। हमारी इन्द्रियाँ, हम इन्द्रियों की ही बात करते हैं क्योंकि हमारे विधायियों ने बन्धन लगा दिये हैं, किसी भी वास्तविक अणु को स्वीकार नहीं करती हैं और न अचिन्त्य तत्व को स्वीकार करती हैं और न टायस मयर के शब्दों में ग्रीस के अन्तिम देवताओं को—अपदार्थ पदार्थ को ही मानती हैं। छोटे से छोटे तत्व के विस्तार में भी वे उससे भी छोटे तत्व की अनुभूति करती हैं। किसी भी पदार्थ को दृश्य मान होने के लिये केन्द्र और परिधि चाहिये किन्तु इनके बीच में सदैव एक वृत्त होगा और वह सदा विद्यमान और अविनाशी वृत्त हम इन्द्रियों की अनुभूति से अनन्त का ज्ञान देता है जो अनन्त लघु है—महान अनन्त के प्रतिकूल।

जो बात सूत्र के सम्बन्ध में है वही समय के सम्बन्ध में भी है और वही मात्रा तथा गुण के सम्बन्ध में है।

जब हम रङ्ग या ध्वनि की बात करते हैं तो व्यावहारिक दृष्टिकोण से हम सान्त में भ्रमण करते हैं। हम कहते हैं यह लाल है यह हरा है यह बैंगनी है। यह सी है, यह डी है और यह ई है। स्पष्टतः इससे अधिक सान्त और निश्चित क्या होगा। किन्तु हम निकट से इसका विवेचन करना है। हम इन्द्र धनुष के सात रङ्गों को लें। ऐसी तेज आँख किसकी है जो ठीक-ठीक बता सके कि यहाँ नीला रङ्ग समाप्त होता है और हरा प्रारम्भ होता है या हरा समाप्त होता है और पीला प्रारम्भ होता है। हम अपनी उंगलियाँ शायद ही वहाँ रख सकें जहाँ एक मिली मीटर समाप्त होता है और दूसरा शुरू होता है। हम रङ्गों के सात भेद करते हैं। इन्द्र धनुष के सात रङ्ग मानते हैं। ये सात भेद, इन्द्रिय ज्ञान के विकास में अभी किये गये हैं। जेनोफेन्स का कहना है कि जिसे लोग इरिस कहते हैं वह वास्तव में बादल है जिसके तीन रङ्ग हैं लाल पीला और हलका नीला। अरिस्टाटल ने भी धनुष के तीन रङ्ग माने हैं। लाल पीला और हरा और एडडा में इन्द्र धनुष को तीन रङ्ग का पुल कहा गया है।

नीला रङ्ग जो हम अब एक निश्चित रङ्ग जान पड़ता है कुछ समय पहले अनन्त रङ्गों में से लिया गया। अब शायद ही कोई ऐसी पुस्तक होगी जिसमें हम नील आकाश न पढ़ते हों। किन्तु वेदों की प्राचीन ऋचाओं में जिनमें प्रभात, ऊषा सूर्य और आकाश का वर्णन है नील गगन का कहीं भी वर्णन नहीं हैं। जिन्दावेस्ता में भी नील गगन का वर्णन नहीं है। होमर ने नील नभ का वर्णन नहीं किया है। पुराने और नये टेस्टामेंट में भी नील आकाश का वर्णन नहीं है। यह प्रश्न किया जाता है कि क्या हम इसे अपनी इन्द्रियों का पार्थिव विकास मान लें या शब्दों का क्रमिक विकास मान जिनसे

रङ्गों के सूक्ष्म भेद स्पष्ट होते हैं। कोई भी इस विवाद को नहीं उठायेगा कि हमारी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त बोध, धारणा से भिन्न जो आज है वह हजारों वर्ष पहले कुछ और था। वह बोध वही है सब मनुष्यों के लिये, कुछ पशुओं के लिये भी। क्योंकि हम जानते हैं कि कुछ कीड़े ऐसे हैं जिनमें विभिन्न रङ्गों की तीव्र प्रतिक्रिया होती है। इतना ही नहीं, हमें यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि बिना भाषा के चेतन धारणा असम्भव है। कौन इसमें सन्देह करेगा कि आदिम मानव जिनको तीन से आगे गिनती नहीं आती थी यानी तीन के आगे की गणना की धारणा नहीं थी। एक गाय के चार पैरों की इन्द्रियों से अनुभूति चार की करते थे, दो या तीन की नहीं करते थे। यही रङ्गों की चेतना के विकास में हम पुनः देखते हैं कि धारणा, बोध से भिन्न, भाषा के विकास के साथ चलती है और धीरे धीरे अस्पष्ट अनुभूतियों से अनन्तता की निश्चित धारणा प्राप्त होती है। डमोक्रिटाज ने चार रङ्ग माने हैं, काला, सफेद, लाल और पीला। तब क्या हम यह कहें कि उन्होंने नील गगन देखा ही नहीं क्योंकि उन्होंने उसे नीला नहीं लिखा, काला या उजला लिखा। चीन में प्रारम्भ में पाँच रङ्ग माने जाते थे। जैसे-जैसे रङ्गों के सूक्ष्म भेद करने की उनकी क्षमता बढ़ती गई वैसे ही रङ्गों की संख्या बढ़ती गई और भाषा में रङ्गों के सूक्ष्म भेद प्रकट किये गये। साधारण अरबों में पालग्रेव के कथनानुसार आज तक हरे, काले और भूरे रङ्गों के सम्बन्ध में भ्रम है। यह सभी जानते हैं कि जङ्गली जातियों में नीले और काले रङ्ग के लिये स्पष्ट शब्द नहीं हैं। किन्तु जब हम अपनी भाषा की पूर्वावस्था पर विचार करेंगे तो यही अस्पष्टता भाव प्रकट करने की वहाँ भी मिलेगी। अब ब्लू का अर्थ काला नहीं है फिर भी ऐसे वाक्यों में जैसे नीला काला करके मारना दोनों रङ्गों की निकटता है।

ओल्ड नार्स में भी ब्लार, ब्ला, ब्लाउ का अर्थ अब नीला है। जो ब्लेकर, ब्लैक, काले से भिन्न है। किन्तु ओल्ड नार्स में लैवैन है ब्रण का तरल रङ्ग, काले और नील के अर्थों में हम अनिश्चितता देखते हैं ब्लामद्र में काला आदमी, हब्शी का अर्थ है। ब्ला का स्पष्ट अर्थ काला है। इन शब्दों की उत्पत्ति का इतिहास बहुत अस्पष्ट है। ग्रिम नीला शब्द ओ० एच० जी० में ब्लाओ, से, मेड लेटिन में ब्लावस, ब्लेवियस से, इटैलियन में बियाओ से फ्रेन्च में ब्ल्यूअ से और गोथ में ब्लिावन से लेते हैं जिसका अर्थ है चोट करना। प्रारम्भ में इसका अर्थ ब्रण के काले और नीले रङ्ग का रहा होगा। इसके लिये वे लेटिन के लिविड्स शब्द को देते हैं जिसे फिलग विड्स और फिलार से लेते हैं, फ्लावस से भी उसका उद्भव बताते हैं। यह शब्दों की उत्पत्ति का क्रम है। वैगियस तुलना में प्रस्तुत किया जाता है जिसका श्रोत वेडियर से है। यह सब कुछ पूर्ण सन्दिग्ध है। रङ्गों के नामों का पूरा विषय अच्छी बात से समझने का है तभी निश्चित परिणाम प्राप्त होंगे और कुशल कल्पना की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। सम्भवतः मूल भ्राग या भ्रग का र ल में बदल जाने पर रङ्गों के नामों का श्रोत प्रारम्भ

होता जान पडता है। ब्लेक मूल के सन्दर्भ म, ए० एस० मे ब्लेक, ब्लाक ओ० एन० मे ब्लेकर, ओ० एच० जी० म ब्लेक बताया गया है जिसका अर्थ प्रारम्भ म उज्वल या फिर पीला हुआ। इसी परिवार म ब्लाक का पता लगेगा। ए० एस० म ब्लक, ओ० एन० में ब्लेकर और ओ० एच० जी० मे प्लेक।

भाषाओ की समृद्धि के साथ ही भेद बढ़ते गये हैं। किन्तु हमारे सामने रगो की विभिनता वास्तव मे अनन्त रही है। हो सकता है कि हम इसकी माप एक सेकण्ड मे होने वाले करोडा नभदेशीय कम्पनो से कर सके। फिर भी वे सूक्ष्म दृष्टि के लिये भी अविभाज्य हैं, अमाप हैं।

जो बात रगो के सम्बन्ध मे कही गयी है वही ध्वनि पर भी लागू होती है। एक सेकण्ड मे जब तीस कम्पन होते हैं तब हमारे कान ध्वनि ग्रहण करते हैं। जब एक सेकेण्ड म चार हजार कम्पन होते है तब ध्वनि नही सुनाई पडती। हमारे काना की निबलता यह सीमा निर्धारित करती है। वायलेट बैगनी रङ्ग हम देखते हैं। इसके आगे अतिशय बैगनी यल्का वायलेट रङ्ग है जो इन्द्रियो के लिये नितान्त अन्धकारमय है *किन्तु किरण यन्त्र से वह सैकडो रेखाओ मे प्रकट होता है। इसी प्रकार जिसे हम केवल* शोर समझते हैं वह अधिक शक्तिमान इन्द्रियो वाले व्यक्ति के लिये सङ्गीत हो सकता है। हम राग और रागिनी मे भेद कर सकते हैं फिर भी अनेक छोटे भेद हैं जो हमारी धारणा मे नहीं आते और हमको अपनी इन्द्रियो की सीमा का अनुभव करवाते हैं। *समस्त ब्रह्माड की प्रचुर सम्पदा के सामने हम दीन से लगते हैं। हम प्रयत्न करते हैं* धीरे धीरे उसका विभाजन करते हैं स्थिर होकर धारणा करते हैं।

अनन्त के विचार की उत्पत्ति

आशा है मेरे प्रति भ्रान्त धारणा न बनेगी और मुझे समझने म भूल न होगी। मेरी सम्मति यह नही है कि निम्नतम जङ्गली लोगो का धर्म अनन्त के अनुवर विचार से प्रारम्भ होता है और किसी से नही। बिना नाम के कोई विचार सम्भव नही है इस लिये मुझसे कहा जायगा कि वेदो और पपुआ के शब्द-कोप से कोई शब्द निकाल कर बतलाऊ जो अनन्त के अर्थ म हो। ऐसे शब्द का अभाव, अधिक सभ्य जातियो मे भी मेरी बात का अच्छा उत्तर होगा।

इसलिये मैं फिर कहता हू कि मैं इस विचार को बिल्कुल नही मानता हूँ। मैं तो अभी प्रति रक्षा के रूप म कार्य कर रहा हूँ। अभी तो मैं उन प्रारम्भिक आपत्तियो *पर विचार कर रहा हूँ जो धर्म को दर्शन के क्षेत्र से अलग मानने वाले दार्शनिको ने* उठायी हैं। उनका कहना है कि उन्होने सब प्रकार से सदा के लिये यह सिद्ध कर दिया है कि अनन्त हमारी चेतना का विषय नही हो सकता क्योंकि हमारी इन्द्रियाँ ही मानव चेतना के समग्र क्षेत्र में काम करती हैं और वे अनन्त के सम्पर्क में कभी नही आतीं।

इस शक्तिशाली दार्शनिकों की श्रेणी को हमें उत्तर देना है। इस श्रेणी में विश्वासी और पुरातनवादी भी आ गये हैं। इसलिये यह बताना आवश्यक है कि उनके तथ्य, कोई तथ्य नहीं हैं। अनन्त की उपस्थिति प्रारम्भ से ही सब सान्त अनुभूतियों में थी जिस प्रकार नील रङ्ग था यद्यपि वेदों में उसके लिये कोई शब्द नहीं है। वैदिक कवियों के काव्य में भी आकाश नीला था, जोरोस्त्रियन उपासकों के समय में भी नीला था हीब्रो के पैगम्बरों के समय में और होमर के गायकों के समय में भी नीला था। किन्तु यद्यपि वे उसे देखते थे उसे जानते नहीं थे उसके लिये उनके पास कोई शब्द नहीं था जिसे नीलनभ कहते हैं। हम उसे जानते हैं क्योंकि हमारे पास उसके लिये शब्द है। एक सीमा तक हम जानते हैं क्योंकि हम उन करोड़ों कणों की गणना कर सकते हैं जिनसे नील नभ बनता है। हम उसे सख्यात्मक रूप से जानते हैं, गुणात्मक रूप से नहीं। इतना ही नहीं, हममें से अधिकांश के लिये वह नील नभ केवल दृश्यमान अन्धकार है और रहेगा, अधिक कुछ नहीं। वह आधा प्रकट है और आधा गुप्त है। जो प्रश्न है उससे परे का प्रकाश अनन्त रूप में दिखाई देता है।

अनन्त के सम्बन्ध में भी यही बात है। प्रारम्भ से ही वह विद्यमान था किन्तु तब तक उसका नाम करण नहीं हुआ था, परिभाषा नहीं की गयी थी। हमारी इन्द्रियों की अनुभूति में प्रारम्भ से ही यदि अनन्त की उपस्थिति न होती तो अनन्त शब्द केवल ध्वनिमात्र होता और कुछ नहीं।

इसीलिये मैंने यह स्पष्ट करना अपना कर्तव्य समझा कि सान्त की भावना के आधार पर ही अनन्त की उपस्थिति है। उसका वास्तविक मूल आधार यद्यपि हम उसे पूर्ण रूप से समझ नहीं पाये हैं, अनन्त की उपस्थिति है जो हमारी सान्त की सब अनुभूतियों में है। अनन्त की यह उपस्थिति या अपूर्ण धारणा अनेक रूपों में हुई है और उसे अनन्त नाम दिये गये हैं। मैं उसका पता वहाँ भी लगा सकता था जहाँ पोलीनेशियन नाविक अनन्त समुद्र के विस्तार को देखकर आश्चर्य चकित हो जाता था। उषा काल में आर्य गायक प्रभात वैभव देखकर आनन्द-मग्न हो जाता था, उसके स्वागत में ऋचाएँ रचता था। या अकेला यात्री मरुस्थल में अस्त होते हुए सूर्य की अन्तिम किरण देखकर मौन हो जाता था, श्वास रोक लेता था और एक अनन्त की भावना से ओत-प्रोत होता था। अपने स्व प्नल एवं थके नेत्रों से परलोक की बातों का सपना देखता था।

इन सब भावनाओं और अनुभूतियों में हजारों स्वरों में एक ही राग बजता है। केवल हम उसे सुनें और ध्यान से तो अब भी वही पुराना राग, सङ्गीत है। वर्डस वर्थ के शब्दों में उच्चतम समन्वय का सङ्गीत—

फिर फिर बार बार वही प्रश्न वही प्रश्न,
इन्द्रियों के, बाह्य रूपान्तर के
हमसे निकले और विलीन हुए हैं

एक प्राणी के कोरे भ्रम से
 उन लोकों में विचार ना करो
जिनकी प्राप्ति अभी बाकी है।

एक अनन्त के बिना कोई सान्त नहीं

मेरा कहना केवल इतना ही है कि सान्त की अनुभूति के साथ ही धारणा होती है अनन्त की। यदि धारणा शब्द अधिक जोरदार है तो मैं भावना का उल्लेख कर सकता हूँ। स्पर्श, श्रवण और दर्शन के प्रथम भाव से ही हमारा सम्पर्क न केवल सान्त से होता है वरन् उसी समय एक अनन्त से भी होता है।

इसलिये जो मनुष्य की चेतना में अनन्त की भावना का औचित्य या सम्भावना स्वीकार नहीं करते हैं उनसे हमें इसी धरातल पर मिलना है यह आधार उनका ही है। उनका कहना है कि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियों से प्रारम्भ होना चाहिये। मैं भी इसे स्वीकार करता हूँ और कहता हूँ कि हमारी इन्द्रियाँ ही हमें पहले पहल अनन्त की सूचना देती हैं। इस सूचना के बाद जो विकास होता है वह मनोवैज्ञानिक और धर्म के इतिहासकारों को सामग्री देता है। दोनों के लिये यह विकास से परे अनन्त की भावना सब धर्मों की पहली प्राग् ऐतिहासिक भावना है। मेरा यह कहना नहीं है कि हममें जब अनन्त की धुंधली भावना, अस्पष्ट सी आयी थी तभी वह एक न एक पूर्ण और स्पष्ट चेतना थी जो धारणा की चरम सीमा है। मैं इसके ठीक विपरीत कहता हूँ। मेरा कहना केवल यही है कि उसके अणु अंश विद्यमान थे उसमें वह तत्त्व था जिसके अभाव में कोई भी धर्म सम्भव नहीं था।

अनन्त की इस धारणा में मनुष्य के विकास के इतिहास का मूल है।

यह नहीं मान लेना चाहिये कि अनन्त की धारणा पर मेरा जोर देना कविता की भाषा बोलना है। मैं इससे इन्कार करने वाला अन्तिम पुरुष हूँ कि कविता की भाषा कभी-कभी परम सत्य बात करती है। मैं तो यह भी कहूँगा कि तर्कपूर्ण गद्य और भ्रम पैदा करने वाले वाग्जाल से अधिक सत्य कहती है।

मैं इसे भी स्वीकार करता हूँ कि इन तेजस्वी उद्धरणों में बहुत कुछ सत्य है। किन्तु हमें उस सत्य की गहरी से गहरी आधार शिला को देखना है नहीं तो हम पर आरोप लगाया जायगा कि हम कवित्वपूर्ण या रहस्यपूर्ण वक्तव्य देते हैं। यहाँ पर तो केवल तर्कपूर्ण दलील ही काम दे सकती है। एक निष्कर्ष निकालने में या उस बिन्दु पर अपनी उंगली रखने में जहाँ अनन्त का सम्पर्क प्रारम्भ होता है न तो हम कैण्ट के कठोर नियमों की उपेक्षा करते हैं और तर्कशास्त्र के किसी सिद्धान्त का विरोध करते हैं। मेरा विश्वास है कि मनुष्य के ज्ञान का विश्लेषण कैण्ट से अधिक पूर्ण हो नहीं सकता "इन्द्रियों के पदार्थ जैसे हमारे सामने आते हैं, उसी रूप में जाने जा सकते हैं उस रूप में

नहीं जैसे वे स्वय हैं, इन्द्रियों के ऊपर पदार्थ हमारे लिये सिद्धान्तिक ज्ञान के पदार्थ नहीं हैं । मैं इन सबको मान लेता हूँ । किन्तु यद्यपि सिद्धान्त रूप से इन्द्रियों से परे पदार्थ का ज्ञान नहीं है फिर भी क्या उसका कोई ज्ञान नहीं है । क्या यह ज्ञान नहीं है कि हम जानते हैं कि एक पदार्थ है यद्यपि हम नहीं जानते कि वह पदार्थ है क्या । कैन्ट क्या कहेंगे यदि हम यह कहें कि चूकि हम नहीं जानते कि 'डिंग एन सिक' क्या है इसलिये हम नहीं जानते कि वह है । उन्होंने इस भ्रम से बचने के लिये काफी सावधानी बरती है नहीं तो उनका समूचा दर्शन आदर्शवाद बन जाता । उनका कहना है कि इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हममें डिंग एन सिक का भांति सदैव पदार्थों की चेतना तो बनी रहे, हम उनको न जाने तब भी । नहीं तो बिना तर्क के आधार के यह परिणाम निकलेगा कि जो प्रकट होता है उसके बिना भी अस्तित्व है । कैन्ट से मेरा मतभेद इतना ही है कि मैं उनसे एक कदम आगे हूँ । उनके विचार से इन्द्रियातीत या अनन्त केवल शून्य होगा एक वातावरण नहीं । मेरा कहना है कि शून्य के पहले वह साकार, सगुण है, यद्यपि वातावरण नहीं है । मेरा कहना है कि हम जीवित प्राणी निरन्तर अनन्त के सम्पर्क में हैं और यही निरन्तर सम्पर्क हमारा वास्तविक आधार है जिस पर अनन्त की धारणा है वह शून्य रूप में हो या वातावरण के रूप में । मेरा यह भी कहना है कि यहाँ भी पूर्व अनुभूति के बिना कोई धारणा सम्भव नहीं है और पूर्व अनुभूति प्रकाश की भांति स्पष्ट है उसके लिये जो परम्परागत शब्द व्यूह से अन्धे नहीं है ।

हमसे यह बारम्बार कहा जाता है मानव मस्तिष्क अनन्त की धारणा नहीं कर सकता है । इसलिये हमें अपनी बाइबिल और प्रार्थना-पुस्तक लेकर विश्राम करना चाहिये और धन्यवाद देना चाहिये । इस निराशा पूर्ण दृष्टिकोण से हम अपने वेद और बाइबिल को भी देखते हैं । आइये हम स्वय देखें और निर्णय करें । हम देखेंगे कि इतिहास के प्रभात में और हमारी व्यक्तिगत चेतना के प्रथम उदय काल में अनन्त हमारे सम्मुख था । क्या हम कभी इस योग्य होंगे कि अनन्त को इस वास्तविक सत्ता से अधिक और कुछ प्राप्त कर सकें या कभी इतने सक्षम होंगे कि केवल उसका विचार ही नहीं करेंगे, उसकी धारणा भी करेंगे । यह प्रश्न अन्त का है हमारे विषय के प्रारम्भ का नहीं । हमको अभी इतिहास देखना है । पवित्र ग्रन्थों से खोज करनी है कि सान्त मस्तिष्क ने अनन्त की खोज में किन गहन गुफाओं में प्रवेश किया है । उस विचार में कितनी नूतनता का समावेश किया है । एक तिमिराच्छन्न भावना को किस प्रकार उज्वल रूप दिया है, उसे अनेक नाम दिये है । मनुष्य ने जितने नाम अनन्त को दिये हैं उनमें भूल हो सकती है । किन्तु भूलों का इतिहास भी उपयोगी पाठ सिखाता है । जब हमने यह देख लिया कि मनुष्य सान्त में, उसके परे की, कुछ और की भावना कर सकता है तब हम यह पाते हैं कि वह सब में अनन्त के दर्शन करता है उसे खोजता है, पर्वतों में, वृक्षों में, नदियों में, तूफान और बिजली में, सूर्य और चन्द्रमा में, आकाश में और उसके

आगे भी। प्रत्येक को नाम देने का प्रयास करता है। कभी उसे बद्य पाणी, प्रकाश-दाता, बयो, जल-दाता, अन्नदाता और जीवनदाता कहता है फिर कुछ समय बाद उसे सष्टा, शासक और संरक्षक मानता है। सम्राट और पिता, देवाधिदेव, करण का भी कारण, अनन्त, अगोचर और अज्ञेय मानता है। भारत के प्राचीन साहित्य में सुरक्षित कम से कम यह एक धार्मिक विचार का विकास हम देखने को मिलता।

दूसरे अनेक ऐतिहासिक विकास दूसरे देशों में भी हैं जो अनन्त तक पहुँच हैं। आर्य, समेटिक और तूरानियन जातियों में अनन्त की चेतना या देवत्व का विकास जैसे हुआ उससे अधिक भिन्न और कुछ सम्भव नहीं है। प्रकृति के कुछ चमत्कारों में, बल्कि कवियों के लिये अनन्त ने स्वयं अपने को अनावृत किया। कुछ दूसरों ने उसे अपने हृदय की गुह्यतम गुफा में पाया और आश्चर्य प्रकट किया।

अनेक जातियों में अनन्त की सूचना पुरातन काल में बच्चे के जन्म से प्राप्त हुई या एक मित्र की मृत्यु से मिली। जीवन में उन्होंने जिससे प्रेम किया था या जिससे भय खाया था उसकी स्मृति में उनको यह विचार मिला कि मानव से अधिक भी कुछ है। कर्तव्य का ज्ञान, प्राचीन काल में धार्मिक महत्व रखता था। कुछ अंशों में यह अयत ग्लानि से उत्पन्न हुआ जो कम वास्तविक नहीं था यद्यपि इसका कारण नहीं बताया जा सकता था। दूसरी जातियों में प्रकृति की व्यवस्था नियम देखकर नियम की चेतना का उदय हुआ जिसका उल्लंघन देवता भी नहीं कर सकते थे। प्रेम के बिना कोई धर्म नहीं टिक सकता। प्रेम का उदय ऊषा का वैभव और प्रभात की लालिमा देखकर कुछ हृदयों में हुआ तो कुछ लोगों में प्रकृति के गम्भीर अनुराग से सबके साथ कष्ट सहन में जो भावना बीमार बच्चे को देखकर उत्पन्न होती है। या अपने को अकेला और सान्त पाने की भावना ने ही सान्त से पर सीमित क्षेत्र से आगे की कल्पना की। अनन्त की या सान्त से आगे की भावना दूसरे मनुष्यों में मिली या स्वयं अनन्त में मिली जिस पर हमारा जीवन आश्रित है। इसी में हमको अन्त में अपने सच्चे स्वरूप के दर्शन होते हैं।

प्रत्येक धर्म का अपने ढङ्ग से विकास हुआ है प्रत्येक राष्ट्र ने अरण्य में होकर अपना पथ पाया है। यदि इन भाषणों का क्रम चलता रहा जिसकी मुझे आशा है तो दूसरे विश्लेषणकार उन अनेक सूत्रों का जो गुंफित है सुलझायेंगे और बतायेंगे कि मनुष्य के धार्मिक विचार आदि काल में क्या थे, कैसे उनका उदय और विकास हुआ। दूसरे अधिक अनुभवी मार्ग दर्शक उन मार्गों से ले चलेंगे जिन पर प्राचीन काल के महान राष्ट्र, मिश्र, बैबीलोनिया यहूदी, चीनी, यूनानी, रोमन, सेल्ट, स्लेव और जर्मन चले थे। इतना ही नहीं आदिम जङ्गली जातियाँ भी जिस मार्ग पर चली थीं जिन जातियों को मनुष्य मानना कठिन था।

सब की खोज अनन्त के लिये थी। जो अनन्त उनके चारों ओर था जिस प्रकार

हमारे चारो ओर है। इसे प्राप्त करने की ओर समझने की वे कोशिश करते थे और असफल होते थे।

मैं अपने को केवल एक जाति के वर्णन मे सीमित रखूगा। भारतवर्ष के प्राचीन आर्य अनेक दृष्टिकोणो से महानतम आश्चर्यजनक जाति जो पृथ्वी पर कभी निवास करती थी।

उनके धर्म का उदय और विकास दूसरे धर्मों से बहुत भिन्न है। किन्तु यद्यपि प्रत्येक धर्म की उत्पत्ति अपनी विचित्रता लिये हुए है फिर भी जिस बीज से सब की उत्पत्ति हुई है वह सब जगह एक ही है। वह बीज है अनन्त की धारणा, इससे कोई नहीं बच सकता जब तक कि वह अपने नेत्र जबरदस्ती बन्द न कर ले। मानव चेतना की प्रथम उड़ान से ही यह धारणा हमारी इन्द्रियो की समस्त अनुभूति मे समाविष्ट है। हमारी सब कल्पनायें, सब सिद्धात, बुद्धि का प्रत्येक तर्क इसी धारणा पर निहित है। सम्भव है कि कुछ समय के लिये वह हमारे अपूर्ण सान्त ज्ञान के नीचे दबी रहे किन्तु वह सदव वहाँ है और यदि हम अतरतम मे खोज करे तो उस दबे हुए बीज को पायेंगे। यही बीज सच्चे विश्वास को पालता है, समृद्ध करता है।

अनेक कारणो से मेरी इच्छा थी कि कोई अङ्गरेजी विद्वान इन भाषणो को समारम्भ करने के लिये चुना जाता। वह मुझसे अधिक योग्यता से इस कार्य को करता। उनकी कमी भी नहीं थी, मैं तो कहूँगा कि बाहुल्य था। डा० मार्टीनो या प्रिंसिपल केयर्ड ऐसे कुशल विद्वान धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बहुत उत्तमता से करते। हिबर्ट लेक्चरो के प्रथम क्रम मे यदि मिस्र के प्राचीन धर्म के सम्बन्ध मे बच, या ले पेग रिनो को चुना गया होता तो उत्तम होता। बाबिलन और निनेवह के लिये, इसी प्रकार रालिसन या साएस फिलस्तीन के लिये स्टेनली या रेने, चीन के लिये लेगे या डगलस, यूनान के लिये ग्लैडस्टन या जोवेट, या मेहफी, रोम के लिये मुनरो या सेले, सेल्टिक जाति के लिये र्‍यास, स्लेव जातियो के लिये राल्स्टन, टयोरोनिक जातियो के लिये स्कीट या स्वीट, आदिम जातियो के लिये टलर या लबक उत्तम होते।

बहुत सोचने के बाद मैंने इन भाषणो को देना स्वीकार किया। इसका मुख्य कारण यही था कि मुझे विश्वास था कि भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य जो हमारे लिये एक चमत्कार के कारण ही सुरक्षित है, हमे वे साधन प्रस्तुत करता है जिनसे हम धर्म की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन कर सकते हैं, ऐसे साधन हम अन्यत्र सुलभ नहीं है। मैं यह भी कह सकता हूँ कि अंग्रेजी श्रोता बहुत ही शिष्टता से सुनते हैं। उसकी बात भी सुनते हैं जो बात ठीक से नहीं कह सकता। उसे जो कहना है वह कह पाता है। उसे भय नहीं रहता, अपमान की बात नहीं होती और वक्ता को परेशानी मे नहीं डाला जाता है।

दूसरा भाषण

क्या मूर्ति पूजा धर्म का आदिम रूप है ?

अनन्त की धारणा की प्रथम भावना

मैंने अपने प्रथम भाषण म प्रयत्न किया था कि वह आधार स्थापित करूँ जिस पर धम का भवन खडा हो सकता है। आदिम और पूर्ण अविकसित रूप म, अनन्त को समझने की, धारणा करने की न सही शक्ति यदि मनुष्य मे न होती तो उसको यह कहने का कोई अधिकार नही था कि इस सान्त जगत के आगे एक जगत है, सान्त समय के आगे भी समय है, या ऐसी सत्ता है जिसे जीयस या जुपिटर या ड्यास पीटर या स्वामी कहने मे शायद सकोच हो किन्तु जिस वह अनुभव करता है आदर देता है और प्रेम करता है। अज्ञेय, अनन्त और अनिर्वचनीय कहकर उसे पुकारता है। दूसरी ओर, यदि अनन्त का विचार सम्भव और समुचित है, यदि हम अपने स्पष्टीकरण के इस प्रयास म सफल हुये हैं कि अनन्त का यह विचार सान्त पदार्थों की समस्त अनुभूतियो म व्याप्त है और इसी प्रकार सब तर्कों म भी जो उनसे निकल हैं व्याप्त है तब हमारा आधार दृढ है। उसी आधार पर हम चाहे इसकी विवेचना करे कि प्राग ऐतिहासिक-काल की जातियो म इस भावना के कितने रूप हुये हैं चाहे अपने विश्वास के गहनतम आधारो की समीक्षा करें।

प्रथम भाषण मे मैंने जो तर्क आपके समक्ष रखे थे वे केवल सूक्ष्म रूप म थे। मैं इसे सिद्ध करना चाहता था कि अनन्त की धारणा की सम्भावना है वास्तविकता चाहे न हो। मेरे विचार मे यह था ही नही कि प्रथम चरण म ही अनन्त का विचार परिपक्व था जब कि धार्मिक विचारो के विकास का इतिहास चल रहा था। अनन्त का पूर्ण और परिपक्व विचार धम क प्रारम्भ मे उतना ही कम है जितना कि ज्योतिष मे गुरुत्वाकर्षण का सिद्धात। इतना ही नही, अपने शुद्ध रूप म, वह विचार, मानव बुद्धि की प्रगति म, प्रथम चरण की अपेक्षा अन्तिम चरण है।

मन, अनन्त क लिये एक मलानेशियन नाम

मेलानेशियनो में हम देखते हैं कि बहुत पिछडी जातियो म भी अनन्त का विचार अदृश्य, या जिसे मान की देवत कहा गया उसकी कल्पना अस्पष्ट रूप से विद्यमान थी, उनके मत म। नारफाक द्वीप स ७ जुलाई १८७७ क पत्र म अनुभवी मिशनरी और

विद्वान धर्म वेत्ता श्री आर० एच० कार्डरिंगटन ने लिखा है ' "मेलानेशियन लोगों का धर्म बतलाता है कि, जहाँ तक विश्वास जा सकता है,एक अलौकिक शक्ति के क्षेत्र में हैं। व्यवहार में उस शक्ति से अधिक से अधिक लाभ लेने का उपाय करना है। वे एक महान देव की भावना से अपरिचित हैं। उनके संसार में किसी भी महान सत्ता का स्थान नहीं है।

पुनः उनका विश्वास है कि पार्थिव शक्ति से भिन्न एक शक्ति है जो अच्छे और बुरे के लिये पाप और पुण्य के लिये, सब प्रकार से काय करती है। इस शक्ति को प्राप्त करना या उस पर नियन्त्रण करना बहुत ही हितकर है। इसे वे मन कहते हैं।

प्रशान्त सागर मे यह शब्द बहुत प्रचलित है। लोगो ने यह बताने का पूर्ण प्रयत्न किया है कि विभिन्न क्षेत्रो मे वह क्या माना गया है। हम जानते हैं कि हमारे देश वासी इससे क्या समझते हैं। इस अर्थ में वह सब आ जाता है जो दूसरी जगह माना जाता है। यह एक शक्ति या प्रभाव जो पार्थिव नहीं है एक प्रकार से अलौकिक है किन्तु वह पार्थिव रूप मे दिखायी देती है या मनुष्य की किसी शक्ति या गरिमा में प्रकट होती है। यह मन किसी पर स्थिर नहीं है और किसी भी वस्तु मे लाया जा सकता है। आत्मायें, मृत आत्मायें या अलौकिक जीव इसे प्राप्त करते हैं, दूसरों को इसे दे सकते हैं। यह शक्ति व्यक्तिगत रूप से होती है वहा से उसकी सृष्टि होती है। वह एक माध्यम से कार्य करती है, वह जल, पत्थर या हड्डी को माध्यम बना सकती है। मेलानेशियन धर्म यह है कि इस मन की प्राप्ति अपने लिये की जाय, अपने हित के लिये इसका उपयोग किया जाय। उनकी प्रार्थनायें, बलिदान और सब धार्मिक कृत्य इसी पर केंद्रित हैं।

यह मन प्राचीन काल की असहाय और असमर्थ भावना का स्पष्टीकरण करता है प्रारंभ के युग में अनन्त की धारणा कैसी कठिन रही होगी, यद्यपि मेलानेशियन मन भी यह बतलाता है कि विकास और ह्रास दोनों के संकेत उसमे हैं।

मेरा प्रथम भाषण गत प्रारंभिक ज्ञापन का प्रारंभिक उत्तर मात्र था। उन शक्तिशाली और अनेक प्रख्यात दार्शनिकों के लिये यह उत्तर आवश्यक था जो हम समीक्षा के द्वार पर ही रोक देना चाहते हैं जो यह कहते हैं कि इस पृथ्वी पर, इस धरातल पर अनन्त का प्रवेश नहीं हो सकता और यदि कैसट ने कुछ किया है तो इतना ही कि उसके द्वार हमारे लिये बन्द कर दिये हैं। तब हम साधिकार यह कहना आवश्यक था कि अनन्त के ये प्रमाण पत्र उपस्थित हैं जिनको कोई भी अस्तित्ववादी स्वीकार करेगा ही ये हैं हमारी इन्द्रियों की साक्षी।

अब हमे एक नये पथ में आना है। हमें यह स्पष्ट करना है कि संसार के विभिन्न प्रदेशों मे, अनेक दिशाओं में धीरे धीरे-अपने चतुर्दिक संसार को सरलतम अनुभू-

तियो से प्रारभ कर दशन और धर्म के उच्चतम सिद्धान्तो तक मनुष्य कैसे पहुँचता है। वास्तव मे अनन्त की धारणा जो मनुष्य की प्रत्येक भावना म बहुत पहले से छिपी पडी थी, वह हजारा रूपो मे किस प्रकार प्रकट की गयी और अत मे वह व्यर्थ अश छोड कर स्वतत्र, परम स्वतत्र हो गयी, उज्जवल हो गयी, निखर उठी।

वह पवित्रता के उस चरम बिदु पर पहुँच गयी जिसे हम मानव विचारो का महान उत्कप कहत है। इस विकास का इतिहास, धम के इतिहास स न कम है न अधिक। इस इतिहास का निकट सम्बध दशन के इतिहास स रहा है और रहना चाहिये। अब हम इस इतिहास को देखेंगे। इसमे हम अनत की भावना का विकास कैसे हुआ इसके उदाहरण मिलेंगे जो विश्वास के योग्य होंगे। यह भावना निम्नतम प्रारम्भ से उच्चतम उत्कप तक कैसे पहुँची इसके प्रमाण मिलेंगे। इस ऊची स्थिति तक पहुँचना सबका काम नही है अनत की धारणा का दुग शिखर, हम केवल उस उच्चता को नीचे से देख सकते है।

सब धर्मों का प्रारम्भिक रूप, मूर्ति पूजा

धम के इतिहास पर जो पुस्तकें गत सौ वर्षों म लिखी गइ हैं उनम से किसी पुस्तक को देखने पर आपको ज्ञात होगा कि उनम अधिकाश मे, कम से कम एक बात सहमति है अर्थात जिसे धर्म कह सकते हैं उसका निम्नतर रूप मूर्ति पूजा है, इसस कम की जिसे उसकी सज्ञा दी जा सके, कल्पना नही की जा सकती है। इसलिये मूर्ति पूजा को सब धर्मों का प्रारम्भ मानने मे कोई भी बाधा नही है। इस एकमत का प्रमाण इतना स्पष्ट मिलता है कि एक ही विचार लगभग एक ही से शब्दा म व्यक्त किया गया है। तब मुझे सदेह होता है और मैं पुन प्राथमिक स्रोता की ओर लौट जाता हूँ। इन परिस्थितियों मे और किस विशेष उद्देश्य से एक सिद्धान्त जो सवमान्य हुआ है उसका प्रारम्भ कैसे हुआ। इसकी खोज करनी है।

मूर्ति पूजा का अन्वेषक, मि० ब्रास

सन् १७६० ई० क पहले मूर्ति पूजा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था। इसी वष मि० ब्रास की लिखी एक छोटी पुस्तक गुप्त रूप म प्रकाशित हुई। मि० ब्रास प्रसिद्ध प्रेसीडेन्ट एव वाल्टेयर क सवाददाता थ। वाल्टेयर काल क प्रसिद्ध व्यक्ति थे। उनका जन्म १७०९ ई० म हुआ और मृत्यु सन १७७० ई० म अपन मित्र, महान मि० बफून क कहन पर मि० ब्रास ने आदिम जातियो का अध्ययन किया एव एतिहासिक और प्राग एतिहासिक काल क मनुष्य का अध्ययन किया। उन्होंने अच्छे स अच्छे वणन एकत्र किये जो उनका नय और पुरान यात्रिया स, नाविका स, मिशनरियो स, व्यापा

रिया और दूरदेशा के अवेषको के लेखो और पुस्तकों मे मिले। सन् १७५६ ई० में 'हिस्टी द नेवीगेशनस अ टेरस आस्ट्रेले, नामक पुस्तक दो जिल्दो में प्रकाशित हुई। अब यह पुस्तक बहुत पुरानी मानी जाती है। इसमे दो नाम आये हैं जो मेरी राय मे प्रथम बार आये हैं, मि० ब्रास ने ही ये नाम दिये हैं। उनकी सब उपाधियों और मूर्ति पूजा का उनका सिद्धान्त यदि कभी नष्ट हो जायगा तब भी ये दो नाम रहेंगे—आस्ट्रेलिया और पालानेशिया।

उसी लेखक की दूसरी पुस्तक है, जिसे लोगो ने पढा कम है किन्तु उनके उद्धरण बहुत दिये गये हैं—'ट्रेट द ला फारमेशन मेकनिक' लैंग्वेजेज' यह सन् १७६६ मे प्रकाशित हुई थी। यह ऐसी पुस्तक है जिसके सिद्धात बहुत पुराने पड गये हैं किन्तु जिसका अध्ययन आवश्यक है। शब्द शास्त्र और तुलनात्मक साहित्य के आज गरम वातावरण मे भी उसका पढना जरूरी है। वह पुस्तक अपने युग के बहुत आगे थी, विशेषत उच्चारण और शब्दो की ध्वनि के विश्लेषण म।

ईस्टन वायजेज (पूर्वीय समुद्र यात्रा मे) और 'मेकानिकल फारमेशन आफ रिलीजन (धम को स्वत निर्माण) इन दो पुस्तको के बीच मे उनकी एक कृति है 'मूर्तियो की पूजा—'वरशिप आफ फेटिश डेटीज।' इसे धम के स्वत निमाण विषय पर निबंध कहना ठीक होगा। मि० ब्रासेज का पुराने पथ के प्रारम्भ और धम की व्युत्पत्ति के सम्बध मे प्रचलित मतो से असन्तोष था। उनका विश्वास था कि निम्नतम आदिवासियों के रीति रस्मो का उनका अध्ययन, विशेषत अफ्रीका के पश्चिमी तटवासियो का, पुर्तगाली नाविको द्वारा प्रस्तुत वर्णन, उस प्राचीन और कठिन समस्या के समाधान में अधिक उपयोगी होगा।

उनका कहना है कि यह प्राचीन पुराण शास्त्र इतना भ्रम-पूर्ण है कि उसमे से तथ्यो की खोज बहुत कठिन है। वह एक अजीब पहेली है उसके समाधान के लिये प्लेटो काल के दार्शनिको ने रूपक स काम लिया था। उनका कहना था प्रकृति के गूढ रहस्यो का आदिवासी जातियो को ज्ञान था। उनकी अधविश्वास पूर्ण धम चर्या मे उनको दशन शास्त्र के सूक्ष्म बौद्धिक विचार दिखाई पडते थे। उनको भी अधिक सफलता नही मिली है जिन्होंने प्रयत्न किया है कि हीब्रो जाति का इतिहास उसके पुराण पथो विचारो और क्रियाओ द्वारा ज्ञात करे। उनका साधन था निराधार तुलनाएँ। हीब्रो जाति का पता दूसरी जातियो को नहीं था और वे अपने सिद्धांतों को दूसरो को बताते नही थ। अलकार, रूपक और उपमायें कुछ भी कर सकती हैं। एक बार रूपक की शैली स्वीकार कर लेने के बाद मनुष्य को सब कुछ दिखाई देता है जैसे बादलो म। प्रकृति किसी को परेशानी में नहीं डालती है। केवल कल्पना और भावना की आवश्यकता है। क्षेत्र बहुत ही विस्तृत और फलप्रद है। हम इच्छानुसार उपलब्धि कर सकते हैं।

उनका विचार है कि कुछ विद्वानों ने जो अधिक निष्पक्ष थे और जिनको उन जातियों का इतिहास भली भांति ज्ञात था जिनके उपनिवेशों ने पहले पूर्व का पता लगाया था, और जिनको पूर्वीय भाषाओं का अच्छा ज्ञान था, अन्त में पुराने पन्थी विचारों का वह कवच हटा दिया है जिसे यूनानियों ने डाल रक्खा था। उनको सच्ची कुंजी मिली है पहले की जातियों के वास्तविक इतिहास से, उनकी सम्मतियों से और उनके शासकों से, सीधे शब्दों के उल्टे टेढ़े अनुवादों से—जिसका अर्थ उनका भी नहीं ज्ञात था जो उसे प्रयोग में लाते थे। और उन अनेक विशेषणों से जो एक ही पदार्थ या व्यक्ति को अनेक रूपों में व्यक्त करते थे।

परन्तु इन कुंजियों से इतिहास की दन्त कथाओं का अर्थ तो समझ में आ जाता है किन्तु इनमें बौद्धिक सिद्धान्त तक की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते हैं और न यही पता लगता है कि पुरानी जातियां के धर्म सम्बन्धी आचार कैसे थे। मूर्तिपूजक धर्म-शास्त्र के ये दो अङ्ग या तो दैवी विभूतियों की पूजा पर आधारित हैं जिसे सैबीज्म कहते हैं या पार्थिव पदार्थों की पूजा पर निहित हैं जिसे फेटिश कहते हैं। अफ्रीका के हब्शियों के बीच में जो गये थे उन्होंने यह नाम दिया था। इसीलिये फेटिशिज्म शब्द का प्रयोग बढ़ा। यद्यपि शुद्ध अर्थ में इसका प्रसङ्ग अफ्रीका के हब्शियों से है मैं इसे व्यापक रूप से उन जातियों के लिये प्रयोग करूंगा जो पशुओं की पूजा करती हैं, रक्षा-कवच, तलिस्मा तावीज धारण करती है और उनमें दैवी शक्ति मानती है। क्योंकि यह निश्चित है कि इन सब विचारों के रूपों का प्रारम्भ एक है और एक सा है। यह धर्म उस समय सारे संसार में प्रचलित था। इसकी समीक्षा अलग से करनी है क्योंकि यह मूर्ति पूजक धर्म अपना प्रसार अलग रखता था।

मि० ब्रास की पुस्तक तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में उस समय उपलब्ध सब सामग्री है जिसे अफ्रीका और संसार की बर्बर जाति के लोग व्यवहार में लाते थे। दूसरे भाग में वह पुरातन काल की जातियों के धार्मिक आचार विचार से इसकी तुलना करता है। तीसरे भाग में वह यह बताने का प्रयत्न करता है कि चूंकि बाह्य आचरण में ये क्रियायें एक समान हैं इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनका मूल मन्तव्य आज के हब्शियों में और यूनानी, मिश्री और रोमन लोगों में एक ही था।

उनका विचार है कि सब जातियों ने धर्म का प्रारम्भ मूर्ति पूजा से किया। जिसका रूप बाद को अनेक देववाद और एक देववाद में परिवर्तित हुआ।

केवल एक ही जाति उनके विचार से इसका अपवाद है—यहूदी भगवान के चुने हुए लोग। मि० ब्रास के अनुसार वे कभी मूर्ति पूजक नहीं थे। दूसरी सब जातियां

को पहले तो दैवी सन्देश, इलहाम मिला फिर वे उसे भूल गयीं और फिर प्रारम्भ किया मूर्ति पूजा से।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि मि० ब्रास के ऊपर अपनी उस समय प्रचलित धार्मिक विचारो न प्रभाव डाला।

यदि उन्होने साहस के साथ मूर्ति पूजा के चिह्न, ओल्ड टेस्टामेंट म खोजे होते, उसी तत्परता के साथ जिससे उन्होंने मिश्र, यूनान आर सब देशो मे खोजे थे, तो निश्चय ही, टेराफिम, यूरिम और थम्मिम या इफोड में—स्वर्ण गुफाओ और कास्य सर्पों की तो बात ही अलग है—उनको पर्याप्त सामग्री मिलती। (जेन-२८-१८-जरेम २-२७७)

किन्तु गत सौ वर्षो मे उनकी मूर्ति पूजा सम्बधी मा यता सर्व मा य हुई है यद्यपि अनेक बातो म मि० ब्रास से मतभेद हुए हैं। वह मान्यता इतनी सरल थी और इतनी स्वाभाविक थी कि पाठ्यक्रम की पुस्तका मे और धार्मिक सदभ पजिकाओ मे उमे शीघ्र ही स्थान मिल गया और मेरा विश्वास है कि हम सब का बौद्धिक आधार वही हो गया है। (१) बहुत दिनों तक मेरा स्वय इस पर विश्वास था और कभी सदेह नही होता था। मुझे इस वास्तविकता को प्राप्त कर आश्चय हुआ कि हम व्यथ ही प्राचीन धार्मिक विचारो के उपलब्ध साहित्य में मूर्ति पूजा के स्पष्ट चिह्नो की खोज करते हैं, वे चिह्न तो धार्मिक विकास के बाद के युग म बहुत अधिक मिलते हैं और भारतीय धम मे तो मूर्ति पूजा के चिह्न बहुत स्पष्ट मिलते हैं जिनका प्रारम्भ अथर्वरण म अधिक है—ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाओ स भी अधिक।

मूर्ति पूजा (फेटिश) के नाम की उत्पत्ति

पुर्तगाल के नाविकों ने, जो ईसाई थे और रोमन कैथलिक थे—अन्तिम शताब्दी मे जब रोमन कैथलिक धम परिवतन की दिशा म था—गोल्डकोस्ट के हब्शियों मे प्रचलित धम का फेटिकोज क्या स्वीकार किया ? उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है। वे स्वय एक 'फेटिको से परिचित थे। ताबीज या तलिस्मों, या माना, क्रास या मूर्तियाँ जिनको पुरोहितो ने पवित्र किया था अपने साथ ल गये थे। एक अथ मे वे स्वय मूर्तिपूजक थे। तब उनके लिये यह स्वाभाविक था कि जब व किसी आदिवासी को एक आभूषण पहने देखन, या किसी बहुमूल्य चमकीले पत्थर को छोडने के लिए तैयार न पाते, या पवित्र अस्थियो के सम्मुख नतमस्तक देखते, पूजा करते देखते तब यह मान लेते कि ये मूर्ति-

(१) मेनस की पुस्तक 'अलगेमिन क्रिटिक जेस्टीट ड रिलीजन' १८,१६ धम के इतिहास पर प्रसिद्ध है उसमे लिखा है। "इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि मूर्तिपूजा बहुत पहले से की जाती है। यह प्राचीनतम तो है ही, देवताओं की पूजा का सर्वव्यापी स्वरूप भी है।'

पूजक हैं। इनकी पूजा करते हैं। यह नहीं सोचते कि ये इन वस्तुओं का केवल संग्रह भी कर सकते हैं। इसी प्रकार की उपासना को वे 'फेटिश' कहते थे। धार्मिक पूजा का और दूसरा स्वरूप उनको दिखाई नहीं पडा इसलिये उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि इन बाह्य पदार्थों की पूजा, मूर्ति पूजा ही हब्शियों का पूर्ण धर्म है।

मान लीजिये कि हब्शियों ने, अपने गोरे आगन्तुकों का क्रिया कलाप देखने के बाद, यह पूछा होता कि उनका धर्म क्या है तब उसका क्या उत्तर होता। उन्होंने पुर्तगाली नाविकों को माला फेरते देखा था, मूर्तियों के सम्मुख धूप जलाते देखा था, वेदियों के सामने नतमस्तक होते देखा था और रङ्ग बिरंगे पताका लिये हुए एक लकडी के क्रास के सामने शीश झुकाते देखा था। उन्होंने उनको अपनी प्रार्थनाएं करते हुए नहीं देखा था। उन्होंने उनको देवताओं को बलिदान देते हुए भी नहीं देखा था। उनका आचरण भी ऐसा नहीं था जिससे यह जान पडे कि देवताओं के भय से वे अपराध नहीं करते हैं। इसलिये उनका यह कहना बिल्कुल स्वाभाविक होता कि उनका धर्म ग्रु ग्रु स की पूजा मात्र है—जिसको पुर्तगाली फेटिको कहते थे उसी के लिये उनका दिया हुआ नाम। उनको एक विराट आत्मा की या आसमान के बादशाह की खबर नहीं थी और न वे उसकी उपासना करते थे।

जहां तक शब्द का सम्बन्ध है यह सब जानते हैं कि पुर्तगाली भाषा मे फेटिको लेटिन के फैक्टीशस के समान है। जिसका अर्थ है—हाथ से बना हुआ। फिर इसका अर्थ हुआ कृत्रिम और बाद मे अप्राकृतिक, जादू पूर्ण और सङ्गीतमय और मोहक। पुर्तगाली भाषा मे झूठी कुंजी को 'चाव फेटिका' कहते हैं और 'फेटिकी' ताबीज और पवित्र घाटियों के अर्थ में मान्य है। मध्य युग में यूरोप मे इन वस्तुओं का व्यापार वैध था, अफ्रीका के हब्शियों में वह आज भी जायज है। इनके निर्माता और विक्रेता को फेटिशरो कहा जाता था और इस शब्द का अर्थ होता था जादूगर, बाजीगर। पुर्तगाली भाषा में यह शब्द कितना व्यवहृत था यह हम इससे जान सकते हैं कि रूप बदलने-बदलते इसको छोटे प्यारे या लघु फेटिश के अर्थ में प्रयोग होने लगा।

इस प्रकार का अर्थ परिवर्तन हम संस्कृत के कृत्य में पाते हैं इटैलियन फट्टूरा में देखते हैं जो १३११ में मध्यकालीन लेटिन में पाया जाता है। इसी प्रकार चार्म में जो प्रारम्भ में कारमन था ग्रीक में कारमन।

'फेटिश' नाम का गलत विस्तार

इस समीक्षा से यह स्पष्ट हो गया होगा कि पुर्तगाली नाविकों ने, जिन्होंने 'फेटिश' शब्द का प्रचलन किया, उसे जड और प्रत्यक्ष वस्तुओं के लिये प्रयुक्त किया था डि० ब्रासेज ने अनधिकार चेष्टा की, इसका अर्थ पशु, पर्वत, वृक्ष और सरिता करने की स्वतन्त्रता बरती। उन्होंने यह कल्पना कर ली कि "फेटिको" शब्द 'फेटम

से सम्बंधित था, इसका आधुनिक शब्द 'फेग' स्त्री लिङ्ग म प्रयुक्त 'फीस' और 'फेटी' (सुदर) हुआ। इसलिये उनको यह कम अनुपयुक्त लगा कि 'फेटिश' शब्द को न केवल कृत्रिम और जड पदार्थों के अर्थ म लें बल्कि वृक्ष, पर्वत, सरिता और पशुओं के अर्थ में भी प्रयोग करें। मि० ब्रासेज ने यह पहला दुर्भाग्यपूर्ण कदम बढाया। इससे उन्होंने धर्म के तीन बिलकुल स्पष्ट रूपों का मिश्रण कर दिया। प्रकृति के पदार्थों की पूजा जैसे सरिता, वृक्ष, पर्वत जो मनुष्य के मस्तिष्क को भय और कृतज्ञता की भावना से प्रभावित करते हैं, दूसरी—पशुओं की पूजा, उदाहरण के लिये प्राचीन मिश्रवासियों द्वारा जो परम सस्कृत थे, और अंत म 'फेटिशिसम' मूर्ति पूजा अथ श्रद्धा जो नगण्य और व्यर्थ की बातों मे थी।

बात इतनी ही नहीं थी। मि० ब्रासेज ने मूर्ति पूजा को प्रतीक पूजा से अलग नहीं रखखा। यद्यपि दोनों म महान अतर है। मूर्ति को प्राय अलौकिक माना जाता है, प्रतीक इसके विपरीत प्रारम्भ म छाया मात्र माना जाता था। किसी का प्रतीक या उसके तुल्य। इसमें सदेह नहीं है कि प्रतीक मूर्ति बन गया किंतु प्रारम्भ म मूर्ति पूजा, वास्तव म प्रतीक पूजा से भिन्न स्रोत से निकली है।

अब मि० ब्रासेज के ही शब्दों म मूर्ति की परिभाषा सुनिये। उनका कहना है कि मूर्तियों म वे सब वस्तुयें आ जाती हैं जिनको लोग श्रद्धा के लिये पसन्द करते हैं, एक वृक्ष, एक पर्वत, समुद्र, काष्ठ खड, शेर की पूछ, पत्थर, घोंघा, नमक, मछली पौधा, फूल, कुछ पशु जैसे गाय बकरी, हाथी, भेड या इन्ही के समान कुछ भी। ये हब्शियों के भगवान हैं उनके पवित्र पदार्थ हैं, तलिस्मा हैं। हब्शी उनकी पूजा करते हैं, अपनी प्रार्थना उनके सम्मुख करते हैं, उनके लिये बलि देते हैं, उनको जलूस म निकालते हैं और महान अवसरों पर उनसे परामर्श लेते हैं। वे उनकी शपथ लेते हैं और शपथ को कभी भग नहीं करते।

ऐसी मूर्तियां हैं जो एक जाति की हैं और ऐसी भी हैं जो व्यक्तिगत हैं। जातीय मूर्तियों का सार्वजनिक सम्मान है। निजी मूर्तियाँ व्यक्तिगत घरों म स्थापित की जाती हैं।

यदि हब्शी वर्षा चाहते हैं तो मूर्ति के सामने एक खुला पात्र रख देते हैं। जब वे लडने जाते हैं जब अपने अस्त्र शस्त्र उसके पास रख देते हैं। यदि उनको मांस या मछली की आवश्यकता होती है तो शुष्क हड्डियां मूर्ति के सामने रख दी जाती हैं। जब उनको खजूर की मदिरा को आवश्यकता होती है तब वे मूर्तियों के सम्मुख कैंची रख देते हैं जिससे खजूर के वृक्ष मे छेद किये जाते हैं। यदि उनकी प्रार्थनाये सुन ली जाती हैं तो सब ठीक होता है। यदि वे नहीं सुनी जाती तो वे समझते हैं कि मूर्तियां अप्रसन्न हैं और वे उनको प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं।

मि० ब्रासज की मूर्ति पूजा की परिभाषा का यह सारांश है जिसे उनकी राय में उनका धर्म कहा जा सकता है। उनकी राय में समस्त प्राचीन महान जातियों का प्रारम्भ मे यही धर्म था जिसका विकास होने पर अनेक देववाद और एक देववाद प्रचलित हुआ।

आदिम जातियों के अध्ययन की उपयोगिता

यह विचार बिलकुल ठीक है कि सभ्य जातियाँ उच्चतम ज्ञान की उपलब्धि के पहले क्या थी इसे समझने के लिये आदिम जातियों का अध्ययन आवश्यक है, उनकी आज की स्थिति समझना भी जरूरी है। भूगर्भ शास्त्र ने हमें यह सिखाया है—मनुष्य जाति के विकास का स्तर और चिह्न क्या रहा है। जीव शास्त्र की अपेक्षा भूगर्भ शास्त्र मे परिवर्तनशील शिलाओं को आदिम कालीन शिलायें समझने का भ्रम कम है। हरबर्ट स्पेंसर की टिप्पणी इस सम्बन्ध मे बहुत उपयुक्त है "यह निर्णय करना तब बहुत ही सरल होगा कि कौन सी धारणाएं वास्तव में आदिम कालीन हैं जब हमें वास्तव में आदिम कालीन मनुष्यों का विवरण प्राप्त होगा। किन्तु इस सन्देह के कारण हैं कि वर्तमान समय के निम्नतर मनुष्य जिनके सामाजिक दल बहुत ही सीधे हैं वे भी आज वैसे ही हैं जैसे प्रारम्भ मे थे। सम्भवत उनमे से कुछ के, सबके न सही पूर्वज उच्च स्तर के थे और उनके विश्वासों में कुछ ऐसे हैं जो उस उच्च अवस्था मे विकसित हुये थे। आज पतन का जो सिद्धांत प्रायः माना जाता है वह समुचित नहीं है, किन्तु विकास का सिद्धांत भी जो शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाता है उचित नहीं जान पड़ता। यदि एक ओर यह विचार प्रमाणों के आधार पर नहीं हैं कि सभ्यता का अभाव ही जंगलीपन पैदा करता है तो दूसरी ओर इसका भी प्रमाण नहीं है कि आज का जंगलीपन पहले भी इसी निम्न कोटि का था। यह बहुत सम्भव है कि पतन और उत्थान प्रायः होते रहे हैं।

वंश-परम्परा शास्त्रज्ञों के लिये यह आवश्यक चेतावनी है जो यह समझते हैं कि उनको पपुआ फ्यूजियन या अदमान द्वीप वासियों के बीच कुछ वर्ष रहने से ही यह ज्ञात हो जायगा कि रोमन और ग्रीक लोगों के पूर्वज आदि में कैसे रहे होंगे। वे आज के जंगली मनुष्य के सम्बन्ध में ऐसी बातें करते हैं मानो उसे आज ही संसार मे भेजा गया है। वे भूल जाते हैं कि एक जीवित प्राणी के रूप में वह हम सब से एक दिन भी छोटा नहीं है। (१) आज वह हम अधिक स्थिर दिखायी पड़ सकता है किंतु वह भी

(१) जंगली लोग उतने ही पुरातन काल के हैं जितने सभ्य लोग। उनको आदिवासी या जंगली कहना ठीक नहीं है। ए० एम० फेमर ग्रेन एकाडेमी २० जुलाई १८७८।

तन और अभ्युदय के चक्र मे होकर गुजरा है और आज इस स्तर पर पहुँचा है। फिर भी यदि यह सिद्ध भी कर दिया जाय कि प्रत्येक वस्तु म निरतर विकास हुआ है तब भी कोई यह नही कह सकता कि धम के सम्बध मे भी यही बात है।

धर्म मे प्रायः पतन के चरण

ससार का इतिहास बतलाता है कि धम का पतन प्राय बारम्बार हुआ है। एक अर्थ म अनेक धर्मों का इतिहास उनकी आदिम शुद्धता से पतन का इतिहास कहा जा सकता है। प्रत्येक स्थल पर, कोइ यह नही कहगा कि धर्म सम्यता क साथ कदम मिला कर चला है।

इसलिये यह स्वीकार करन पर भी कि ग्रीक, रोमन, केल्ट, और जरमन लोग, इतिहास के प्रथम प्रभात काल मे वैसे ही रहे होंगे जैसे आज के अफ्रीका की कुछ हब्शी जातियाँ हैं, उनक आयुध, वस्त्र रीति, रिवाजों, को देखते हुये—इस निष्कर्ष पर पहुँचना ठीक नही है कि उनका धर्म भी वैसा ही रहा होगा। उन्होंने भी मूर्ति पूजा की होगी, पत्थर और अनेक प्रतीक पूजे होंगे। इसके अतिरिक्त और कुछ नही।

हम देखते हैं कि अब्राहम, जो भी जो घुमक्कड मात्र थे, ईश्वर के सम्बध म एकता की आवश्यकता जान पडी थी। सालोमन ने जो पृथ्वी के प्रसिद्ध राजाओ में गिने जाते हैं चेमोश और मोलोश क लिये ऊचे स्थान बनवाये थे। ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में यूफेमस हेराक्लेतेज की वाणी सुन रहा था जिसे यूनान का परम बुद्धिमान व्यक्ति माना जाता है। इसक एक हजार वष बाद उसी नगर मे सैरिलिस और यूफेमस की कौंसिल के झगड और व्यथ का वितडावाद सुनाई पडा।

हिन्दुओ ने हजारो वष पहले उपनिषदो मे दशन के उच्चतम विचार प्राप्त कर लिये थ, वही अब अनेक स्थानो में गाय और बदरों की उपहासास्पद पूजा म लगे हैं।

जङ्गली जातियों के धर्म के अध्ययन मे कठिनाई

किन्तु एक दूसरी और बडी बाधा और है। यदि हम यह मान लेते हैं कि आज के हब्शी और जगली लोगों का धर्म यूनान और रोमन के पूवजों से निकला है तो क्या हमने कभी यह प्रश्न अपने स पूछा है कि हम इन जगली कही जाने वाली जातियो की धार्मिक सम्मतियो के बारे मे कितना जानत हैं।

सौ वष के पहले जगली जातियो के धम सम्बध मे लोगो का कुछ भी कहना क्षम्य था। हम उन सब को हेय मान सकते थे। उस समय आदिम जाति वाले जिन्हे जगली समझा गया था, घृणा से देखे जाते थे उनको विचित्र जन्तु माना जाता था। उनके सम्बध म जो भी कर दिया जाय उस पर सब का सहज ही विश्वास हो जाता था। उनको खिल्त मिल्त कर दिया गया था। उनके सम्बध की सब बातें अत्यन्त

मिश्रित थी जिस प्रकार हमने सुना है पच में उच्च आसन से नियांडर और स्काम का उदाहरण दिया गया है । उनको जमनी की नियालोजी—का प्रतिनिधि माना जाता था । एक हब्शी का दूसरे स कोई भी भेद नहीं माना जाता था । आन्तिम जाति बाद सब, इसी प्रकार एक समान माने गये ।

वैज्ञानिक वंश परपरा शास्त्री अब ऐसी सार्वजनिक भ्रांतियो म नहा पडन हैं । साधारण भाषा म हम हब्शी शब्द का प्रयोग काले पुरुषों के लिये कर सकते हैं किन्तु जब हम वैज्ञानिक भाषा बोलते हैं तो हब्शी का अर्थ सीमित होता है, सनेगाल और नाइगर के बीच मे अफ्रीका के पश्चिमी तट पर बसने वाली जातियाँ जो चाद झील तक विस्तृत हैं और उसके आगे कहाँ तक है यह ज्ञात नहा । जब निम्नतम जाति के अर्थ म हब्शी शब्द का प्रयोग होता है तब इसी पश्चिमी तट वासी जाति का अभिप्राय होता है, *वही जिससे यूरुप के लोगो ने यह पहल मूर्ति पूजा की भावना प्राप्त की ।*

अफ्रीका के वश-परम्परा शास्त्र पर यहाँ समीक्षा नहा करनी है जिस आधुनिकतम यात्रियो ने स्थापित किया है । वेटज का वर्गीकरण पर्याप्त होगा । इसम हम सनेगाल और नाइगर के हब्शियों म और उनके निकटतम पडोसियो मे भेद जान सकग ।

सबसे पहले, अफ्रीका के उत्तर म बसने वाली बबर और काप्ट जातियाँ । ऐतिहासिक उद्देश्य से उनको अफ्रीका की अपेक्षा यूरुप का कहना अधिक उचित होगा । *इन जातियो पर मुसलमानी फौजो ने विजय पायी थी और बहुत शीघ्र ये अपने विज*ताओ में घुल मिल गयी । उनको प्राय मूर कहा जाता है । हब्शी कभी नही । दूसरी, *वे जातियाँ जो पूर्वी अफ्रीका मे बसती हैं । नील का देश, भूमध्य रेखा तक । ये अबी*सीनियानुबियन हैं और भाषा की दृष्टि से सैमिटिक परिवार स कुछ अन्तर स सम्बन्धित हैं ।

तीसरे, फुलाज जो सेन्ट्रल अफ्रीका के अधिकांश भागो म फैले हैं । वे अपने को प्रत्येक स्थान पर हब्शियो से अलग अनुभव करते हैं ।

चौथे, भूमध्य रेखा से नीचे हाटेन टाट तक बसने वाली काफर और कांगो *जातियाँ जो अपनी परिष्कृत भाषा बोलती हैं जिनके धार्मिक विचार बहुत उच्च होते* हैं और शारीरिक गठन से भी हब्शी कही जाने वाली जाति से बहुत भिन्न होता हैं । और अत मे हाटेन टाट वासी जो दूसरी सब जातियो से भिन्न होते हैं उनकी भाषा और शारीरिक गठन भिन्न होता है ।

अफ्रीका मे बसने वाली जातियो के ये साधारण भेद हैं । यदि हम सबको हब्शी कहेंगे तो वैसा ही होगा जैसे यूनान वाले सीथियां वालो के लिये और रोम वाले, सीजर के पहले केल्ट लोगो के बारे मे ढीली भाषा का असतुलित शब्दो मे प्रयोग करते थे । वैज्ञानिक चर्चा मे या तो हब्शी शब्द का प्रयोग ही नही करना चाहिये या सेनेगाल से

नाइगर तक बारह अर्शांश और भीतर प्रदेश में बृव भी अज्ञात देश तक रहने वाली जातियों को ही हब्शी कहना चाहिये। उनके पड़ोसी हैं बर्बर, नूबियन और काफर जातियाँ।

किन्तु अब वंश परम्परा शास्त्री अफ्रीका वासियों को नीग्रो या निगर नहीं कहते, फिर भी इतिहास के विद्यार्थियों को यह विश्वास दिलाना कठिन है कि सब जातियों को एक ही प्रकार की जंगली जातियाँ नहीं कह सकते और हमको तुलना करने के पहले इनमें भेद कर लेना चाहिये। अफ्रीका, अमेरिका या आस्ट्रेलिया में जहाँ भी लोग जंगली जातियों की चर्चा करते हैं वहाँ उनको इस शब्द की परिभाषा बताने में बहुत कठिनाई होती है। वे केवल इतना ही कहते हैं कि जंगली जातियाँ हम से भिन्न हैं। इन जंगली जातियों को हम उसी तरह मानते हैं जैसे यूनान वाले बारबेरियन लोगों को मानते थे। किन्तु जिस प्रकार यूनान वालों ने देखा कि बारबेरियन लोगों की कुछ जातियों में ऐसे गुण होते थे जिन पर उनको स्वयं ईर्ष्या होती, उसी प्रकार हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि इन जंगली जातियों में कुछ का धर्म और जीवन-दर्शन ऐसा है जिसकी तुलना प्राचीन काल की सभ्य कही जाने वाली और सभ्य बनाने वाली जातियों के धर्म और जीवन-दर्शन से अच्छी तरह की जा सकती है।

कुछ भी हो जंगली लोगों के सम्बन्ध से प्रचलित धारणा में पर्याप्त संशोधन और भेद की आवश्यकता है। पुरातन शास्त्र की कोई भी शाखा इतनी कठिनाइयों से पूर्ण नहीं है जितनी कि जंगली कही जाने वाली जातियों की समीक्षा।

जङ्गली जातियों की भाषा

इन जंगली कही जाने वाली जातियों के सम्बन्ध में कुछ प्रचलित भ्रांतियों का अध्ययन आवश्यक है। कहा जाता है कि उनकी भाषा हमारी से निम्नस्तर की है। इस क्षेत्र में भाषा शास्त्र ने बहुत अच्छा काम किया है। उससे यह स्पष्ट हो गया है कि कोई भी जीवित मनुष्य बिना भाषा के नहीं है और हम जानते हैं कि इसका अभिप्राय क्या है। वे सब कहानियाँ कि बिना भाषा वाली जातियाँ भी होती थीं या जिनकी भाषा पक्षियों की बोली जैसी होती थी न कि मनुष्यों की साभिप्राय भाषा, अब वंश-शास्त्र की दंत कथाओं में शुमार की जाती हैं।

अधिक आवश्यक यह है कि जंगली कही जाने वाली जातियों की भाषा पूर्ण और कहीं कहीं अधिक पूर्ण है उनका व्याकरण बना है, उनके शब्द कोष में इतने अधिक और सुन्दर नाम हैं जिन पर किसी भी कवि को ईर्ष्या हो सकती है।

यह ठीक है कि व्याकरण के रूपों की बहुलता और नामों की अधिकता, विशेष पदार्थों के लिये, तार्किक दुर्बलता और सशक्त सिद्धांतीकरण के अभाव के चिह्न हैं।

ये भाषायें जिनके कारक किसी पदार्थ की निकटता व्यक्त करते हैं एवं पदार्थ के चतुर्दिक क्रिया का वर्णन करते हैं, किसी पदार्थ तक पहुँचते हैं या उसकी ओर बढ़ते हैं किन्तु जिनमे कर्म कारक नहीं होता, उनके समृद्ध होने पर भी उनको दरिद्र ही कहा जायगा। उनके शब्द कोष के लिये भी यही बात है। उसमे सब प्रकार के पशुओं के नाम हो सकते हैं और यदि पशु नर या मादा है, बुड्ढा या जवान है तो मनुष्य, घोड़ा, शेर, खरगोश के पैरो के लिये विभिन्न नाम हो सकते हैं किन्तु उत्तम पशुमात्र के लिये कोई नाम नहीं है या समाज या समूह के लिये नाम नहीं है। यहाँ पर भी दोनो ओर लाभ और हानि है। किन्तु कोई भी भाषा, किसी दृष्टि से कितनी ही अपूर्ण क्यों न हो सूक्ष्म विचारो की द्योतक है पपुआ और वेद्दाम की भाषा भी और उसके समान भाषा उत्पन्न करने मे बड़े बड़े दार्शनिको की कुशलता काम न देगी। अनेक स्थलो पर जगली कहे जाने वाली भाषा का व्याकरण इस बात का प्रमाण है कि पहले समय मे इन लोगों की मानसिक संस्कृति उच्च स्तर की थी।

और यह बात भी नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक भाषा की अपनी क्षमता होती है यदि उसका उपयोग किया जाय और अब तक ऐसी कोई भी भाषा नहीं मिली है जिसमे 'प्रभु की प्रार्थना' का अनुवाद न हो सके।

जङ्गली लोगों के अङ्क

बहुत दिना तक जङ्गली कही जाने वाली जातियो के निम्नलिखित स्तर के प्रमाण मे यह कहा जाता था कि उनको तीन, चार या पाँच के आगे गणना नहीं आती थी। अब हमे उन विद्वानो (१) की ओर देखना है जो इसका प्रमाण दे। यदि यह तथ्य है, तो यदि इसका अस्तित्व सिद्ध हो जाय तो हम भेद करना होगा। सम्भव है ऐसी जातियाँ हो जिनको हाथ की पाँच उगलियो के आगे गणना न आती हो और वे सब को अनेक कह देते हो। यद्यपि मुझे बहुत सदेह है कि ऐसी जातियाँ हैं जब तक कि वे नितांत मूर्ख न हो जो पाँच, छै या सात गायो का भेद न कर सकें।

आइये जरा इस वर्णन पर ठीक से विचार करें कि दो या तीन के आगे उनको गिनती नहीं आती थी। उदाहरण के लिये अलीपोन्स के बारे मे कहा जाता था कि तीन के आगे उनके यहाँ अङ्क नहीं हैं। हमे अब क्या पता लगा है? वे चार को प्रकट करते हैं तीन मे एक जोड़कर। इससे तो उनकी मानसिक दुर्बलता नहीं प्रकट होती है वरन् विश्लेषण की क्षमता जान पड़ती है। चार को वे दो हाथो और दो पैरों से या दो आँखों और दो कानों से व्यक्त करते हैं। जङ्गली लोग चार को दो और दो कहते थे। उनपर

(१) दहोमस के सम्बन्ध मे थी बर्टन ने 'अन्थरोपोलाजिकल' सोसायटी के मेमायर्स मे लिखा है—कौड़ियों के द्वारा लोग शीघ्र गणना कर लेते हैं। योरुबास लोगों की कहावत है 'तुम नौ से नौ का गुणा करना नहीं जानते' यानी 'तुम मूर्ख हो'।

यह आरोप नहीं लग सकता था कि वे पहले से निर्धारित बात को मान लेते हैं। वे जानते थे कि चार को दो और दो कहना विश्लेषणात्मक निर्णय है।

हमें इस बात का आग्रह नहीं करना चाहिये कि हमारी जाति मानसिक क्षमता मे श्रेष्ठ है। कुछ बहुत बडे विद्वानो ने, मैं नहीं कह सकता कि यह ठीक है या गलत, आर्य लोगो के चार के लिये शब्द को सस्कृत के कातुर (?) से निकला माना है। लेटिन का काट्टर तीन से। 'टार के पहले का, लेटिन का क्यू। इसी तरह 'कातुर' सस्कृत मे भी प्रारम्भ मे एक और तीन माना गया होगा।

यदि कुछ अफ्रीका की जातियाँ सात को, पांच और दो से या छै और एक से प्रकट करती हैं तो हम उनको नीचे से नीचे स्तर की क्यो मान लें। जब कि फ्रांसवासी जो यूरुप की सम्यता के प्रमुख हैं नब्बे को चार बीसी और दस कहते हैं। रोमवासी उन्नीस को 'अनडेवो गिंट, कहते हैं। (१)

यह ठीक नहीं है। हमे दूसरो की माप उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार हम अपनी करते हैं। फैसला देने के पहले हमे समझ लेना चाहिये।

जङ्गली जातियों मे इतिहास नहीं

जङ्गली कही जाने वाली जातियो के सम्बध म दूसरा आरोप यह है कि उनका कोई इतिहास नही है। उनको साल के दिन गिनना आता ही नही, जीवन के वष गिनना तो और भी कठिन है। कुछ हब्शी जातियाँ ऐसा करना पाप समझती हैं इसे ईश्वर मे विश्वास की कमी मानती है। (२)

उनको लिखने का ज्ञान नहीं है इसलिये जिसे इतिहास कहते हैं वह नही है। मैं इसे मानता हूँ कि भूत और भविष्य के सम्बध मे यह धार असावधानी सम्यता की निम्न कोटि का चिह्न है किन्तु यह आरोप जङ्गली कही जाने वाली सब जातियो पर नही लगता है। उनमे से बहुत से लोग अपने पिता, प्रपिता और पूर्वजो के नाम और काम स्मरण रखते हैं। आश्चर्य तो यह है कि लिखना न जानने पर भी उन्होने अपनी परम्पराये प्राय अनेक पीढियो तक सुरक्षित रक्खी हैं।

---

(१) तूरानियन भाषाओ के मेल मे, जङ्का के तुलनात्मक विवरण म, ऐसे बहुत उदाहरण मिलेंगे कि दस से एक कम को नौ और दो कम को आठ माना गया है। श्री मास्ले की पुस्तक 'एडमिरैल्टी आईलैंड के निवासियों पर पृष्ठ १३ और श्री मैथ्यूज को हिन्दुस्तान प्रायर पृष्ठ ११८ को देखिये।

(२) उस देश में वस्तुएँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं जिसमें भवन शीघ्र गिर जाते है जहाँ जीवन थोडा है, जहाँ ऋतु परिवर्तन उल्लेखनीय नहीं है जिससे वे महीनो के आगे गिनने की सामग्री नही रखते। श्री आर० एच० कार्डिंगटन नारफाक आईलैंड जुलाई ३,१८७७।

रेवरेंड एस० जे० ह्विटमे की यह टिप्पणी एक पत्र से दी जाती है—इन जातीय परम्पराओ के संरक्षक भूरे पोलीनेशियन लोगो मे प्राय कुछ परिवारो के होते थे, उनका यह कर्त्तव्य था कि पुराण कथाओ को और गानो को जो उनके संरक्षण मे दिये गये थे पीढियो तक वैसे ही रक्खे और उनको वितरित करे। इसमे परिवारो की प्रतिष्ठा निहित होती थी। इन परिवारो के अग्रज पुत्रो का यह पुश्तैनी कर्त्तव्य था कि इनको प्राप्त कर, सुरक्षित रक्खे और दूसरो मे ठीक ठीक मुखाग्र ही वितरित करे। यह केवल पवित्र कर्त्तव्य ही नही था ऐसी पुराण कथाओ और गानो को सरक्षित रखने का अधिकार सावधानी से सम्मानपूर्ण सुविधा के रूप मे बचाया जाता था। इनको लिखित प्राप्त करने मे यही बाधा थी। इसका ख्याल रक्खा जाता था कि उनको मुक्त रूप से या बहुत ज्यादा एक समय मे न कहा जाय।

कभी-कभी इनको जानबूझ कर बदल दिया गया है जिससे सुनने वालो को भ्रम हो जाय। मिशनरी और दूसरे विदेशी निवासियो को जिन्होने इन पुराण कथाओ मे रुचि दिखाई थी प्राय इसी प्रकार धोखा हुआ है। उसी व्यक्ति का विश्वस्त विवरण मिल सकता था जो भाषा का सम्यक् ज्ञान रखता था, जो लोगो के स्वभाव से पूर्ण परिचित था और जिसे लोगो का विश्वास प्राप्त था। इन भडारो के सरक्षको से वह प्रतिज्ञा करता था कि द्वीपो मे इनको सार्वजनिक रूप से नही प्रचारित किया जायगा। तभी इनकी प्राप्ति सम्भव थी।

इन कठिनाइयो के होते हुए भी कुछ मिशनरी और दूसरे लोगो को सफलता मिली है। उन्होने चुने हुए गीतो और पुराण कथाओ का बडा संग्रह प्राप्त किया है और मुझे आशा है कि शीघ्र हम उनको एक सूत्र मे बाँध कर पोलीनेशिया की तुलनात्मक पुराण कथाओ का एक बडा संग्रह निर्माण कर सकेंगे।

इनमे से अधिकांश पुराण कथाए और गीत प्राचीन रूप रखते हैं जिनमे ऐसी कहावतें और शब्द है जो वर्तमान पीढी का ज्ञात नहीं है। उनको जिस प्रकार कठस्थ करके और ठीक वैसा ही वितरित किया गया है उसका वर्णन आवश्यक है। कुछ द्वीपो मे, सब मुख्य कथाए, वास्तव मे जिनका कुछ भी मूल्य है दो रूपो मे है—गद्य और पद्य। गद्य मे कथा सरल ढङ्ग से कही गयी है। पद्य मे गति और ताल भी है। पद्यात्मक रूप गद्य के सरल और आसानी से बदल जाने वाले रूप पर अंकुश रखता है गद्य का रूप बदल देना या उसमे कुछ घटा बढा देना सरल होता है। उस तब तक विश्वासनीय नही माना जाता है जब तक पद्य मे उसकी उसी रूप मे पुष्टि न हो। पद्य के रूप मे परिवर्तन या क्षेपक आसानी से पकडा जा सकता है। इस प्रकार लोगों को यह मालूम हो गया है कि गद्य की अपेक्षा पद्य का रूप आसानी से याद किया जा सकता

है और ऐतिहासिक पुराण कथाओं की प्रामाणिकता प्राप्त करने के लिये वह अधिक उपयोगी है। (१)

हमारे इतिहास सम्बन्धी विचार दूसरे हैं। मिश्र और बेबीलन के राजाओं की स्मृति कायम रखना, उनके युद्धों की तारीखें रट कर याद रखना, उनके मन्त्रियों के नाम गिनाने की योग्यता रखना, उनकी रानियों की और रखैल स्त्रियों की संख्या जानना, निश्चय ही सिविल सरविस की परीक्षा के लिये उपयोगी हो सकती है किन्तु मैं इसे नहीं मान सकता कि यह एक सच्ची संस्कृति का लक्षण है। सुकरात जङ्गली नहीं था किन्तु मुझे सन्देह है कि वह अपने शासकों के नाम, तारीखें और वंश इतिहास बता सकता था। मिश्र और बेबीलन के राजाओं की तारीखें तो वह शायद ही बता सकता था।

यदि हम इस पर विचार करें कि हमारे समय में इतिहास कैसे बनाया जाता है, तो हम उनकी भावनाएँ समझ सकेंगे जो यह नहीं मानते थे कि उग्र जातियों का हर एक कत्ले आम, कूटनीतिज्ञ व प्रत्येक षडयन्त्र और शाही घरानों की प्रत्येक शादी की दावत का वर्णन करना और लेख बद्ध करना जरूरी था जिससे भावी पीढ़ी को लाभ हो। हम जितना ही अधिक गम्भीरता से देखते हैं कि इतिहास कैसे रचा जाता है उतना ही कम हम पाते हैं कि इतिहास का जो मूल पहल माना जाता था वह है। मान लीजिये कि लार्ड बेक्स फील्ड, श्री ग्लैडस्टन और प्रिंस गोट शेक्व गत दो वर्षों का इतिहास लिखें तो भावी पीढ़ी क्या विश्वास करेगी। भावी पीढ़ी स्वयं उनको क्या समझेगी जिनको निष्पक्ष समीक्षकों ने या तो उच्च विचार के देश भक्त कहा है या स्वार्थी एक दलवादी केवल घटनाओं का वर्णन नहीं, जैसे बलगेरिया में किये गये अत्याचार दो प्रत्यक्ष दर्शियों द्वारा एक तरह का नहीं हो सकता *। तब हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि सम्पूर्ण जाति ने, हिन्दुओं के इतिहास को साधारण अर्थ में हेय दृष्टि से देखा और सम्राटों के नामों और तारीखों से अपनी स्मृति को लादने के स्थान पर उन्होंने यह अधिक उचित समझा कि विचार के क्षेत्र में जो सम्राट हुए हैं उनका इतिहास जानें और उन युद्धों को याद रखें जिनमें सत्य की निश्चित विजय हुई है।

जङ्गली लोगों में नैतिकता नहीं

अन्त में, सब जङ्गली जाति के लोग नैतिक सिद्धान्तों से हीन माने जाते थे। मैं रूसो की भांति जङ्गली लोगों का वर्णन नहीं करना चाहता और न इससे इन्कार करता हूं कि हमारा सामाजिक और राजनीतिक जीवन उससे आगे है जो अफ्रीका और

(१) इसमें बौद्ध साहित्य पर विचित्र प्रकाश पड़ता है। उसमें हम एक ही कथा का दो बार वर्णन पाते हैं। एक बार छन्द में (गाथा) और फिर गद्य में।

अमेरिका की खानाबन्हारा जातियों का था। किन्तु मेरा कहना इतना ही है कि जीवन के प्रत्येक पहलू पर हमको उसी पहलू से विचार करना चाहिये।

जङ्गली लोगो की अपनी बुराइयाँ हैं किन्तु उनकी अच्छाइयाँ भी हैं। अगर हब्शी एक काली पुस्तक, गोरे लोगों के विरुद्ध लिख सकते तो हम उसमें कुछ ऐसे अपराध न मिलते जो जंगली लोगों के लिये विभिन्न है। सत्य यह है कि हब्शी और गोरे लोगों की नैतिकता की तुलना हो ही नही सकता है। उनके जीवन के दृष्टिकोण विभिन्न हैं। जिसे हम गलत समझते है उसे वे गलत नही समझते। उदाहरण के लिये हम बहुपत्नी प्रथा का निन्दा समझते हैं, यहूदी और मुसलमान उसकी छूट देते हैं। जंगली जातियों के लिये वह प्रतिष्ठा पूर्ण है और मुझे इसमें सन्देह नही है कि उनकी सामाजिक स्थिति मे वह ठीक है। वे लोग यूरप के उपनिवेश वासियों के नैतिक आदर्शों को नही मानते है और उनके लिये उनके जीवन की विचारधारा में प्रवेश करना बहुत कठिन जान पड़ता है।

एक साधारण जंगली कही जाने वाली जाति के व्यक्ति की समझ मे नही आता है कि हम लोग इतनी दौड़ धूप, परेशानी क्यो मोल लेते हैं। दिन रात संग्रह की चिन्ता करते है और अधिकार जमाने की चेष्टा करते हैं। शान्ति से जीवन का आनन्द क्यो नही लेते। एक भारतीय प्रमुख ने एक यूरोपियन से कहा था 'अरे भाई, तुम कुछ न करने का आनन्द और कुछ न सोचने का आनन्द नही जान सकोगे और निद्रा के बाद यही सुख का स्वाद देने वाली अवस्था है। हम अपने जन्म से पूर्व ऐसे ही थे और मृत्यु के बाद भी पुनः हम ऐसे ही रहेंगे। टहिटी की लड़कियो ने जिन्हें बुनाई का काम सिखाया जा रहा था यह कह कर करघे छोड़ दिये कि "हम लोग परिश्रम क्या करें?" क्या हमारे खाने के लिये रोटी के फल और नारियल काफी नही हैं? आप लोगो को जहाज और सुन्दर वस्त्र चाहिये किन्तु हमको उतने से ही सन्तोष है जो हमारे पास है।

ऐसी भावनाएँ वास्तव में यूरोपियन नही है किन्तु इनमें एक दर्शन है जो ठीक भी हो सकता है और गलत भी। इसे केवल जंगली कहकर टाल नही सकते।

हममे और जंगली मानी जाने वाली जातियों में मुख्य अन्तर यही है कि वे जीवन मे संग्रह को बहुत कम महत्व देती है। हमे इस पर आश्चर्य नही करना चाहिये। बहुत कम वस्तुएँ हैं जो उनको जीवन के बन्धन में रखती हैं। एक स्त्री या गुलाम को, अफ्रीका या आस्ट्रेलिया के अनेक भागो में मृत्यु ही मुक्ति दे सकती है यदि उनको पक्का विश्वास हो कि दूसरा जन्म इसी प्रकार का नही होगा।

वे बच्चो के समान हैं जिनके लिये जीवन और मृत्यु एक स्थान से दूसरे स्थान को यात्रा मात्र है। बुड्ढे लोग, जिनके साथी कब्र के उस पार होते हैं वे जाने के लिये सदैव तैयार रहते हैं। इतना ही नहीं वे इस स्नेह का भ्रम समझते हैं कि जब जीवन

उनके लिये भार स्वरूप हो जाय तब उनके बच्चे उनको मार डाले । यह हमको अस्वाभाविक लगता होगा किन्तु जब हम यह जान लेते है कि खानाबदोशों मे जो चल फिर नहा सकते वे जगली पशुओ के शिकार हो जाते हैं या भूखा मर जाते हैं तब उतना अस्वाभाविक नही जान पड़ता । जब तक हम इन सब बातो पर पूरा विचार न करे तब तक जगली जातियो के धर्म और उनको नतिकता पर निष्पक्ष निणय नही कर सकते ।

जङ्गली जातियों म व्यापक धर्म

जब मि० ब्रास ने लिखा था तब वह आश्चय ही था कि काले लोगो मे कोई धर्म या नतिकता थी चाहे वह मूर्तियो और पत्थरो की पूजा ही हो । अब हम उनके सम्बन्ध म दूसरे निण य दत हैं और इसका श्रेय मिशनरी लोगो को है जिन्होंने जगली लोगों के बीच मे अपना जीवन बिताया है, उनकी भाषाए सीखी हैं, उनका विश्वास प्राप्त किया है और जिन्होने कुछ पूर्वाग्रह रखते हुए भी उनके चरित्र क उज्वल अशो को निष्पक्ष रूप से समभा है । हम यह दावा कर सकते हैं कि तमाम खोजो के होने पर भी कही भी ऐसे जीवित पुरुष नही मिले जिनके पास उनका धर्म न हो या इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि सब म ऐसा विश्वास मिला है जो आँखा से दिखाई देने वाले ससार के आगे के अस्तित्व पर है, जो कुछ है अवश्य ।

इस वणन के लिये पूरी साक्षी प्रस्तुत करना कठिन है इस लिये मैं केवल वह निणय द रहा हूँ जो धम विज्ञान के एक दूसर विद्वान प्रोफेसर टेलर ने दिया है । यह इस लिये भी कि उनकी सम्मतियाँ मुझसे बहुत भिन्न हैं । उनका कहना है कि यह निष्कर्ष कि ऐसी जातियाँ और राष्ट्र हैं जिनका कोई धम नहा है अपूरा समीक्षा है या विचारो का भ्रम है । अभी तक ऐसी कोई जाति या राष्ट्र नही मिला जिसम किसी उच्चतर सत्ता क अस्तित्व पर विश्वास न हो । जिन यात्रियो ने पहल यह कहा था उनको बाद म, तथ्य प्राप्त हुय और उनका कहना निराधार सिद्ध हुआ । इस लिये यह कहना, साधारण भाषा म, बहुत हा उचित है कि धम मानवता का सर्वव्यापी चिन्ह है ।

शिक्षित जातियों के धर्म का अध्ययन

जब ये पुराने पूर्वाग्रह हट गये और जब यह समझ लिया गया कि अफ्रीका अमेरिका और आस्ट्रेलिया की विभिन्न जातियो को सबको एक साथ ही जगली जातिया नही कहा जा सकता तब इन जातियो क अध्ययन की असली कठिनाई सामने आयी, विशेषत उनके धम के अध्ययन मे उनके धार्मिक विचारो की समीक्षा में ।

हिन्दू, ईरानी, यहूदी, यूनानी और रोमन लोगों के धम का वर्णन, बिलकुल ठीक ठीक और धर्माचार को समझना और समझाना और भी कठिन है । जिसने भी

धम के इतिहास क्षेत्र मे कार्य किया है वह जानता है कि जीवन के किसी भी महत्वपूण प्रश्न पर यूनानी, रोम वाले, हिन्दू और ईरानी लोगो के विचारो को स्पष्ट जान लेना कितना कठिन। फिर भी हमारे सामने पूरा साहित्य है जो पविन और अपवित्र दोना है, हम साक्षी ले सकते हैं और दोना पक्षो की बातें सुन सकत हैं । यदि हमस पूछा जाय कि यूनान वासी मुख्यत या उनकी एक जाति और वह जाति भी एक निश्चित समय मे भविष्य के जीवन मे विश्वास करती थी या मृत्यु के बाद दड और पुरस्कार मे विश्वास करती थी क्या वह व्यक्तिगत देवताओ की श्रेष्ठता स्वीकार करती थी या निवयक्तिक भाग्य का मानती थी, पूजा और बलिदान की आवश्यकता समझती थी, मदिरा और पुरोहितो के पवित्र चरित्र समझती थी, पैगम्बरो और स्मृतिकारा क प्रेरणा स्वीकार करती थी, तो हम एक निश्चित उत्तर नही दे सकेंगे। होमर के धम शास्त्र पर बहुत साहित्य लिखा गया है किंतु उसमे कही भी एक रूपता नही है। उत्तम विद्वाना म मतभेद है जिन्होने गत दो सौ वर्षों म उस विषय पर लिखा है।

हिदुओ और ईरानिया के धम के सम्बन्ध मे कोई सम्मति बनाना और भी कठिन है। हम उनकी पवित्र पुस्तके प्राप्त ह, उनकी स्वीकृत टीकाये भी हम मिलती हैं। किन्तु यह कौन नहा जानना है कि यह निणय बहुत कठिन है कि ऋग्वद काल के ऋषि और कवि आत्मा की अमरता मे विश्वास करते थे या नहीं। यह शब्दो के ठीक भाषा पर निभर करता है। अवेस्ता के रचयिता क्या प्रारभिक द्वैतवाद म विश्वास करत थे, या अच्छे और बुरे के सिद्धान्त की समानता मानते थे इस प्रश्न का निणय भी व्याकरण के क्षेत्र म हो सकता है ।

एक उदाहरण प्रर्याप्त होगा। ऋग्वेद की ऋचा मे जो शव के जलान म पढी जाती है, यह वणा है —

> ✓ नेत्र सूय म लीन, स्वास मारुत म लय हो,
> स्वग लोक जाओ, या पृथ्वी तल को, जो उचित हो ।
> जाओ जलनिधि मध्य, तुम्हारी जो आकाक्षा ।
> जडी बूटियो म विश्राम करो अपने अगा स
> अजन्मा तत्व, उसे उष्णता दो अपनी आत्मा स ।
> तुम्हारी चमक उसे उष्णता औ प्रकाश दे ।
> आ अग्नि ! अपने दयालु रूपा स
> उसे ल जाओ दूर, धन्य दश मे, पुण्य दश म ।

इस ऋचा पर प्राय विवाद हुआ है और इसका ठीक अथ और ज्ञान बहुत महत्व पूण है। आग भाग का अर्थ है अजन्मा जो कभी नष्ट न हो, अमर अनन्त। मैं आगा भाग का अथ अजन्मा करता हूँ। अमर, अथ फिर विराम मानता हूँ जिसस ऋचा का

शुद्ध रूप प्राप्त हो। किन्तु यह भी कहा जाता है कि आग, अजा का अर्थ है बकरी भी। दूसरा ने उसका अनुवाद किया है। "बकरी ही तुम्हारा अंश है" यह विपयय, यह छन्द भग सस्कृत में प्रचलित नही है। यह ठीक है जैसा कि कल्प सूत्र मे देखा जा सकता है कि प्राय मादा पशु शव के पीछे श्मशान ले जाया जाता था और शव के साथ जला दिया जाता था। इसलिये उसे खोल या अनुस्तरिणी कहते थे। किन्तु यह रिवाज प्रचलित नही है। यदि वेदो के आधार पर यह रस्म होती तो सभवत अवश्य चलती होती। दूसरी बात यह है कि एक सूत्र द्वारा इस रस्म को नही माना गया है। क्योकि कात्यायन के कथनानुसार यदि शव के साथ ही बकरी जला दी जायगी तो अस्थि सचय म कठिनाइ हागी। मनुष्य और बकरी की हड्डियाँ मिल जायगी। तीसरी बात है कि यह कहा जाता है कि यह पशु, बकरी हा या गाय मादा होनी चाहिये।

यदि इस प्रकार हम अनुवाद करगे कि 'बकरी तुम्हारा अश है,' तो सूत्रा की परम्परा से ऋचा का अनर्थ करेंगे। इसस भी बडी कठिनाई है। यदि कवि का अभिप्राय यह हाना कि यह बकरी तुम्हारा भाग हागी तो बहुत ही आवश्यक शब्द 'तुम्हारा' न छाडा हाता। कवि यह नही कहता है बकरी तुम्हारा भाग है, वह कहता है बकरी, भाग। फिर भी यदि हम पुराना अनुवाद ग्रहण करें तब भी कठिनाइयो की कमी नही है। यद्यपि पूरा अथ स्वाभाविक जान पडता है।

कवि, पहले कहता है कि नेत्र को सूय मे जाना चाहिये, श्वास को वायु मे, मृतक को स्वग और पृथ्वी पर लौट आना चाहिये, उसके अङ्ग जडी बूटियो मे विश्राम करें। इस प्रकार प्रत्येक अश का वह जहाँ से आया था वहो लौट जाना चाहिये। तब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि अजन्मा का क्या होगा। मनुष्य क चिरन्तन अश को क्या गति हागी। यह भी स्वाभाविक है कि इस प्रश्न क बाद एक विराम है। फिर कवि आगे चलकर कहता है अपनी ऊष्मा से उसे गरम करा तुम्हारी चमक उसे आभा दे, प्रकाश द। ओ अग्नि ! अपना परम दयालु रूप धारण करा और उसे देवो के धन्य देश मे ले जाओ। किसका ? निश्चय ही बकरी कों नही और न शव को। मनुष्य के चिरन्तन, अजन्मा रूप को।

इसम सन्देह नही है, कि यह सम्भव है और अधिक सम्भव है कि इस ऋचा से अयन्त भ्रमवश यह विचार कर लिया गया कि शव के साथ अजा, बकरी को जलाना चाहिये। अथवन् म हम पाते हैं कि पुरोहितो ने इसे ग्रहण कर लिया था। हम जानते हैं कि विधवायें इसी प्रकार के भ्रम के कारण अपने मृतक पतियों के साथ जला दी जाती थी। यम जो सूर्यास्त के देवता थे मृतका क राजा बन गये और फिर मृतक के प्रथम देवता हो गये। वास्तव में वेदों की ऋचाओ के आगे विशाल अन्तर है और बहुत

सी बातें प्राचीनतम प्रथाओं की भी तब समझ में आती हैं, जब हम उनको केवल साधारण घटनाएं न मानें वरन् यह समझें कि वे अनेक परिवर्तनों में होकर आयी हैं।

धर्म को ठीक से समझने में जो अनेक कठिनाइयाँ हैं उनमें से एक का उदाहरण दिया गया है। उस धर्म को जिसका साहित्य भंडार भरपूर है। विद्वानों में मतभेद हो सकता है, इससे उनकी वैज्ञानिक खोज में अंतर नहीं पड़ता है। अपनी सम्मतियों के लिये उनको दोनों ओर के आधार प्रस्तुत करने हैं। फिर दूसरे लोग अपने निष्कर्ष निकाल सकते हैं। हम यहाँ मूल आधार पर हैं।

जब दार्शनिक लोग, जो प्रायः विद्वान नहीं हैं संस्कृत ग्रन्थ और अन्य पुरातन ग्रंथों के दूसरे विद्वानों के परिश्रम का प्रयोग करते हैं तब गड़बड़ होती है। यह वास्तविक खतरा है। बड़े खतरे जो बिना प्रसंग के, नहीं, अपनी कहानियों की सत्यता की जाँच किये बिना ही, हमें बताते हैं कि काफिर बुशमैन और हाटनटाट लोग आत्मा मृत्यु, ईश्वर और जगत के सम्बंध में क्या विश्वास रखते थे यह शायद ही बना सकें हो कि यूनानी, रोमन, ईरानी या हिन्दू लोगों के धर्म सम्बंधी विचार क्या थे। कोई भी विद्वान इसका तत्काल विरोध न कर सकेगा। इसके भी उदाहरण मैं दे रहा हूँ दोष दर्शन के विचार से नहीं वरन् इसलिये कि हम इस खतरे से सावधान रहें। धर्म के इतिहास की खोज करने में यह बहुत आवश्यक है।

ब्राह्मणों द्वारा ओउम् से अधिक प्रयुक्त होने वाला दूसरा शब्द नहीं है। इसका भवम् भी कह सकते हैं। फ्रेंच के 'ओई' की भांति 'हाक इल्युड' के लिये जिसका प्रारम्भ में अर्थ था हाँ। शीघ्र ही इसे गम्भीर रूप दे दिया गया, हमारे आमेन शब्द की भांति। इसे प्रारम्भ में लिखा जाता था और प्रत्येक ऋचा के अंत में भी प्रयुक्त किया जाता था। शायद ही कोई ऐसी पाण्डुलिपि हो जिसके प्रारम्भ में यह न हो। इसका प्रयोग अनेक प्रणामों में हुआ है। (अपास्तम्ब सूत्र १४ १३ ६ प्रति संख्या ८३२-८३८) ओउम् से अधिक प्रयुक्त और श्रुत शब्द प्राचीन और आधुनिक भारत में भी शायद ही कोई हो। फिर श्री एच० स्पेंसर का कहना है—कि (सोशियालाजी भाई० पा० २६८) हिन्दू लोग ओउम् के पवित्र नाम को लेने से बचते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अर्द्ध सभ्य जातियों को अपने देवताओं के नाम लेने का निषेध था। यह सम्भव है कि किसी संग्रह के काम में जैसे डा० म्योर के उत्तम ग्रंथ संस्कृत टक्स्ट में इस वर्णन की पुष्टि में कुछ पद मिलें। उपनिषदों के रहस्य पूर्ण दर्शन में ओउम् परब्रह्म का एक मुख्य नाम हो गया। और ब्रह्म नाम वास्तव में सबको बताना वर्जित था। किन्तु यह बात कितनी भिन्न है इस वर्णन से कि अर्द्ध सभ्य जातियों में अपने देवताओं के नाम लेना अनुचित माना गया है। हिन्दुओं में ऐसा ही है जो ओउम् का पवित्र नाम प्रायः नहीं लेते, हीवू लोगों में भी यही बात थी जिनके जहोवा' शब्द का ठीक उच्चारण इसलिये ज्ञात नहीं है। हिरोडोटस ने सावधानी से ओसीरीज का नाम बचाया है।

अंतिम वक्तव्य से उनको आश्चर्य होगा जिनको याद है कि हिरोडोटस ने हमें बताया है कि यद्यपि सब यूनानी एक ही प्रकार के देवताओं को नहीं मानते हैं फिर भी वे सब 'ईसिस' और 'ओसिरिस' की पूजा करते हैं जिनको वे डायोनीसस का ही रूप मानते हैं।

डा० म्योर का यह कहना निस्संदेह ठीक है कि वेद की कुछ ऋचाओं में कुछ देवताओं को केवल निर्मित प्राणी माना गया है। वे सोम पान से अमर बने थे। किन्तु इससे तो यह स्पष्ट होता है कि डा० म्योर का ग्रन्थ 'संस्कृत टेक्स्ट' और ऐसे ही संग्रह कितने भयंकर हो सकते हैं। यद्यपि उनके संग्रह में बड़ी सावधानी बरती गयी है। वेदों में देवताओं को अजर, मृत्यु-बन्धु या अमर्त्य कहा गया है जिसके प्रतिकूल मनुष्य को मर्त्य, मरणशील कहा गया है। सोमरस की शक्ति को बड़ा बताने में यह कहा गया है कि सोमरस पान से देवताओं ने अमरत्व प्राप्त किया जैसे यूनान के देवताओं ने। वैदिक काल के लोगों का निर्मित या जन्म लिये प्राणी के अर्थ में देवताओं का बोध नहीं था। वे ऊषा को आकाश की कन्या कहते थे। भारत को वे स्वर्ग और पृथ्वी से निकला मानते थे। अधिक सत्य यह है कि यूनानी लोग 'जियस' को केवल जन्मा प्राणी इसलिये कहते थे कि वह 'क्रोनोज' का पुत्र था।

फिर इससे अधिक भ्रमोत्पादक और क्या होगा कि यह सिद्ध करने के लिये कि प्रारम्भ में सब देवता मरणशील थे, बुद्ध का यह उद्धरण दिया जाय 'देवता और मनुष्य, गरीब और सबका समान रूप से मरना है।" बुद्ध के समय में बल्कि उससे भी पहले पुराने देवताओं का कार्य पूरा हो चुका था। बुद्ध को किसी देवता में विश्वास नहीं था शायद किसी ईश्वर में भी उनका विश्वास नहीं था। उन्होंने पुराने देवताओं को पुराण के रूप में माना। उनका प्रभाव व्यापक माना इससे अधिक जो जावधारियों का है। अर्थात जन्म और मरण का अनन्त क्रम। देवता भी जीवन और मृत्यु के बन्धन में थे।

लोगों की मानसिक क्षमता के सम्बन्ध में कोई सम्मति बनाने के लिये उनकी भाषा की परीक्षा निस्सन्देह आवश्यक है। ऐसी परीक्षा के लिये बहुत ही सावधानी और चतुर्दिक पर्यवेक्षण चाहिये। श्री एच० स्पेंसर का कहना है कि "दक्षिण अमरिका की एक जाति' 'मैं अबीपोन है' के बदले 'मैं अबीपोन' कहती है इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इसी प्रकार के अविकसित व्याकरण के रूप से सीधे ढङ्ग से सरल विचार प्रकट किये जा सकते हैं। क्या संसार की कुछ अत्यन्त पूर्ण भाषाएं इसी कोटि में नहीं आती हैं ?

आदिम जातियों के धर्म का अध्ययन

यदि ऐसे भ्रम वहाँ उत्पन्न होते हैं जहाँ उनसे बचा जा सकता था तब हम उनके सम्बन्ध में क्या सोचेंगे जिनका कोई साहित्य नहीं है। उनके विषय में बड़े बड़े

वक्तव्य दिये जाते हैं। उन जातियों के धार्मिक विचार बताये जाते हैं, जिनकी भाषा प्रायः कम समझ में आती है। जिनके यहाँ कुछ दिनों के लिये, या कुछ सप्ताहों या वर्षों के लिये एक या दो यात्री जाते हैं।

एक उदाहरण लें। कहा जाता है कि फीजी निवासियों में हम धर्म का आदिम रूप देख सकते हैं। वे चमकते तारों को भगवान मानते हैं छोटे सितारों को मनुष्यों की विभिन्न आत्मा जानते हैं। इस कथन का कुछ भी उपयोग करने के पहले, क्या हमें यह नहीं जान लेना चाहिये कि फीजी निवासी भगवान को किस नाम से पुकारते हैं। उनकी धारणा ईश्वर सम्बन्धी कैसी है और दूसरी बात यह है कि नक्षत्र के अतिरिक्त वह नाम और किन पदार्थों के लिये प्रयुक्त हुआ है, इसका भी ज्ञान आवश्यक है। और कामनाओं का स्थान, जब तक हम यह ज्ञान न हो कि उनकी आत्मा कही जाने वाली सत्ता पार्थिव है या अपार्थिव, दृश्य है या अदृश्य, मरणशील है या अमरणशील, अमर्त्य तब तक यह वक्तव्य कि कुछ आदिम जातियाँ छाया को या किसी पक्षी को या नक्षत्र को अपनी आत्मा समझती हैं, हम कुछ भी नहीं बताता है।

रेवरेंड आर० एच० कार्रिङ्गटन का ३ जुलाई १८७७ का यह वक्तव्य मैंने नहीं देखा था जब यह लिखा गया था। अत्यंत गंभीर विचारक मिशनरी ने इसी आशय का और स्पष्ट किया है। उनका कहना है 'मान लीजिये कि कुछ लोग आत्मा को छाया समझते हैं। मैं इस पर किसी प्रकार विश्वास नहीं कर सकता कि वे छाया को आत्मा समझते है या आत्मा को छाया समझते हैं। वे छाया शब्द को अलंकार के रूप में प्रयोग करते हैं छाया मनुष्य की। जो निश्चय ही व्यक्तिगत है और उससे अभिन्न है किन्तु छाया मात्र है अपदार्थ है। आत्मा के लिये 'मोता' शब्द व्यवहार में आता है। भावरी में वह छाया है लेकिन कोई भी 'मोता' मनुष्य यह नहीं जानता कि इसका यह अर्थ कभी है। मेरा विश्वास है कि प्रारम्भिक भाषा में इस शब्द का अर्थ निश्चित रूप से आत्मा या छाया नहीं था। किन्तु इसका वह अर्थ था जिसकी धारणा तो की जा सकती थी परन्तु प्रकट नहीं किया जा सकता था। जब वह एक भाषा में छाया के अर्थ में प्रयुक्त होता हैं और दूसरी भाषा में आत्मा के अर्थ में लिया जाता है यानी दूसरा अहम्।

हमको अर्थ के इस परिवर्तन को ठीक से समझने का प्रयत्न करना चाहिये। किस प्रकार छाया को देखकर जो दिन में हमारे साथ रहती है और रात को जान पड़ता है कि वह हमें छोड़ देती है दूसरे को दूसरे अहं या सत्ता की भावना जागृत हुई। यह विचार हमारे विचार में संयुक्त कैसे हो गया कि श्वास आत्मा है, जो जीवन भर साथ रहती है और मृत्यु के समय हमको छोड़ती जान पड़ती है। किस प्रकार छाया और श्वास के विचारों से कुछ ऐसी सत्ता की भावना का उदय हुआ जो शरीर से पृथक

होने पर भी जीवन से पूर्ण थी। यहाँ पर हमको दृ य स अदृश्य मे और पार्थिव स अपार्थिव मे परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है। हम यह नही कहना चाहिये कि विचारो के उस आदिम युग मे लोग यह विश्वास करते थे कि उनकी आत्मा छाया है।

क्या हम यह धारणा बना लेनी चाहिये कि फीजी निवासी ईश्वरत्व का ज्ञान जो कुछ भी रखते थे वह नक्षत्रो तक ही सीमित था और केन्द्रित था। या इसका अभिप्राय केवल यह है कि फीजी निवासी नक्षत्रो को ईश्वरता का एक प्रकटीकरण, अनक में से एक जिनका उनको अनेक श्रोतो से ज्ञान था, मानते थे। यदि यह बात है तो सब कुछ इस बात पर निभर है कि ये दूसर श्रोत क्या थे और उनसे किसी दवत्व की भावना और नाम कैसे निकले।

जब हमस यह कहा जाता है कि वेदा के कवि मनीषिया न सूय को ईश्वर कहा है तब हम तुरत यह पूछते हैं कि ईश्वर को किस नाम से पुकारा गया है। हमे बताया जाता है कि वह नाम है देव जिसका अथ प्रारम्भ मे प्रकाशमान था। इस एक शब्द का जीवन वृक्ष हो पूरा ग्रथ भर देगा।

जब तक हम उसका जीवन-इतिहास आदि से अत तक न जान लें तब तक इस वर्णन का कि हिन्दू सूय को दव समझते हैं कुछ भी अथ नही होगा।

यही तर्क इस पर भी लागू होता है कि फीजी निवासी नक्षत्रा को मृत आत्माए समझते हैं। नक्षत्र आत्मायें हैं या आत्माये नक्षत्र हैं ? निश्चय ही सब कुछ आत्मा शब्द के अर्थ पर निर्भर करता है।

उनको यह शब्द कैसे और कहाँ से मिला। उसका मूल श्रोत क्या है ? इसका प्रारम्भ मे क्या अथ था। क्या अभिप्राय था ? इन प्रश्नों को भाषा शास्त्रिया का समझना है और मनोवैज्ञानिक रूप से उत्तर देना है। तब हम उन अनक कथाओ और वर्णनो का कुछ लाभ उठा सकते हैं जो मनुष्य के अध्ययन के लिये अनेक ग्रथो म प्रस्तुत है।

यह सब विदित सत्य है कि प्रारम्भ म आत्मा क लिये अनक शब्दो का अथ था छाया। किन्तु उदाहरण के लिये इस वर्णन का क्या अर्थ होगा कि बनिन के हब्शी अपनी छाया को आत्मा समझते हैं। यदि आत्मा श द का प्रयोग अग्रेजो शब्द के अथ मे किया जाय तो हब्शी लोग क्यो यह विश्वास न करेंगे कि उनकी आत्मायें अग्रेजी भाषा की केवल अफ्रीका की भाषा म छाया मात्र हैं और कुछ नही था। क्या व यह सीधी सी बात कहते हैं कि एक छाया दूसरी छाया क बराबर है या वे यह कहना चाहते हैं कि छाया किसी और के बराबर है यानी आत्मा के ? इस बात का मानना पडेगा कि हम भी आत्मा का अथ स्पष्ट नहीं समझते लेकिन उसमे जो कुछ भी समझते हैं उसका अथ केवल छाया नही हो सकता है, जब तक कि हम यह मान न लो कि

लेनिन इसी आत्मा के लिये अपने शब्द 'एनीमा' से क्या अर्थ लेते हैं, श्वास जीवन का लक्षण या एनीमस से मस्तिष्क या विचार का केन्द्र या आत्मा की इच्छाओं का।

हम केवल यही कह सकते हैं कि वे विश्वास करते थे कि मृत्यु के बाद भी उनकी श्वास, शरीर छोड़ने के बाद भी किसी में निवास करेगी जैसे जीवन में छाया रहती है। यह अंधविश्वास कि मृतक शरीर की छाया नहीं होती, इसी आधार पर है।

अपनी मान्यताओं की पुष्टि मिशनरी और दूसरे यात्रियों के वर्णन से लेना बहुत बड़ा आकर्षण है, इससे बचना बहुत कठिन है। पूर्वी पोलीनेशिया में सर्वत्र ईश्वर के लिये अतुवा या 'अतुवा' शब्द का प्रयोग हुआ है। पोलीनेशिया के द्वीप वासियों की भाषा में 'अता' का अर्थ है छाया। इससे यह मान लेना बिलकुल स्वाभाविक लगता है कि ईश्वर के इस नाम का प्रारम्भ में छाया अर्थ था। जो कि इस एक प्रिय धारणा की पुष्टि है कि ईश्वर की भावना सर्वत्र आत्मा की भावना से उत्पन्न हुआ और आत्मा की भावना छाया की भावना से निकली। इस धारणा पर आपत्ति करना ठीक नहीं है क्योंकि इसमें सब बातें स्पष्ट जान पड़ती हैं। सौभाग्य से पोलीनेशिया की भाषायें कुछ अंशों में बहुत ही श्रेष्ठ विद्वानों की भावना से पढ़ी गयी हैं। इससे हमारी धारणाओं को वास्तविक तथ्यों की तुला पर रक्खा जा सकता है। इस प्रकार श्री गिल, जो मंगेइया में बीस वर्ष रह हैं, बताते हैं कि 'अतुवा' शब्द की उत्पत्ति 'अता' छाया, से नहीं हो सकती। वह ताहीशियन और समोअन के 'फतू' शब्द से सम्बंधित है। उसका सम्बन्ध अरातू से भी है जिसका प्रारम्भ में अर्थ था एक वृक्ष का गूदा या भीतरी भाग। गूदा और गरी से 'अतू' का अर्थ लिया गया उत्तम अंश, किसी वस्तु की शक्ति और इसका प्रयोग स्वामी या लार्ड के अर्थ में होने लगा। 'अतुवा' शब्द में 'अ' विशेषण का महत्व बढ़ाता है। इससे मूल निवासी जीवन और उसका सार अर्थ लगाते हैं। यह उस देवसत्ता की धारणा का प्रारम्भ था जिसे वे 'अतुवा' शब्द से स्पष्ट करते थे।

श्री गिल ऐसे विज्ञान की साक्षी पर विचार करते समय कुछ सीमा तक उन पर विश्वास करना क्षम्य है। उन्होंने अपना सारा जीवन एक ही जाति के बीच में बिताया था। फिर भी उनको भी वह अधिकार नहीं दिया जा सकता जो होमर को दिया गया था। जब वे अपने धर्म की बात कहते थे तो उनको इस विषय का अधिकारी माना जाता था इसी प्रकार सेंट आगस्टीन को भी, जो प्राचीन रोमन लोगों के विश्वासों का रोचक वर्णन करते थे, अपने विषय का अधिकारी माना जाता था।

इतना सब होने पर भी यह कौन नहीं जानता है कि हमारे मस्तिष्क में कितना अविश्वास शेष रह जाता है। हम इन सब के वक्तव्य और वर्णन पढ़ लेते हैं। अपने

धर्म के विषय मे इन्होने जो कुछ भी लिखा है उसे जान लेते हैं और जिन लोगो के बीच मे वे बढे और जिनके बीच मे उनका सारा जीवन व्यतीत हुआ उनके विषय मे उनका वर्णन पढते हैं तब भी अनिश्चयकर नही होता है ।

आदिम जातियो के धार्मिक और बौद्धिक जीवन के वर्णन देने मे यात्रियो और मिशनरी लोगो को अधिक कठिनाइयाँ हुई हैं । जैसी कि साधारण मान्यता है उससे बहुत अधिक ये कठिनाइयाँ है । उनमे से कुछ का वर्णन और विचार परम आवश्यक है । उसके बाद हम आगे बढेगे ।

यात्रियों पर जन सम्मति का प्रभाव

सबसे पहली बात यह है कि ऐसे लोग बहुत ही कम होते हैं जिन पर जन सम्मति के परिवर्तनो का प्रभाव नही पडता है । एक समय ऐसा भी था कि जब सब यात्री रूसो के विचारो से आक्रान्त थे । इसका परिणाम यह था कि सब आदिम वासियों को वे उसी दृष्टि से देखते थे जिससे टैसिटस जरमन लोगों को देखता था । इसके बाद एक प्रतिक्रिया हुई । अमेरिकन जीव-शास्त्रियो के प्रभाव से, कुछ अशों मे जो गुलामी के समर्थन के लिये एक बहाना ढूढते थे और फिर मनुष्य और बन्दर के बीच की खोई हुई कडी खोजने के प्रयास में आदिम वासियो के विषय मे ऐसे वर्णन अत्यधिक मात्रा मे दिये जाने लगे जिनसे यह सन्देह होने लगा कि क्या हब्शी गोरिल्ला से भी निम्न कोटि का प्राणी नही है । क्या उसे मनुष्य कहा भी जा सकता है ?

यह प्रश्न अत्यधिक उग्र हो गया कि धर्म मनुष्य की विशिष्टता है या नही । कुछ यात्रियो को ऐसी जातियाँ प्राय मिलती थी जिनमें देवताओ के लिये कोई नाम नही थे और देवताओ के सम्बन्ध मे जिनमे कुछ भी विचार नही थे । दूसरो ने खोज की और यह पाया कि सब जगह धर्म की श्रेष्ठतम भावनायें थी । मेरे मित्र श्री टेलर एक दूसरे के विरोधी वर्णनो का बहुत उत्तम सग्रह किया है । विभिन्न पर्यवेक्षको ने एक ही जाति के सम्बन्ध मे धार्मिक क्षमताओ के वर्णन दिये हैं । शायद सब से प्राचीन उदाहरण जो लिखित है सेसर और टैसीटस का है । जरमन लोगों के धर्म के सम्बन्ध मे यह वर्णन है ।

सेसर का कहना है कि जर्मन लोग उनको ही देवता मानते हैं जिनको अनुभूति दे कर सकते हैं और जिनके वरदान मे उनका लाभ होता है जैसे सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा । टसिटस का कहना है कि वे उस गुप्त सत्ता को देवता का नाम देते हैं जिसकी वे अनुभूति नहीं कर सकते हैं केवल उसे श्रद्धा दे सकते हैं ।

यह कहा जा सकता है कि सेसर और टैसिटस के बीच के समय मे जरमनी का पूरा धर्म बदल गया था या टैसिटस को जिनका सम्पर्क प्राप्त हुआ वे लोग जर्मन

जाति में अधिक आध्यात्मिक लोग थे। उनसे अधिक आध्यात्मिक थे जिनका सम्पर्क कैसर को प्राप्त हुआ।

किन्तु इसे मान लेने पर भी क्या हम इन प्रभावों की गुंजायश रखते हैं और तब पहले के और बाद के यात्रियों के वर्णनों का उपयोग करते हैं ?

आदिम जातियों में स्वीकृत अधिकारियों की कमी

अब यदि कोई यात्री बिना किसी पूर्वाग्रह के हो, किसी वैज्ञानिक प्रवृत्ति से ऊपर हो, किसी वैज्ञानिक या धार्मिक क्षेत्र के नेताओं को प्रसन्न रखने की भावना से भी मुक्त हो तब भी बहुत बड़ी बाधा सम्मुख आती है। जंगली या अर्द्ध जंगली जातियों के धार्मिक वर्णन लिखने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उनमें किसी में भी कोई स्वीकृत मापदण्ड नहीं है। आदिम जातियों में धर्म प्रायः व्यक्तिगत मामला है। वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक बदल सकता है और एक ही पीढ़ी में उनके विश्वास के प्रश्नों में अधिकतम विभिन्नता हो सकती है जो उनकी व्यक्तिगत सम्मति होती है। यह सत्य है कि उनके पुरोहित होते हैं, उनके पवित्र गीत भी हो सकते हैं और कुछ परम्परायें भी हैं। उनकी मातायें सदैव अपने बच्चों को कुछ सिखाती रहती हैं। लेकिन उनकी बाइबिल नहीं है, कोई प्रार्थना पुस्तक नहीं है और कोई आचार संहिता भी नहीं है। धर्म हवा में उतराता है। प्रत्येक व्यक्ति जितना कम या ज्यादा चाहे ले सकता है।

इस प्रकार हम समझते हैं कि विभिन्न मिशनरी और यात्रियों द्वारा दिये गये एक ही जाति के वर्णन एक दूसरे से उतने ही भिन्न हैं जितना कि सफेद और काला। एक ही जाति में एक प्रकाश का देवता भी हो सकता है और एक अश्लील भूत भी। लेकिन यूरुप के यात्री दोनों को उनके धर्म के सम्बन्ध में अनिन्द्य अधिकारी समझेंगे।

हब्शी लोग स्वयं इस स्वीकार करते हैं कि धार्मिक विश्वासों में उनमें मतभेद हैं। मारकेज को विदाह में स्पष्ट बताया गया था कि विशिष्ट लोग केवल उस परमेश्वर को मानते हैं जो सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और पाप तथा पुण्य का फल देता है। वे उसकी प्रार्थना उस अवसर पर करते हैं जब और सब उपाय व्यर्थ होते हैं वे निरुपाय हो जाते हैं। फिर भी सब जातियों में बर्बर और सभ्य सभी जातियों में एक विशिष्ट वर्ग होता है जो प्रतिभा सम्पन्न होता है और पुण्य कार्य करने में प्रसिद्ध होता है। वह जन साधारण से शताब्दियों आगे एक व्यक्ति का रखता है।

अब केवल इस पर विचार करिये कि इंग्लैंड में एक अपराधी, शराबी और एक दया की देवी से जो उसे देखने उसके कष्ट गृह में जाती है पूछा जाय कि उन दोनों में समान रूपों से व्यापक ईसाई धर्म का वर्णन क्या है तो आप को कम आश्चर्य होगा।

उससे कम जितना कि आपको अफ्रीका की एक ही जाति के विषय में दिये गये विभिन्न साक्षियों के विभिन्न मतों से होता है।

पुरोहितों का अधिकार

यह कहा जा सकता है कि पुरोहित वर्ग को अनिन्द्य अधिकारी मानना चाहिये और अपने देशवासियों के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में उनका परामर्श भी मान्य होना चाहिये। किन्तु क्या ऐसी बात है ? क्या हम स्वयं इस पर व्यवहार करते हैं ?

हम लोगों ने स्वयं देखा है कि, बहुत वर्ष नहीं बीते, एक प्रसिद्ध धर्माधिकारी ने घोषणा की थी कि केवल आर्कबिशप के साथ वेस्टमिन्स्टर अब में जितनी प्रस्तर-मूर्तियाँ हैं उनमें से एक का उस भगवान में विश्वास नहीं था जिस पर उस धर्माधिकारी का विश्वास था। तब हम आश्चर्य नहीं करना चाहिये यदि अफ्रीका के पुरोहित अपनी मूर्तियों के सम्बन्ध में सच्चे अर्थ के लिये मतभेद रखते हैं और इस पर भी आश्चर्य करना ठीक नहीं होगा यदि यात्री लोगों ने जिन्होंने विभिन्न धर्म गुरुओं की बातें सुनी हैं अपने वर्णन में जो हम देते हैं, मतभेद रखते हैं। अफ्रीका के कुछ भागों में विशेषतः उन भागों में जहाँ इस्लाम धर्म का प्रभाव पड़ा है, मूर्तियों की ओर मूर्ति बेचने वाला से घृणा की जाती है उन्हें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता है। जो लोग मूर्ति-पूजा में विश्वास रखते हैं उनको काफिर कहा जाता है। दूसरे भागों में मूर्तिपूजा पूर्ण रूप से प्रचलित है। पुरोहित लोग जो मूर्तियाँ बनाते हैं और उनकी बिक्री से जीविका चलाते हैं चिल्ला कर कहते हैं *'एफीसियन की 'डायना' (देवी) महान है।'*

धर्म की वार्ता में आदिमवासियों की अनिच्छा

अन्त में हम इस पर विचार करना चाहिये कि किसी धर्म के सम्बन्ध में सच्ची जानकारी प्राप्त करने के लिये दोनों ओर इच्छा और विचार होना परम आवश्यक है। अनेक आदिवासी धर्म के सम्बन्ध में किसी भी प्रश्न का उत्तर देने में झिझकते हैं। इसका कारण कुछ अंशों में उनका अन्धविश्वास है और कुछ अंशों में इस लिये उनको झिझक होती है कि वे अपने अपूर्ण विचारों को और भावनाओं को निश्चित भाषा में प्रकट नहीं कर सकते हैं।

कुछ जातियाँ निश्चित रूप से मौन हैं। भाव प्रकट करना और किसी भी भाषा का प्रयोग करना उनके लिये बहुत कठिन है।

दस मिनट बात करने के बाद उनको सिर की पीड़ा सताने लगती है। दूसरे लोग बहुत वाचलु होते हैं। वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देते हैं। उनको इसकी चिन्ता नहीं रहती है कि वे जो कुछ कहते हैं वह सत्य है या असत्य।

इस कठिनाई को रेवरेंड आर० एच० कार्डरिंगटन ने नारफाक द्वीप से जुलाई ३, १८७७ के अपने पत्र मे भली भाँति लिखा है "किन्तु एस मामलो में मूल निवासियों के मस्तिष्क म भ्रम नही होता । इस भ्रम की उत्पत्ति वहाँ होती है जहाँ मूलनिवासी और यूरोपियन एक दूसरे से सम्यक् सम्पर्क नहीं कर पाते । एक मूल निवासी जो थोडी अङ्ग्रेजी जानता है या जो अपनी भाषा मे इग्लिश मैन से वार्ता करने की चेष्टा करता है, बडी सरलता से गोरे की बातो मे हाँ मे हाँ कर देता है । वह उन शब्दो का प्रयोग भी कर देता है जो वह जानता है यद्यपि उनके अर्थ नही जानता । तब वह प्रयास करता है और वह वर्णन देता है जो उसके विचार से बिलकुल ठीक है ।

इस प्रकार पर्यवेक्षको को सूचना सामग्री मिलती है जिसे व परम विश्वासनीय मानते हैं । फिर छपने पर उन वर्णनो म ऐसी बातें मिलती है जिनको सच्चा ज्ञान रखने वाले बिलकुल वाहियात समझते हैं ।

आज जब मैंने एक 'मरलव' बच्चे स कहा तब बडा आश्चर्य हुआ । उसे इसमे विनोद जान पडा जब मैंने बताया कि कैप्टन मासबी ने यूगिनी के सम्बन्ध मे अपनी पुस्तक मे लिखा है कि उन्होंने उसके गाँव म एक मूर्ति देखी थी । यह आशा की गयी कि वह बच्चा अपने गाँव वाला से उस मूर्ति को न मानने के लिये राजी करेगा । उसने उन मूर्तियो को बनाया था । हमारे गिरजाघरो म पार्श्व मे जो प्रस्तर मूर्तियाँ शृ गार के लिये रहती हैं वे मूर्तियाँ उसी प्रकार की थी फिर भी मुझे सन्देह नही है कि किसी ग्रामवासी ने ही उन नाविक अधिकारो को बताया होगा कि वे मूर्तियाँ हैं । या शैतान हैं या इसी प्रकार की कुछ हैं । जब उससे यह पूछा गया होगा कि क्या वे नही है ? अपनी अग्रेजी की योग्यता के लिये उसे बहुत प्रशंसा मिली होगी ।

मैंने अपने प्रथम भाषण मे कुछ उत्तम मिशनरी लोगो के वर्णन का उद्धरण दिया था । वे आस्ट्रेलिया म अपने केन्द्र मे तीन वर्ष रहे थे । उनका यह निश्चय था कि आदिमवासी झूठी या सच्ची किसी भी सत्ता की उपासना नही करते । कुछ समय बाद उनको ज्ञात हुआ कि आदिम निवासी एक सर्व शक्तिमान सत्ता म विश्वास रखते हैं जिसने इस ससार की सृष्टि की है । मान लीजिये कि वे वहाँ स चल आते और उनको इस खोज का पता न लगता तो उनके वर्णनो का खडन करने का साहस कौन करता ?

ब्रासेज ने जब पहले मूर्ति पूजा के सम्बन्ध म अपना घातक बयान दिया था तब उनको इनम से एक भी कठिनाई का सामना नही करना पडा था । नाविको के समुद्र-यात्रा वर्णन मे और व्यापारियो के वक्तव्य म उनको जो कुछ भी मिला उसका उन्होंने स्वागत किया । उनको एक सिद्धान्त का समर्थन करना था । उसके समर्थनम उनको जो कुछ भी मिला, सब स्वीकार किया ।

आदिम जातियों के धर्म के अध्ययन में सन्निहित कठिनाइयों का मैंने पूरा विवेचन किया है। इसका यह अभिप्राय है कि हमें इन धर्मों के वर्णन में बहुत सावधान रहना चाहिये। इन धर्मों के एकांगी वर्णन स्वीकार नहीं कर लेना चाहिये। इतना ही नहीं, जो सामग्री हमें प्राप्त है, उसके आधार पर धर्म के सम्बन्ध में व्यापक रूप से उसकी उत्पत्ति और प्रकृति के विषय में कोई भी महत्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं बना लेना चाहिये और न कोई निष्कर्ष तत्काल निकाल लेना चाहिये।

वास्तव में इतिहास की पाठ्य पुस्तकों से सर्वव्यापी आदिम काल से ही मूर्ति पूजा की भावना निकाल देना बहुत कठिन है। वह सिद्धान्त स्वयं वैज्ञानिक पूर्वाग्रह या मूर्तिपूजा ही बन गया है। दूसरे अन्ध विश्वासों की तरह इसका आधार भी अज्ञान और पूर्वाग्रह है।

हमारी बात ठीक से समझना चाहिये, उसमें भ्रम न हो। मैं इस तथ्य को विवाद में नहीं लाता कि पश्चिमी अफ्रीका की और दूसरी हब्शी जातियों में मूर्तिपूजा व्यापक रूप से विद्यमान है।

मैं इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि जिसे वे मूर्तिपूजा कहते हैं वह धर्म का प्रारंभिक रूप है। मि० ब्रासेज और इस विषय के दूसरे लेखकों ने यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जिसे मैं नहीं मानता हूं। यह मूर्तिपूजा धर्म का स्वरूप निम्नस्तर का माना जा सकता है किन्तु धर्म में विशेष रूप से वह धर्म के आदिम रूप से भिन्न है।

मूर्ति के अर्थ का अधिक विस्तार

मूर्तिपूजा का वैज्ञानिक अध्ययन करने में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि मूर्ति शब्द के अर्थ का अधिक विस्तृत कर दिया गया है।

मि० ब्रासेज ने न केवल अफ्रीका में वरन् रेड इण्डियन लोगों में पोलीनेशियन लोगों में, और एशिया की उत्तरी जातियों में भी मूर्तियों का वर्णन किया है। उनके बाद संसार के किसी भी कोने में ऐसी जाति नहीं जिसमें मूर्ति पूजा के कुछ चिह्न न मिले हों। पर्यवेक्षकों ने तो यही वर्णन दिया। मैं इस भावना का आदर करता हूँ जो सर्वत्र समान दृष्टि रखती है उसका वैज्ञानिक मूल्य है और महत्व है। सर्वत्र तुलनात्मक दृष्टि कोण काम करता है। इसका ही परिणाम है आधुनिक काल में अनेक क्षेत्रों में महान विजय। फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि तुलना की सफलता विवेकपूर्ण नियम में है। ऐसा न होने पर हम बड़ी भयंकर भूलें करेंगे जहाँ भी हम एक सीधा पत्थर देखेंगे और दूसरा उस पर क्रास की तरह होगा हम उसे क्रास मान बैठेंगे या जहाँ भी कोई छेद वाला पत्थर मिलेगा हम मान लेंगे कि यह सलीब का निशान है।

इधर समाचार मिला है कि जरमनी और इग्लैंड म लाग वृक्षो की पूजा करते हैं, साँपों की उपासना करते हैं। एक ही तरह के तथ्यो का सग्रह बहुत लाभदायक होगा किन्तु उनम शुद्ध वैज्ञानिक अभिरुचि तब प्रारम्भ होती है जब हम स्वय यह स्पष्ट कर सके कि ऊपर से समानता जान पडने पर भी भीतर अधिक मात्रा म प्रारम्भ की विभिन्नता कैसे रहती है।

भाषा विज्ञान म भी यही बात है। निस्सन्देह सर्वत्र व्याकरण है। निम्नस्तर की जातियो की भाषा म भी व्याकरण है। किन्तु यदि हम अपने व्याकरण के नाम, कर्त्ता और कर्म, सकर्मक और अकर्मक क्रियाये लिंग वचन आदि दूसरी भाषाओ पर लाद तो हमे वह पाठ नही मिलेगा जो तुलनात्मक भाषाओ के अध्ययन से प्राप्त होगा।

हम इसे कदापि न जान पायेगे कि एक ही उद्देश्य किस प्रकार सैकडो विभिन्न भाषाओ म, सैकडो विभिन्न प्रकारो स प्राप्त किया जा सकता है और प्राप्त किया गया था। यहाँ पर लैटिन की यह उक्ति बिलकुल ठीक बैठती है 'यदि दो भाषाये एक ही बात कहती हैं तो वह एक ही बात (एक समान) नही है।

यदि मूर्तिपूजा सर्वत्र प्रचलित है तो यह तथ्य विचित्र है इसम सन्देह नही है। परन्तु उसका वैज्ञानिक मूल्य वास्तव म तब है जब हम इस तथ्य का कारण बता सक। मूर्त्ति किस प्रकार पूजी जाने लगी उसम पदार्थ के अतिरिक्त देवत्व कैसे आरोपित किया जाने लगा इस समस्या का समाधान करना है। इस विचार से जब हम मूर्तिपूजा का अध्ययन करते हैं तब हम यह पाते हैं कि यद्यपि वह देखने म बाहर से सर्वथा समान है फिर भी उसके पूर्व का इतिहास शायद हो कही समान या एक हो। कोई भी मूर्त्ति ऐसी नही है जिसका पूर्व का इतिहास और चरित्र न हो। इन्ही पूर्व चरित्रो पर उनकी वैज्ञानिक और सच्ची अभिरुचि है।

मूर्ति-पूजा के पूर्व-चरित्र

अब हमे मूर्तिपूजा के कुछ प्रचलित रूपो पर विचार करना है। हम शीघ्र यह पता लग जायगा कि किन विभिन्न ऊचाइयो और गहराइयो से उसके स्रोत निकले।

यदि हड्डियाँ, भस्म या मृतक मित्र के बाल स्मृति स्वरूप रक्खे जाते हैं, यदि वे सुरभित और पवित्र स्थानो म रक्खे जाते हैं यदि समय समय पर उनके दर्शन किये जाते हैं, उनकी वार्त्ता होती है अपने एकान्त म लोग और सच्चे उपासक उनकी याद म दोक गीत गाते हैं तो इन सब को मूर्तिपूजा कहा गया है और कहना चाहिये।

और भी, यदि एक तलवार जिसका एक वीर योद्धा ने प्रयोग किया था, एक झडा जिसे लेकर पूर्वजो ने विजय श्री प्राप्त की थी एक पडी या राजदड, या ढाल आदर और सम्मान से देखे जाते हैं या युद्ध मे जाने वाले सैनिको द्वारा उत्साह से उनको

का अभिनन्दन होता है तो इन सब को मूर्तिपूजा कहना चाहिये। यदि ये पताकायें और तलवारें पुरोहित द्वारा पूज्य कही गयी हैं या उनकी आत्माओं में प्रार्थना की जाती है जो इनको लेकर युद्ध क्षेत्र में गये थे, मानो वे आज भी जीवित हैं तो इस सब को मूर्ति-पूजा कहना चाहिये।

यदि पराजित सैनिक अपने घुटनों से लगा कर अपनी तलवार तोड देता है, या अपने सैनिक चिह्न फाड डालता है तो यह कहना चाहिये कि वह अपनी मूर्ति या इष्ट को दण्ड दे रहा है। इतना ही नहीं नेपोलियन को भी मूर्तिपूजक कहना चाहिये। पिरामिडों की ओर संकेत करके उसने अपने सैनिकों से कहा था "इन स्मृति भवनों की ऊंचाई से चालीस शताब्दियाँ तुम्हें देख रही हैं, सैनिको!"

यह एक प्रकार की ऐसी तुलना है जिसमें समानतायें विभिन्नताओं पर परदा डालती हैं।

ऐसी बात नहीं है। हम बहुत अधिक विभेद नहीं कर सकते हैं यदि हम केवल जानना ही नहीं समझना भी चाहते हैं कि आदिम जातियों के पुराने रीति रिवाज क्या थे। कभी कभी एक पत्थर, स्तम्भ या पत्थर की पूजा की जाती थी इसलिये कि वह पुरानी भूली हुई वेदी थी या किसी पुराने न्यायाधिकारी का स्थान था। कभी कभी इस लिये कि वह प्राचीन युद्ध क्षेत्र था, हत्या का स्थान था, या किसी राजा की समाधि का स्थान था। कभी कभी इस लिये कि वह परिवारों या जातियों की पवित्र सीमा थी, मूर्ति के समान पूजा की जाती थी।

ऐसे पत्थर हैं जिनसे हथियार बनाये जा सकते हैं, ऐसे भी पत्थर हैं जिन पर हथियार तेज किये जा सकते हैं, स्विस झीलों में पाये जाने वाले 'जडे पत्थर की तरह के, इनको वालों में खोसने के लिये बहुत दूर से लाया गया होगा।

आकाश से गिरी हुई उल्काएं भी इसी श्रेणी में आती हैं। क्या इन सब को केवल मूर्तियों के नाम से पुकारा जायगा और इसलिये कि उचित कारणों से किन्तु विभिन्न कारणों से इनको पुराने और आधुनिक लोग भी आदर देते हैं, श्रद्धा करते हैं और प्रायः अपना मस्तक भी झुकाते हैं।

कभी कभी एक साधारण पत्थर की पूजा की जाती है, उसे ईश्वर की प्रतिमा माना जाता है। इससे सूक्ष्मता की उच्चतर शक्ति प्रकट होती है, फिडियास के कुशल निर्माणों को जो सूक्ष्म रूप से पूजा दी जाती है उससे अधिक। कभी-कभी मनुष्य के आकार से मिलती जुलती प्रस्तर शिला को जो पूजा दी जाती है वह धार्मिक भावना की निम्न कोटि प्रकट कर सकती है। यदि हम सन्तोष कर लेते हैं कि यह सब, और इससे भी अधिक पूजा, आदर या श्रद्धा मूर्ति पूजा है, तो हम को बताया जायगा कि

वह पत्थर जिस पर इग्लैंड के समस्त राजाओं का राज्याभिषेक हुआ है एक पुरानी मूर्ति है और विक्टोरिया के राज्याभिषेक उत्सव को एक्सा-नीयमन मूर्ति पूजा का अवशेष मानना चाहिये।

बातें यहाँ तक पहुँच गयी हैं कि अफ्रीका में भ्रमण करने वाले वहाँ के आदिम निवासियों से प्रायः प्रश्न करते हैं कि क्या उनका मूर्तियों में विश्वास है। गरीब हब्शी या हाटेनटाट या पपुआ या इन शब्दों का अर्थ भी नहीं जानता था। मूर्तियों के लिये अफ्रीका वासियों का शब्द है 'ग्ना, ग्नो ग्रू ग्रू' या 'जू जू' ये सब शब्द एक ही है। (१) एक उदाहरण देना आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रायः परीक्षक से परीक्षार्थी श्रेष्ठ होता है, एक हब्शी वृक्ष की पूजा कर रहा था, जो उसकी मूर्ति कहा जाता था। उसे भोजन समर्पित कर रहा था। किसी यूरोपियन ने पूछा कि क्या वृक्ष भोजन कर सकता है। हब्शी का उत्तर था "अरे यह वृक्ष मूर्ति नहीं है। *हम जिस मूर्ति की पूजा करते हैं वह आत्मा है अदृश्य है। वह इस वृक्ष में उतरी है।* निश्चय ही वह हमारा समर्पित भोजन खा नहीं सकती है किन्तु उसे इसके आध्यात्मिक अंश में आनन्द मिलता है शारीरिक अंश वह छोड़ देती है जो हम देखते हैं।

यह कहानी बिलकुल ठीक है। श्री हैलियर ने इसका प्रमाण दिया है। यह हमारे लिये गम्भीर चेतावनी है। हम एक ही नियम से जङ्गली कहे जाने वाले लोगों की पूजा और बलिदान की भाषा टीका न करें। मूर्ति पूजा ऐसे शब्द से, जिनकी व्याख्या भी ठीक से नहीं की गयी है और जो उपयुक्त भी नहीं हैं उनके धार्मिक कृत्यों को न पुकारें।

मत भ्रम और भी अधिक बढ़ जाता है जब यात्री, मूर्ति शब्द का आधुनिक अर्थ करते हैं ईश्वर के स्थान में। जिन आदिम वासियों के बीच में वे रहे हैं उनका वर्णन करते हैं इसी आधुनिक शब्दावली से। इस प्रकार एक यात्री लिखता है "आदिमवासी कहते हैं कि बबा की मूर्ति झाड़ी में रहती है और उसे कोई भी मनुष्य वहाँ देख नहीं सकता है। जब वह मर जाता है तब मूर्ति पूजक उसकी हड्डियाँ एकत्रित करते हैं उसे पुनर्जीवित करते हैं भोजन देते हैं फिर वह रक्त मांस का प्राणी होता है।" यहाँ पर मूर्ति, शब्द के कामनिमन अर्थ में प्रयुक्त है। इसका अर्थ मूर्ति नहीं है देवता या सत्ता है। मूर्ति जो झाड़ी में रहता है और जिसे कोई देख नहीं सकता है मूर्ति के ठीक उलटे अर्थ में है फेटिको या ग्रू ग्रू' या चाहे जिस नाम से पुकारें। मूर्तियाँ निष्प्राण और

(१) वेटज २ १७५ एफ श्लट्ज का कहना है कि हब्शियों ने यह शब्द पुर्तगालियों से लिया। वेसशियन इन ग्रीजो नाम देते हैं मूर्ति के लिये यह अफ्रीका के पश्चिमी तट पर प्रचलित है।

ि खाया दन वाली वस्तु हैं जिनकी पूजा की जाती है केवल अफ्रीका मे ही नहीं, सारे ससार मे। यह मूर्ति पूजा उनकी धार्मिक चेतना का एक स्वरूप है एक समय का।

मूर्ति पूजा की व्यापकता

यदि हम आग बढे तो हम आश्चय नही होगा जब हम देखे गे कि मूर्तिया सब जगह पायी जाती है प्राचीन और आधुनिक लागा म सम्य और असम्य दोना में। ट्राय मे पलाडियम का आकाश से आया हुआ माना जाता था इससे नगर दुर्भेद्य था। उसे भी मूर्ति की सज्ञा दी जा सकती है। ओडेसियस और डायामडीज न जब उस चुरा कर, मूर्ति की तरह, हटाया तब फराय की विजय कर सके। पाशालियास का कहना है कि प्राचीन काल म यूनान मे देवताओ की मूर्तियाँ साधारण पत्थर की थी। उसका कहना है कि वे पत्थर अब भी हैं, इस युग की दूसरी शताब्दी मे भी। फराय म उनके कथनानुसार तीस चौकोर पत्थर है ज हरमीज की प्रतिमा के निकट हैं। लोग उनकी पूजा करते थे। प्रत्येक पत्थर को एक देवता का नाम दिया गया था।

थस्पियन लोग जो इरोज का प्रथम ईश्वर मान कर पूजते थे, उसकी मूर्ति बनाये थे। वह केवल एक पत्थर थी। हैरोज मे हेराक्लीज की प्रस्तर-प्रतिमा इसी प्रकार की थी, पुरानी प्रथा के अनुसार। पासेनआज न ऐसा ही लिखा है। सिसियन म जायस मेलीशाज की मूर्ति है। दूसरी मूर्ति आरटमिस पैटाआ की है दोना के निर्माण मे कोई कला नही है। एक केवल पिरामिड, स्तूप है और दूसरी एक खम्भा। आरकोमनस म, उनका कहना है कि, श्रेष्ठता और शुचिता की प्रतिमा है। उनकी पूजा साधारण पत्थर की भांति की जाती था। यह विश्वास किया जाता था कि एवाक्लोस के समय म आकाश स गिरे थ। ये पासानियास क समय म शुचिता की मूर्तियाँ मन्दिर म स्थापित की गयी थी।

रोम में भी ऐसा ही है। उन पत्थरों की पूजा की जाती थी जिनका आकाश से गिरा हुआ माना जाता था और युद्ध क्षेत्र मे विजय के लिय उनसे प्राथना की जाती थी। मास नक्षत्र का एक भाल स प्रकट किया जाता था। आगस्ट ने दो नाविक युद्धो की पराजय क बाद नेपचून, एक नक्षत्र का मूर्ति की तरह दड दिया। देवताओ की पक्ति स उसकी मूर्ति हटा दी। स्वेटो नियम के कथनानुसार नीरो को सब धर्मों स घृणा थी। कुछ समय के लिये उसने डीया सीरिया मे विश्वास किया था। इसका भी अन्त हुआ और उसने उसकी प्रतिमा का बहुत अनादर किया। वास्तविकता यह थी कि किसी अज्ञात व्यक्ति ने उस एक लड़की की छोटी मूर्ति दी थी जो उसके कथनानुसार, षड्यन्त्रो स उसकी रक्षा करती थी। इसके ठीक बाद ही उसे पता लगा कि उसकी जान लेने क लिये षड्यन्त्र हो रहा है। तब से उसने उस मूर्ति का सब श्रेष्ठ-

सत्ता मानकर पूजना आरम्भ किया। प्रत्येक दिन वह तीन बार उसके सामने बलिदान करता था। वह घोषणा करता था कि इससे उसे भविष्य की घटनायें स्पष्ट दिखायी देती थी।

रोम के स्थान पर यदि यह सब टिमएकटू में हुआ होता तो क्या हम इसे मूर्ति पूजा न कहते ?

अन्त मे, ईसाई धर्म की बात कहनी है। रोमन कैथलिक देशो म निम्न वग के लोग सतो की प्रतिमाओ के साथ जो व्यवहार करते हैं क्या वह दुष्टता-पूण नही है। डेला वले का कहना है कि पुतगाली नाविक सेन्ट अथनी की मूर्ति बाँधते थ और फिर घुटनों के बल झुक कर पार्थना करते थे "ऐ सत अथनी ! आप कृपा करके यही रहिये और हमारी समुद्र-यात्रा के लिये अनुकूल वायु दीजिये।' फ्रेजियर ने लिखा है कि एक स्पेन का कैप्टन कुमारी मेरी की मूर्ति मस्तूल म बाँध देता था और घोषणा करता था कि वह मूर्ति वही लटकती रहेगी जब तक वह अनुकूल वायु प्रदान नही करेगा। कोट-जब्यू की घोषणा है कि नियापालिटन लोग अपने सतो को कोडे मारते हैं यदि वे उनकी प्रार्थनायें स्वीकार नही करते हैं। कहा जाता है कि रूमी किसान अपनी मूर्तियो का मुख ढक देते हैं यदि वे कोई अनुचित कार्य करत होते हैं। इतना ही नही वे अपने पडोसियो के सन्तो को उधार माँग लाते हैं यदि वे विशेष रूप से सफल सिद्ध हुए हैं।

कोई अजनबी यह सब देखकर यही कहेगा कि यह सब तो मूर्ति पूजा ही है। फिर भी जब हम स्वय अपने स पूछते हैं कि यूरुप मे कुमारी मेरी की या किसी सत की पूजा कैसे सम्भव हुई तब हमारी दृष्टि खुलती है। अफ्रीका के हब्शियो के सम्बध म यही बात क्यो नही है। उनकी सब मूर्तिया को कल की ही क्यो मान लिया जाय।

साराश यह है कि हम देखत हैं कि जिसे मूर्ति पूजा कहा जा सकता है वह उन धर्मों मे जिनका इतिहास हम जानते हैं गौण है। तब अफ्रीका की मूर्तियाँ जिसका धम का प्रारम्भिक इतिहास हम नही जानते हैं प्रमुख कैस मान ली जायें। यदि सर्वत्र मूर्तिया के पूर्व चरित्र मिलते हैं, यदि सर्वत्र मूर्ति पूजा के बाद न्यूनाधिक धार्मिक विचारो का विकास मिलता है तब हम इस पर आग्रह क्या करते हैं कि अफ्रीका म सब धर्मों का प्रारम्भ मूर्तिपूजा स है।

सब धर्मों मे मूर्तिपूजा का कारण बताने म दक्षिण अफ्रीका म मूर्तिपूजा का हवाला दिया जाता है। क्या इससे अच्छा यह नहा होगा कि अफ्रीका म मूर्तिपूजा का कारण बतान म समान तथ्य उन देशो के लिये जाय जिनके धर्मो का इतिहास हम ज्ञात है।

केवल मूर्ति पूजा किसी धर्म म नही है।

किन्तु यदि कभी यह सिद्ध नहीं हुआ है और न कभी सिद्ध हो सकता है कि अफ्रीका में या अन्य स्थानो में मूर्तिपूजा, किसी भी अर्थ म धम का प्रमुख अङ्ग थी, गौण

नहीं, तो यह भी स्पष्ट नहीं है कि मूर्तिपूजा ही अफ्रीका में या अन्यत्र लोगों का सम्यक धर्म थी।

यद्यपि हब्शियों के धर्म के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अब भी अत्यन्त अपूर्ण है, फिर भी मेरा विश्वास है कि मैं यह साधिकार कह सकता हूँ कि जब कभी भी ऐसा अवसर मिला है कि उनमें सबसे निम्न स्तर की जातियों की भी धार्मिक भावनाओं से सम्पर्क स्थापित किया जाय तब हमें ऐसी कोई जाति नहीं मिली जिसमें मूर्तिपूजा के आगे भी कुछ न मिला हो। मूर्तिपूजा ही उनका सम्यक धर्म नहीं है। पार्थिव पदार्थों की प्रकट रूप से पूजा अफ्रीका की जातियों में विस्तृत रूप से की जाती है, दूसरों की अपेक्षा बहुत अधिक। हब्शियों की बौद्धिक प्रवृत्तियों और भावनायें इस कोटि की पूजा की ओर उनको ले जाती हैं। मैं यह सब सहर्ष स्वीकार करता हूँ। मेरा कहना यह है कि मूर्ति-पूजा धर्म का भ्रष्ट रूप थी। अफ्रीका में और दूसरे स्थानों में भी हब्शी पत्थर और पेड़ों की पूजा से उच्चतर धार्मिक भावनाओं की क्षमता रखता है और अनेक जातियाँ जो मूर्तिपूजा में विश्वास करती हैं उसके साथ ही अत्यधिक शुद्ध, उच्चस्तर के विचार और भावनाएं अपने इष्ट के सम्बन्ध में रखती हैं। हमारी अन्तर्दृष्टि आवश्यक है। ऐसी अन्तर्दृष्टि जो यह देख सके सम्पूर्ण क्या है, सम्यक पूजा क्या है। केवल वाह्य पूजा के स्वरूपों में अपूर्ण में अत्यधिक जोर न दे। जितना ही मैं मूर्ति पूजकों के साहित्य का अध्ययन करता हूँ उतना ही उनके धर्म में इस दृष्टि से आस्था रखता हूँ, विश्वास करता हूँ कि हमें उनके उद्देश्य के सम्बन्ध में सच्चा निर्णय तभी प्राप्त हो सकता है जब हम पहले उस चरम बिन्दु को देख लें जिस पर वे पहुँच चुके हैं, उसके बाद हम माप करें जैसे आल्पस पहाड़ की नाप जोख करते हैं। धर्म सभी जगह एक उत्प्रेरणा है। वह पूर्णता कहीं भी नहीं है। हब्शियों के धर्म के सम्बन्ध में हम उतने ही का दावा करते हैं जितना कि अपने धर्म के सम्बन्ध में। जो दिखाई देता है, केवल आवरण मात्र, वाह्य पूजा उसे देखकर ही हम कोई निर्णय न करें। वास्तविकता क्या है, सम्पूर्ण सत्य क्या है इसे जान कर ही निर्णय देना ठीक होगा। वह क्या है, इतना भी पर्याप्त है। उसे क्या होना चाहिए और उसके सिद्ध उपासकों में वह किस रूप में है यह जान लेने पर हमारा निर्णय निष्पक्ष होगा।

अफ्रीका के धर्म में उच्चतर भावनाएँ

इन परिस्थितियों में अफ्रीका के हब्शियों के धर्म के सम्बन्ध में समुचित ज्ञान प्राप्त करने में श्री वाटज ने बहुत कार्य किया है। उनकी पुस्तक *'अन्थ्रापोलाजी'* इस विषय में समीचीन ग्रन्थ है।

जिसने उनके कथनानुसार सब वस्तुओं की सृष्टि की है और जो प्रत्येक उत्तम वस्तु का दाता है। किन्तु यद्यपि वह सर्व शक्तिमान और सर्वव्यापी है जो मनुष्यों के विचार भी जानता है, उनके सङ्कट में दया करता है, संसार का शासन, उनके विश्वास के अनुसार उसकी आज्ञा से छोटी आत्माओं द्वारा होता है। इनमें दुष्ट आत्माओं की ही पूजा की आवश्यकता है और उनको प्रसन्न रखने के लिए बलिदान किया जाता है।

क्रिकशैङ्क ने गोल्ड कोस्ट के हब्शियों के चरित्र के इसी पक्ष की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उनका विचार है कि एक महान भगवान में उनका विश्वास बहुत पुराना है। इसने संसार की सृष्टि की है और वही शासन करता है। किन्तु आगे यह भी कहते हैं कि वे उसको बहुत कम पुकारते हैं। उसे वे परम मित्र या अपना निर्माता मानते हैं जब बहुत बड़े सङ्कट में पड़ते हैं तब वे कहते हैं "हम भगवान के हाथों में हैं। हम वही करेंगे जो वह हमसे ठीक समझ कर करवायगा।"

इस विचार की पुष्टि मिशनरी लोगों ने की जिन पर पक्षपात का आरोप नहीं लगाया जा सकता है। उनका यह भी कहना है कि एक महान सत्ता के विश्वास का प्रभाव भी हब्शियों पर पड़ा है। प्रायः भयङ्कर सङ्कट में वे कहते हैं "भगवान पुरातन हैं, वही सर्वोपरि हैं। वो हम देखते हैं। हम उनके हाथों में हैं।' उसी मिशनरी का यह भी कहना है कि "यदि इस विश्वास के साथ ही वे हजारों मूर्तियों में, देवी-देवताओं में भी विश्वास करते हैं तो यह दुर्भाग्य से अनेक ईसाइयों की भाँति है। वे भी ऐसा ही करते हैं।

ओल्डीज या अशांटी लोग ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता मानते हैं। उसे स्रष्टा, प्रकाश, वर्षा और वरदानों का दाता मानते हैं। सर्वज्ञ समझते हैं फिर भी उनका विश्वास है कि वह सत्ता संसार के शासन में उतरना नहीं चाहती। उसने अनेक आत्मायें बनाई हैं जो पर्वत और घाटियों पर, खेतों और जङ्गलों पर और समुद्र तथा सरिताओं पर शासन करती हैं।

वे आत्माएं, उनकी कल्पना के अनुसार मानवीय आकृति की हैं। उनको प्रायः देखा जा सकता है। पुरोहित लोग उनको विशेषतः देखते हैं। उनमें अधिकांश अच्छी आत्मायें हैं किन्तु कुछ दुष्ट आत्माएँ भी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि एक बात में ये हब्शी यूरोपियन लोगों के समकक्ष हैं। एक महान दुष्ट सत्ता को वे स्वीकार करते हैं जो मनुष्यों की शत्रु है जो इस लोक से दूर निवास करती है।

परम शक्तिमान सत्ता को कुछ अफीकी नाम दिये गये थे जिनका अर्थ था प्रारम्भ सूर्य, आकाश, जलद। दूसरे नामों का अर्थ था स्वर्ग का स्वामी, स्वर्ग सम्राट और अधिपति, अदृश्य स्रष्टा। इस रूप में ये लोग उसकी स्तुति करते समय अपने मुख

पृथ्वी की ओर चलते हैं। उनकी एक प्रार्थना थी 'हे स्वर्ग के भगवान, मृत्यु और बीमारी से हमारी रक्षा करो। हे भगवान हमें सुख और वृद्धि दो।

कमाड़ो या कर्ना उच्च परम सत्ता को 'कवी' कहते हैं। किन्तु उसके नीचे छोटे देवताओं की सत्ता भी मानते हैं जो भगवान और मनुष्य के बीच मध्यस्थ हैं। केमरून के दुक्वाला महान सत्ता और सूर्य का एक ही नाम से पुकारते हैं।

मासाई लोग एक स्वर्ग के स्वामी में विश्वास करते हैं जिस के आज्ञाकारी रहते हैं। वे दूसरे देवताओं में भी विश्वास करते हैं। बकवा जिन में ईश्वर स्थान का व देवताओं का भक्त मानते हैं। इस प्रकार से आसमान जहाँ से मनुष्यों की सृष्टि का आरम्भ माना जाता है।

अशान्ति लोगों में रोमर ने बताया है कि निकलते हुए सूर्य की एक प्रकार से उपासना की जाती थी। ब्रिनकमैन का कहना है कि यहाँ पर किसी भी पार्थिव पदार्थ की पूजा मूर्ति पूजा नहीं की जाती। मिशनरी लोगों के विवरण से हम जानते हैं कि सर्वोच्च ईश्वर के लिये उनका नाम ओनमा है जिसका अर्थ है वर्षा और भगवान। यह 'ओनमा' शब्द 'चामा' के समान है जो गोल्ड कोस्ट में भगवान का नाम है। यहाँ भी इसका अर्थ है आकाश जो सघन है और तना है। एक इव्वी पुरोहित ने कहा "क्या तुम प्रतिदिन यह नहीं देखते कि घास अन्न पुष्प, वर्षा से बढ़ते हैं जो वह देता है वह स्वर्ग क्या नहीं है? मेघ उसके घूंघट हैं, सितारे उसके मुख के जवाहिरात हैं। बोंग उसके बच्चे हैं, व आत्मायें जो वायु में पूर्ण हैं और पृथ्वी पर उसकी आज्ञा मानते हैं।

इन बोंग को भी इसी प्रकार मूर्तियाँ भ्रमवश मान लिया गया है। और पुराने धर्मों में यह एक प्रमुख तथ्य है केवल अफ्रीका में ही नहीं वरन् सब जगह यह विद्यमान है जहाँ मनुष्य और देवता का अन्तर बहुत बड़ा हो गया है और जहाँ किसी मध्यस्थ सत्ता की आवश्यकता है जो उस खाई को भरे जो मनुष्य ने अपने और देवताओं के बीच स्वयं निर्मित की है। रोलसन ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं जब उसने 'जेनी' की उपासना का समर्थन किया है। ईसाई लोगों को सम्बोधित करते हुए उसने कहा था—वे पुरानी जेनी की पूजा से इन्कार करते थे—' भगवान तो कभी भूल नहीं हो सकती। भगवान की कुछ हानि नहीं हो सकती। छोटी आत्माएं भगवान के समकक्ष नहीं हैं। भगवान उस आदर पर रोष भी प्रकट कर सकते हैं जो हम उनको देते हैं। हम केवल भगवान के गुणों की पूजा करते हैं जिनकी आज्ञा सर्वमान्य है भगवान की आज्ञा से ही सब अधिकार हैं। यह कहना कि एक ही भगवान स्वामी और समर्थ है, भगवान से ही विद्रोह करना है। उनकी आज्ञा की अवहेलना है।

गोल्ड कोस्ट में यह विश्वास किया जाता है कि ये 'बोंग' पृथ्वी और स्वर्ग के

बीच में निवास करते हैं। उनकी सन्ताने होती हैं वे मरते हैं और फिर जन्म लेते हैं। समुद्र के लिए एक 'बोंग' है और समुद्र के सब जीव जन्तुओं का वह इष्ट देव है। सरिताओं, झीलों और झरनो के लिये दूसरे 'बोंग' हैं। कुछ दूसरे 'बाग' भूमि के टुकडो के लिये हैं जो बन्द कर दिये गये हैं। दूसरे हैं जो मिट्टी के ढेर के लिये हैं जो बलिदान को ढकने क लिये डाली जाती है। दूसरे ऐस भी हैं जो कुछ वृक्षो के लिये हैं, कुछ पशुओं के लिये हैं जैसे घडियाल, बनमानुस, सांप । दूसरे पशु 'बोंग' के लिये पवित्र माने जाते हैं। मूर्ति पूजक द्वारा बनाई गई पवित्र मूर्तियों के 'बोंग' हैं। अन्त मे किसी भी वस्तु के लिये जा बाल, हड्डी तागा से बनी हो और तलिसमा के रूप में विक्ती हो 'बाग' हैं। यहाँ हमें 'बाग' मे और मूर्तियों में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। मूर्ति वाह्य रूप है और 'बाग' अन्तर की सत्ता, आत्मा है। इसम सन्देह नही है कि यहाँ भी आत्मिक सत्ता क्षीण हो गयी होगी और पार्थिव रूप रह गया होगा।

अकवापिम मे 'जकुपांग का अर्थ है ईश्वर और मौसम दोना। वानी में और ईस्ट अफ्रीका में मकुवा लोगों म एक ही शब्द ईश्वर, स्वर्ग और बादल के लिये प्रयुक्त होता है।

दहोमी मे सूय को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है परन्तु उसकी पूजा नही की जाती है। 'इवोज' लोग सृष्टि के कर्त्ता मे विश्वास रखते हैं और उसको 'गुफ़' कहते हैं। उसके दो आँखें हैं और दो कान हैं। एक आकाश मे और दूसरी पृथ्वी पर। वह अदृश्य है और उसे कभी नींद नही आती है। जो कुछ कहा जाता है वह सब सुनता है किन्तु वह उनके ही पास जाता है जो उसके पास जाते हैं।

इससे अधिक सरल और सत्य क्या हो सकता है ? वह उनके पास पहुँचता है जो उसके पास जाते हैं। इससे अधिक हम और क्या कह सकते हैं ?

यह विश्वास किया जाता है कि अच्छे लोग उसे मृत्यु क बाद देखेंगे। बुरे लोग आग में डाल जायगे। क्या हम सब यही नहीं कहत ?

कुछ हब्शी लोग मूर्ति पूजा के भ्रष्ट रूप से सावधान हैं। यह इससे प्रकट हाता है कि 'अक्रा के लाग कहते हैं कि केवल बन्दर ही मूर्ति-पूजक हैं।

इन वक्तव्या की सत्यता और प्रामाणिकता का उत्तरदायित्व मै नही ले सकता हूँ। किन कारणा से, यह मैं बता चुका हूँ। मैं उनको एक विद्वान के प्रमाण से मानता हूँ। उस विद्वान को पुरानी हस्तलेख पढ़ने का अभ्यास था। प्रोफेसर 'वेटज ऐसे ही प्रमुख विद्वान थे। इन सबको पढ़ने के बाद हब्शियो के सम्बन्ध की धारणाये एकदम उनसे दूसरी हो जाती हैं जो साधारणतया प्रचलित हैं। इनस यह स्पष्ट हो जाता है कि हब्शी का धर्म अत्यन्त बहुप्रशंसीय है वह केवल मूर्तिपूजा नही है, सर्वत्र एक समान मूर्तिपूजा नही है। उसमें मूर्तिपूजा है, शायद दूसरी जातियों स अधिक। लेकिन यह

मान्यता कहाँ रह गई कि हब्शी का धर्म केवल मूर्ति पूजा है और हब्शी इसके आगे कभी भी नही बढ़ा। जो धर्म की सबसे नीची अवस्था है। हमने देखा है कि अफ्रीका वासियों के धर्म मे आत्माओ की पूजा के स्पष्ट चिन्ह हैं जो प्रकृति के विभिन्न भागों म रहती हैं उनमे एक श्रेष्ठ सत्ता की भावना है जो सूर्य या आकाश से गुप्त और प्रकट होती है। यदि सदैव न सही तो प्राय सूर्य या आकाश ही वह पुल है जो दृश्य और अदृश्य के बीच मे है, प्रकृति और प्रकृति के भगवान के बीच म है। किन्तु सूर्य के अतिरिक्त, चन्द्रमा की भी उपासना हब्शी लोग करते थे।

चन्द्रमा को वे मासो और ऋतुओं का शासक मानते थे और उस जीवन और समय का नियन्ता समझते थे वृक्षो के नीचे बलिदान होते थे फिर वृक्षों के लिये भी बलिदान होने लगे। विशेषत पुराने वृक्षो के लिये जिन्होने किसी परिवार या जाति का आनन्द और दुख सब कुछ देखा था।

पशु-पूजा

उपरोक्त के अतिरिक्त जिसे एक साधारण नाम से प्रकृति पूजा कहा जा सकता है, पशु पूजा के भी स्पष्ट चिह्न हैं। हब्शी लोग कुछ पशुओ की पूजा कैसे करने लगे, उनका अभिप्राय क्या था इसकी खोज करना एक कठिन समस्या है। अधिकांश लेखकों ने यह भूल की है कि, पुरातन धर्मों के विचार के समय, यह मान लिया है एक परम्परा या रीति रिवाज के लिये एक ही अभिप्राय हो सकता है जिसे स्पष्ट करना है। साधारणतया अनेक अभिप्राय होते हैं। कभी कभी मृतकों की आत्माओं को कुछ पशुओ मे रहने पर विश्वास किया जाता है। अनेक स्थानों मे पशुओं को विशेषत भेडियो का मृतक शरीर खिलाया जाता है। परिणाम स्वरूप उनको पवित्र मान लिया जाता है। बन्दरो को मनुष्य तुल्य माना जाता है सृष्टि के समय इनके निर्माण में कुछ कमी रह गयी। कभी कभी यह माना जाता है कि मनुष्य को पापो के कारण बन्दर का शरीर मिला है। कुछ स्थानों मे विश्वास किया जाता है कि वे बोल सकते हैं किन्तु श्रम बचाने के लिये मौन रहते हैं। शायद इसीलिये उनको मारना पाप है। दूसरे पशुओं की तरह उनको नही माना जाता, कुछ श्रेष्ठता उनमे आरोपित की जाती है। इसीलिये आगे चलकर धार्मिक पवित्रता उनमे मान ली गयी होगी। हम जानते हैं कि हाथी, अपनी बुद्धि के विशेष विकास के कारण इसी प्रकार की भावनायें उत्पन्न करते हैं लोग उनको मारना नहीं चाहते। यदि मारना नहीं चाहते यदि मारना ही पडे तो उस पशु से क्षमा माँगते हैं जिसे उन्होंने मारा है। दहोमी में जहाँ हाथी स्वाभाविक रूप से पूजा जाता है जब मारा जाता है तब अनेक शुद्धि की क्रियायें होती हैं।

अनेक स्थानों में कुछ पशुओं द्वारा मारा जाना भाग्य का लक्षण समझा जाता है। उदाहरण के लिये दहोमी में तेंदुआ के द्वारा।

अनेक कारणों से साँपों को भय की दृष्टि से देखते हैं। उनको पाला जाता है और उनकी पूजा भी होती है। विषाक्त साँपों से डरा जाता है।

इसलिये उनकी पूजा की जाती थी। विशेषत, शायद गुप्त रूप से, उनके विषदंत निकाल देने के बाद। दूसरे साँप पालतू पशुओं की भाँति लाभदायक हैं। वे मौसम की सूचना देते हैं, इसीलिये उनको भोजन दिया जाता था, उनकी कीमत समझी जाती थी और कुछ समय बाद पूजा भी की जाती थी। पूजा शब्द का उसी अर्थ में लिया है जिस निम्न स्तर में असभ्य लोगों में इसका व्यवहार होता था। मृतकों की आत्मायें कुछ समय कुछ पशुओं में रहती हैं, यह विश्वास बहुत प्रचलित है। कुछ साँपों के स्वभाव पर विचार करने पर, उजाड़ और एकांत स्थानों में छिपने के उनके स्वभाव से और उनके अचानक प्रकट होने से, अपने आश्चर्यजनक नेत्रों से निवासियों को देखने से हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार का भय मिश्रित अंध विश्वास साँपों के विषय में रहा होगा। तदनुसार ही उनसे व्यवहार किया गया। यह बात भी है कि प्राचीन और आधुनिक युग में अनेक जातियों ने 'नागा' नाम ग्रहण किया। इसका कारण उस देश पर अपना स्वत्व जताना हो सकता है या जैसा डायाडोरस का कहना है साँपों को अपनी ध्वजा के रूप में प्रयोग किया गया था। उनका एकत्र होने का चिह्न या उनका होना टटका या शिपर चिह्न। डायाडोरस ने यह भी कहा है कि लोगों ने साँपों का अपनी ध्वजा के लिये इसलिये चुना होगा कि वह उनका इष्ट देव था। या चूँकि वह उनकी ध्वजा में था इसलिये इष्ट देव हो गया होगा। प्रत्येक दृष्टि से देखने पर यह स्वाभाविक लगता है कि लोगों ने किसी भी कारण से अपने को नाग कहना प्रारम्भ किया और उनको अपना पूर्वज मानने लगे, फिर उनको देवता मानने लगे। भारतवर्ष में बहुत पहले पुराण कथाओं में, महाकाव्यों में और परम्पराओं में साँपों का प्रमुख स्थान हो गया था। हमारी बच्चों की कहानियों में जो स्थान परियों का है वही स्थान साँपों का हो गया। वे गंधर्वों, अप्सराओं, और किन्नरों आदि के साथ प्राचीन इमारतों के, भारतवर्ष में अलङ्कार बन गये।

इन भारतीय साँपों से नितान्त भिन्न हैं 'जिंदावेस्ता' के साँप, जेनेसिस के साँप और यूनान तथा ट्यूटोनिक पुराणकथाओं के साँप। साँप अनन्तता का भी चिन्ह है, शायद केंचुल छोड़ने के गुण के कारण या अपने को गोलाकार लपेटने के स्वभाव के कारण। कल्पना के इन जीवों का अपना इतिहास है। उन सब को मिला देना वैसा ही होगा जैसे एक जीवन-वृत्त लिख देना सब व्यक्तियों का जो अलेकजंडर कहे गये हैं।

अफ्रीका में पशुओं की प्रचुर कथाएँ प्रचलित हैं। ईसप की कहानियों की भाँति। यद्यपि ये सब जातियों में नहीं मिलती हैं।

यह भी कहा जाता है कि प्राचीन काल में मनुष्य और पशु एक दूसरे से वार्तालाप कर सकते थे। बाद में यह कहा जाता है कि एक मनुष्य ने अपनी स्त्री से पशुओं की भाषा का भेद बता दिया। उसके बाद वार्तालाप की शक्ति समाप्त हो गयी। यह कहा जाता है कि अफ्रीका में मनुष्य की देवता की भाँति कभी पूजा नहीं होती। यदि कहीं पर शक्तिशाली सरदारों को जो सम्मान दिया जाता है उससे हम कम्पित हो जाते हैं तो हम यह नहीं भूल जाना चाहिये कि राम के अत्यन्त उत्कर्ष के समय में आगस्टस और उसके उत्तराधिकारियों को देव-तुल्य सम्मान दिया गया था। जो अंग भंग पशु प्राणी हैं, बौने हैं या कुछ विचित्र हैं उनको ऐसी दृष्टि से देखा जाता है जैसे वे अप विघ्न हों।

पुनर्जन्म

मृतकों की आत्माओं को बहुत सम्मान दिया जाता है। मृतकों की हड्डियाँ प्राय सुरक्षित रक्खी जाती हैं और धार्मिक आदर और श्रद्धा समर्पित की जाती है। अशांटी लोगों का एक शब्द 'क्र' है जिसका अर्थ है मनुष्य का जीवन। यदि पुल्लिंग में इसका प्रयोग करें तो इसका अर्थ होता है वह प्रेरणा जो मनुष्य से पाप करवाती है। स्त्री लिंग मे प्रयोग करने पर इसका अर्थ होता है वह आवाज या प्रेरणा जो मनुष्य को पाप से बचाती है। 'क्र' किसी व्यक्ति की प्रतिभा है जिसे जादू से निकट लाया जा सकता है। बलिदान की उसे कामना है क्योंकि वह रक्षा करती है। जब एक व्यक्ति मर जाता उसकी 'क्र' 'सिसा' हो जाती है जिसका पुनर्जन्म हो सकता है।

अफ्रीका के धर्म का बहुमुखी रूप

अब मैं यह पूछता हूँ कि ऐसे बहुमुखी धर्म के रूप को क्या सीधे अफ्रीका वासी की मूर्ति पूजा कहा जा सकता है? क्या हमको सब धर्मों का थोड़ा अंश हब्शी की पूजा और विश्वास में नहीं मिलता है, जो कुछ भी थोड़ा बहुत हम उसके विषय में अब जानते हैं उसे देखते हुये? क्या हमारे पास कुछ भी प्रमाण है कि ये हब्शी किसी भी समय केवल मूर्ति पूजक थे और कुछ नहीं? क्या हमारे सब प्रमाण इसके विपरीत सिद्ध नहीं करते हैं? मूर्ति पूजा एक तात्कालिक विकास थी, पूर्व चरित्रों पर विचार करने से इसे समझा जा सकता था। मूर्ति पूजा कभी भी मनुष्य के हृदय की मौलिक भावना नहीं थी।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, कठिन समस्या यह है कि तर्कपूर्ण और उच्च धार्मिक विचारों के साथ, जिसके चिह्न अनेक हब्शी जातियों में मिले हैं, उनकी भद्दी मूर्ति पूजा का सामंजस्य कैसे किया जाय।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक धर्म बुद्धिमान और मूढ़ के बीच का समझौता है। बुड्ढे और नौजवानों के बीच का मार्ग है। मस्तिष्क जितना ही ऊँचा देवत्व की खोज में उड़ता है उतना ही अनिवार्य हो जाता है कि उनकी अभिव्यक्ति के लिये चिह्न रखे जायें जिनकी आवश्यकता बच्चों का होती है और प्राय अधिकांश जन साधारण के लिये होती है जो सूक्ष्म और गूढ़ बातों को समझने म असमर्थ हैं।

इसमें सन्देह नहीं है कि मूर्ति पूजा के पक्ष में उसके सब रूपों के विषय में दलीलें दी जा सकती हैं। हमारी दुर्बलता में यह सहारा देती है। वह हमें कर्तव्य-बोध कराती है। वह हम पार्थिव पदार्थों में आध्यात्मिक दर्शन की ओर ले जा सकती है। वह हमें शान्ति और सान्त्वना देती है जब हमें कहीं शान्ति नहीं मिलती है। वह इतनी निरापद है कि यह समझना कठिन हो जाता है कि मानव मात्र के कुछ परम बुद्धिमान उपदेशकों ने इसकी निन्दा क्यों की है। बहुतों को आश्चर्य होता है कि 'दस आज्ञाओं में जो सूत्र रूप म हैं, दूसरा स्थान इस आज्ञा को क्यों दिया जाता है "तुम अपने लिये कोई मूर्ति नहीं बनाओगे, जो स्वर्ग में है उसकी प्रतिकृति नहीं बनाओगे, जो पृथ्वी पर है या जो पृथ्वी के नीचे रसातल म है उसकी आकृति नहीं बनाओगे। तुम उनके आगे मस्तक नहीं झुकाओगे और न उनकी पूजा करोगे।"

जो इन शब्दों का गूढ़ अर्थ समझना चाहते हैं उनको पुरातन धर्मों का इतिहास पढ़ना चाहिये। उनको अफ्रीका के धार्मिक उत्सवों का वर्णन पढ़ना चाहिए। अमेरिका और आस्ट्रेलिया के उत्सवों के विषय म भी जानकारी प्राप्त करना चाहिये। उनको अपने ईसाई गिरजाघरों के धूमधाम और तमाशे देखना चाहिये। कोई भी तर्क यह सिद्ध नहीं कर सकता है कि इन बाहरी चिह्नों में कोई भूल है। हम जानते हैं कि बहुत से लोगों के वे सहायक हैं और सान्त्वना प्रद हैं। किन्तु तर्क की अपेक्षा इतिहास एक अधिक कठोर शिक्षक है। एक सबक जो निश्चित रूप से धर्मों का इतिहास देता है वह यह है कि वह शाप जो उनको दिया गया था जो अदृश्य को दृश्य में बदलना चाहते थे, आध्यात्मिक को पार्थिव बनाना चाहते थे, देवत्व को मनुष्यत्व में लाना चाहते थे, अनन्त को सान्त में बदलना चाहते थे, पृथ्वी की सब जातियों पर सत्य सिद्ध हुआ है। हम अपने को गरीब हब्शी की मूर्ति पूजा स सुरक्षित मान सकते हैं लेकिन हमम बहुत कम ऐसे हैं जिनकी अपनी कोई मूर्ति नहीं है, वह मूर्ति चाहे गिरजाघर में हो या हृदय में।

द ब्रासेज के समय से अब तक मूर्ति पूजा के सम्बन्ध लिखे गये अनेक लेखों की समीक्षा से जो परिणाम निकले हैं उनको चार शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है —

(१) 'फेटिशो' मूर्ति शब्द का अर्थ प्रथम प्रयोग के बाद से अब तक नितान्त अस्पष्ट रहा है। उसकी ठीक से व्याख्या नहीं हुई [३]। अनेक लेखकों ने इस के अर्थ का

इतना विस्तार किया है कि प्राय प्रत्येक चिह्न या प्रतीक को या प्रतिमूर्ति को भी धार्मिक पदार्थ, पूजा के योग्य, मान लिया है।

✓(२) उन लोगों में जिनका इतिहास है हम पाते हैं कि प्रत्येक वस्तु जो मूर्ति की श्रेणी में आती है उसका एतिहासिक और मनोवैज्ञानिक पूर्व चरित्र रहा है। इस लिये यह ठीक नहीं है कि हम मान लें कि उन लोगों में भी ऐसा ही नहीं है जिनके धार्मिक विकास के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते हैं और जिन तक हमारी पहुँच नहीं है।

✓(३) ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जिसने मूर्ति पूजा से अपने को बिलकुल अलग रक्खा हो।

✓ (४) ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जिसमें केवल मूर्ति पूजा ही समग्र धर्म हो।

मूर्ति पूजा की मानी हुई मनोवैज्ञानिक आवश्यकता

इस प्रकार अपने विचार से मैंने इस स्थिति पर ठीक से निश्चय किया है और सर्वव्यापी आदिम मूर्तिपूजा के सिद्धान्त स्पष्ट किये हैं। अब तक मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में जो तथ्य मिले हैं उनसे किसी प्रकार धर्म की स्वाभाविक उत्पत्ति का प्रश्न किसी भी भाषा में हल नहीं होता है।

मूर्तिपूजा के समर्थकों ने विशेष रूप से कामटियन सिद्धान्त वालों पर यह आपत्ति की है कि ये केवल तथ्य हैं। एक सच्चे और दृढ़ सिद्धान्त को स्थिर करना है उसके बाद यह स्वीकार किया जा सकता है कि धर्म की प्रथम भावना अनन्त के दर्शन और आन्तरिक अनुभूति से प्रारम्भ हुई जो प्रकृति के दृश्यों द्वारा हम उस ओर ले जाती रही है। धर्म की भावना का उदय किसी भय या आश्चर्य के कारण नहीं हुआ। घोंघे, पत्थर, या हड्डियाँ जिनको मूर्ति कहा गया है उनसे ऐसी सान्त वस्तुओं से धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई है।

हमसे कहा जाता है कि तथ्य कुछ भी हो जो घटना वश ही सही, हम सुलभ हैं और जो यह प्रमाण देते हैं कि धार्मिक विचारों का एक युग ऐसा रहा होगा चाहे वह ऐतिहासिक काल का हो या प्राग ऐतिहासिक काल का हो, पृथ्वी के बनावट और उथल पुथल के समय का हो सकता है या किसी समय का जब पृथ्वी के भीतर स्तर ठीक हो रहे थे —मनुष्य पत्थर और स्तम्भों की पूजा करता था और इससे अधिक कुछ नहीं।

मैं यह नहीं कह सकता कि कुछ परिस्थितियों में केवल तर्क और समीक्षा उतनी शक्तिशाली नहीं हो सकती जितनी कि ऐतिहासिक साक्षी फिर भी मैं समझता हूँ कि मैंने बहुत अच्छी तरह यह स्पष्ट कर दिया है कि उन जातियों में, जिनको मूर्तिपूजकों के रूप में रक्खा जाता था, धर्म की सरल भावनायें विद्यमान थीं और कभी कभी श्रेष्ठतम

देवत्व की, जिनके लिये हम व्यर्थ ही होमर और हेसियाउ देखते हैं। एक सिद्धान्त के समर्थन के लिये तथ्यों का संग्रह किया गया था, इतना ही नहीं उस सिद्धान्त के लिये प्रेरणा दी गयी थी। वह सिद्धान्त बना है यद्यपि तथ्य वे नहीं हैं, या उनका रूप बदल गया है। यह बहुत ही सकट पूर्ण है कि किसी युग को अपने पीछे छोड दिया जाय, इस लिये इस सिद्धान्त को मूतिपूजा के सम्बन्ध मे इस धारणा का कम से कम शब्दों मे स्पष्ट करना है।

इसे मान लेना चाहिये कि जो लोग यह मानते हैं कि धर्म की उत्पत्ति सर्वत्र मूतिपूजा मे हुई है। वे मूर्ति को पदार्थ के अर्थ म लेते हैं। किसी आकस्मिक अर्थ मे मानते हैं। वे पदार्थ किसी भी कारण मे या बिना किसी कारण के भी अद्भुत शक्तियों से पूर्ण माने जाते थे। धीरे धीरे वे आत्मा या देवताओं की कोटि तक पहुँच गये। वे दूसरी सम्पति नहीं रख सकते थे कि मूर्ति प्रारम्भ से ही एक चिह्न या प्रतीक थी, एक बाह्य आकार थी किसी शक्ति का जो पहले से ज्ञात थी। यह शक्ति, प्रारम्भ में मूर्ति से पृथक थी फिर उसे मूर्ति में व्यापक माना गया और इस प्रकार मूर्ति को ही शक्तिमान लिया गया। ऐसी स्थिति मे मुख्य समस्या उनके लिये जो मनुष्य के मस्तिष्क का अध्ययन करते हैं, यह होगी कि उस शक्ति की उत्पत्ति और विकास कैसे हुआ और फिर मूर्ति मे उसका निवास कैसे हुआ। धार्मिक जीवन का वास्तविक समारम्भ वहाँ होगा मूर्ति का स्थान गौण होगा। प्रा० जेलर के साथ यह कहना भी पर्याप्त नहीं हैं कि केवल कल्पना की उडान और भावना ही निर्जीव को भी मूर्तिमान और सप्राण मान लेती है। तर्क का प्रयोग न करके उनको भगवान मान लेती है। मुख्य प्रश्न यह है कि वह कल्पना या भावना कहाँ से आयी ? और सबसे पहले भगवान की कल्पना ही क्यों हुई जिसका न कोई आधार है न प्रेरणा।

इसलिये मूर्ति पूजा का सिद्धान्त जिस पर हम विचार करना है यह है कि आकस्मिक वस्तुओं की पूजा पहला और अनिवार्य कदम है, धार्मिक विचारों के विकास म। कहा जाता है कि धर्म का प्रारम्भ हुआ है और होना चाहिये पत्थरों धागों और हड्डियों और इसी प्रकार की वस्तुओं पर ध्यान लगाने से। इस स्तर के बाद उसमें कुछ और की भावना जागृत हुई है। वह कुछ शक्ति आत्मा या देवता, किसी नाम से पुकारा जा सकता है।

मूर्ति का अलौकिक अभिप्राय

आइये इस सिद्धान्त पर हम सीधे विचार करे। जब यात्री, जीव शास्त्री, और दार्शनिक यह बताते हैं कि आदिम जातियाँ पत्थरों, वृक्षों और हड्डियों को अपना भगवान मानती हैं तब हमें आश्चर्य किस बात से होता है ? निश्चय ही पत्थरों, हड्डियों या वृक्षों से नहीं जो केवल वस्तुयें हैं वरन् उनके अभिप्राय में अर्थात् भगवान से।

पत्थर, घोंघे और हड्डियाँ सभी स्थानों पर सरलता से सुलभ हैं। मनुष्य के मस्तिष्क के विकास का विद्यार्थी यह जानना चाहता है कि उनमें वह उच्च अभिप्राय कहाँ से आया। भगवान की धारणा कैसे उत्पन्न हुई? सारी समस्या यही है। यदि कोई छोटा बच्चा अपनी बिल्ली ले आवे और कहे कि यह सप्राण जीव है तो जो बात हमें खटकेगी वह यह होगी कि इस बच्चे को सप्राण जीव शब्द कैसे ज्ञात हुआ। यदि मूर्तिपूजक एक पत्थर ले आवे और कहे कि यह ईश्वर है तो हमारा प्रश्न यही है। ईश्वर शब्द कहाँ से मिला? ईश्वर का नाम कहाँ सुना? इस नाम का अर्थ क्या है? यह आश्चर्य की बात है कि प्राचीन धर्म के लेखकों ने इस कठिनाई का कम अनुभव किया।

अब इसे मूर्ति पूजा के साधारण सिद्धान्त पर लगाना है। हम देखेंगे कि समस्या केवल यह है 'क्या आत्मायें या देवता पत्थर से प्रकट हो सकते हैं? या और अधिक स्पष्टता से, एक पत्थर की धारणा से आत्मा या ईश्वर की धारणा का परिवर्तन कैसे हुआ?

मूर्ति पूजा का एक न एक प्रारम्भ

कहा जाता है कि यह परिवर्तन तो बहुत ही सरल है। किन्तु कैसे? हमसे कहा जाता है कि हम मस्तिष्क की उस अवस्था पर विचार करें जब मनुष्य पाँच इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान के आगे कोई भावना नहीं रखता था, तब एक चमकता पत्थर देखता है या प्रकाशमान घोंघा देखता है, उसे अद्भुत समझ कर उठा लेता है अपनी प्रिय वस्तु की तरह उसे रखता है और समझ लेता है कि यह पत्थर दूसरे पत्थरों की तरह नहीं है, यह घोंघा दूसरे घोंघों की तरह नहीं है इसमें विशेष शक्ति है जो पहले किसी पत्थर या घोंघा में नहीं थी। हमसे यह मानने के लिये कहा जाता है कि संभवतः पत्थर प्रातःकाल मिला होगा और मनुष्य दिन भर भयंकर युद्ध में लगा रहा होगा। उसमें उसे विजय मिली होगी और उसने उस पत्थर को अपनी विजय का कारण समझा होगा। उसने सदैव उस पत्थर को शुभ मान कर रक्खा होगा। संभव है उसका शुभ लक्षण कई बार प्रकट हुआ हो। वास्तव में जो पत्थर एक बार से अधिक भाग्य उज्ज्वल करने वाले निकले उनको ही मूर्तियों का स्थान प्राप्त हो सका। तब उनमें कोई अलौकिक शक्ति मानी गयी होगी। उनको केवल पत्थर ही नहीं माना गया होगा, कुछ और भी, एक शक्तिशाली आत्मा जिसकी सम्पूर्ण पूजा की जानी चाहिये जो उसका अधिकार था वह पत्थर अभीष्ट की पूर्ति करने वाला माना जाता था इसी लिये उसकी पूजा की जाती थी।

हमें विश्वास दिलाया जाता है कि यह प्रक्रिया, बुद्धिग्राह्य न होने पर भी तर्क-संग्रह है, मैं इससे इन्कार नहीं करता हूँ। मुझे केवल इस बात में सन्देह है कि क्या यह

असंस्कृत मस्तिष्क की परिचायक है। जैसा यहाँ वर्णन किया गया है उसके अनुसार, क्या यह सारी प्रक्रिया प्राचीन और आदिम विचारों से अधिक आधुनिक विचारों के अनुकूल नहीं है ? इतना ही नहीं, मेरा प्रश्न यह है कि क्या यह उस अवस्था में ही सम्भव नहीं था जब मनुष्य अनन्त की खोज में बहुत आगे बढ़ गये थे, उन धारणाओं को पूर्ण रूप से ग्रहण करते थे जिनकी उत्पत्ति के वर्णन को हम स्पष्ट रूप से जान लेना चाहते हैं ?

क्या आदिमवासी बच्चों की भाँति हैं ?

पहले यह मान लिया गया था कि मूर्तिपूजा की मनोवैज्ञानिक समस्या को बच्चों के संदर्भ में स्पष्ट किया जा सकता है। बच्चे अपने खिलौनों और गुड़िया से खेलते हैं। जो कुरसी उनको लग जाती है, उसे मारने लगते हैं। यह मान्यता अब स्वीकार नहीं की जाती है क्योंकि यह मान लेने पर भी कि मूर्तिपूजा पदार्थों की पूजा तक ही सीमित थी यह कल्पना कर ली गयी थी कि उनमें प्राण है, शक्ति है, एक व्यक्ति है—इसे चाहे प्रतीकवाद कहें, चाहे रूपवाद, पशुवाद, व्यक्तिवाद, पुरातनवाद कहें—केवल यह बात कि बच्चे भी वही करते हैं जो प्रौढ़ आदिवासी करते हैं। हमारी मनोवैज्ञानिक समस्या का समाधान नहीं करती है।

यह तथ्य, मान ले कि यह तथ्य है फिर भी रहस्य पूर्ण रह जायगा जिस प्रकार बच्चा के लिये उसी प्रकार आदिम वासियों के लिये। इसके अतिरिक्त, यद्यपि आदिम वासियों को बच्चे कहने में या बच्चों को जंगली लड़ाक (आदिम वासियों के समान) कहने में सत्य का कुछ अंश है फिर भी हमें विवेक पूर्ण विभेद करना होगा। आदिमवासी कुछ अंशों में बच्चे होते हैं, पूर्ण अंश में नहीं होते। ऐसा कोई भी आदिम वासी नहीं जो प्रौढ़ होने पर सप्राण और निष्प्राण पदार्थों का भेद न जानता हो। उदाहरण के लिये रस्सी और साँप में अंतर न जानता हो। यह कहना कि वे ऐसे मामलों में बच्चे ही बने रहते हैं, अपने रूपकों से अपने को धोखा देना है। दूसरी ओर बच्चों से जैसे वे आज हैं,यह कल्पना नहीं की जा सकती कि आदिम वासी कैसे रहे होंगे। हमारे बच्चे प्रथम मानसिक चेतना के उदय के समय से ही प्रगति पूर्ण सभ्यता के विचारों से पूर्ण वातावरण में रहते हैं। वह बच्चा के अच्छी सजी गुड़िया से आकंपित नहीं होता है और न उस कुरसी को मारने लगता है जो उसे लग गयी है। आदिमवासी के लक्षण वाला न होकर, कुछ दार्शनिक सा होगा जो अभी मूर्ति पूजा से ऊपर नहीं उठा है।

परिस्थितियों और वातावरण बच्चे और आदिम वासी के इतने विभिन्न हैं कि उनकी तुलना बड़ी सावधानी से करनी चाहिये। तभी उनका कोई वैज्ञानिक महत्व माना जा सकता है।

मैं यहाँ तक प्रारम्भिक मूर्तिपूजा के समर्थकों से सहमत हूँ कि यदि हम धर्म को विश्व व्यापी सम्पत्ति मानते हैं और उसका कारण जानना चाहते हैं तो हम उन परिस्थितियों में उसे देखना होगा जो विश्व व्यापी हैं।

मैं उनको दोष नहीं देता हूँ यदि वे इस पर बहस नहीं करना चाहते हैं कि धर्म की उत्पत्ति प्रारम्भ में अन्त स्फूर्ति या इलहाम में हुई है या किसी धार्मिक शक्ति से हुई है जो मनुष्य और पशु में भेद बताती है। इसलिये हम को सर्वमान्य आधार से और सुरक्षित आधार से इसकी समीक्षा करनी है।

हम मनुष्य को जैसा वह है वैसा ही देखें, इस से ही प्रारम्भ करें। उसमें पाँच इन्द्रियाँ हैं और इन पाँच इन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसी तक सीमित रक्खें। वह निस्सन्देह एक पत्थर, या हड्डी या घोंघा उठा सकता है। तब प्रारम्भिक मूर्ति पूजा के समर्थकों से यह प्रश्न करना है कि वे लोग पत्थर, या घोंघा तो उठा लेते हैं किन्तु उसके साथ ही अलौकिक शक्ति आत्मा या देवता और उसकी पूजा की भावना कहाँ से लेते हैं।

चार चरण

कहा जाता है कि चार चरण प्रसिद्ध हैं जिनके द्वारा इसकी प्राप्ति होती है। इनसे मूर्तिपूजा का प्रारम्भ समझ में आ जायगा। पहला चरण है—आश्चर्य की भावना, दूसरा उस पदार्थ के सम्बन्ध में पुरातन ऐतिहासिक भावना जिससे आश्चर्य उत्पन्न होता है, तीसरा उस पदार्थ के सम्बन्ध में यह मान लेना कि उससे आकस्मिक प्रभाव उत्पन्न होते हैं, जैसे विजय, वर्षा और स्वास्थ्य। चौथा उस पदार्थ को आदर और पूजा का पात्र स्वीकार करना।

किन्तु क्या यह प्रयास कठिनाइयों को सुनहरे शब्दों से ढकने के समान नहीं है। इससे कौन सी समस्या सुलझेगी।

मान लीजिये कि मनुष्य को एक घोंघा या पत्थर पाकर आश्चर्य होता है यद्यपि उनको छूने पाकर कम से कम आश्चर्य होता है। किन्तु किसी पत्थर का प्राचीन और प्राग ऐतिहासिक या पूर्व का इतिहास जानने का अर्थ क्या होता है? साधारण भाषा में इसका यही अर्थ हुआ कि उस पत्थर को साधारण पत्थर नहीं माना जाता है, दूसरे पत्थरों के समान नहीं समझा जाता है। उस विशेष पत्थर में मान लिया जाता है कि मनुष्य की भावनायें भी सन्निहित हैं। बडे बडे शब्दों के प्रयोग से पुरातन प्रेम-पूजा, प्राचीन वाद, व्यक्ति वाद या दूसरे शब्दों से पत्थर शब्द के साथ जबरदस्ती की जाती है। इसमें हमारी पाँच इन्द्रियों का भी अपमान है।

यह कहना ज्यादा ठीक है कि पत्थर केवल एक पत्थर है फिर भी केवल पत्थर ही नहीं या पत्थर एक मनुष्य है फिर भी मनुष्य ही नहीं है। मुझे यह ज्ञात है कि मध्य

की इन अवस्थाओं में मनुष्य मस्तिष्क में ऐसे निरोधाभास होते हैं किन्तु वे एकाएक नहीं उत्पन्न होते। प्रारम्भ से ही वे नहीं हैं, जब तक कि हम इसे स्वीकार न करें कि प्रारम्भिक अवतरण या इलहाम की अपेक्षा अनेक बाधा डालने वाले प्रभाव थे और वे असाधारण थे। धर्म के विज्ञान का उद्देश्य है कि वह इसकी खोज करे कि किन छोटे प्रयासों से, मनुष्य का मस्तिष्क आज हमारे लिये समझ से आगे की अवस्था से प्रगति करता चला गया। आज तो वह कुछ बुद्धिगम्य है किन्तु प्रारम्भ में वह बहुत ही गूढ़ और कठिन था। यदि हम उसे मान लें कि जिसे सिद्ध करना है, यदि हम एक बार यह स्वीकार कर लें कि आदिम वासी के लिये किसी पत्थर को मनुष्य के समान मान लेना नितान्त स्वाभाविक था यदि हम सन्तोष हो जाय पशु पूजा, पुरातन वाद, रूपक आदि शब्द में तब और बाकी सब बहुत ही सरल हो जाय। मानवीय व स्तर का अलौकिक पत्थर कहलाने का अधिकार है वह देवत्व के निकट ही है। तब हमें इस पर भी आश्चर्य न होना चाहिये कि ऐसे पदार्थ का अर्पित पूजा साधारण पत्थर या मनुष्य से अधिक होगी। वह भी देवत्वपूर्ण होगी क्योंकि पदार्थ देवत्व पूर्ण है।

मूर्ति पूजा धर्म का प्रथम रूप नहीं

मेरी स्थिति केवल यह है—मुझे ऐसा लगता है कि जो लोग मूर्ति पूजा को प्रारम्भिक रूप मानते हैं उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया है। जिसे अभी सिद्ध करना बाकी है। उन्होंने इसे मान लिया है कि प्रत्येक व्यक्ति में चमत्कारी रूप से यह धारणा शक्ति है जिससे वह प्रत्येक मूर्ति को शक्ति, आत्मा या भगवान मानता है। उन्होंने यह भी मान लिया है कि आकस्मिक पदार्थ जैसे पत्थर धागे, एक शेर की पूँछ, बालों का गुच्छा या इसी प्रकार का और कोई रद्दी पदार्थ स्वयं ईश्वर उत्पन्न करने की शक्ति रखते हैं उन्होंने इस बात पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया है कि मनुष्यों का जब अतीन्द्रिय अनुभूति होने लगती है अनन्त की या देवत्व की भावना प्राप्त हो जाती है तब आकस्मिक पदार्थों में भी और नगण्य वस्तुओं में भी उसके दर्शन होने लगते हैं। उन्होंने यह मान लिया है कि पहले और आज भी ऐसा धर्म है जिसमें केवल मूर्ति पूजा होती है। या ऐसा कोई धर्म है जिसमें मूर्ति पूजा बिलकुल न हो। मेरी अन्तिम और गम्भीर आपत्ति यह है कि वे लोग जो मूर्ति पूजा को प्रारम्भिक और सर्व व्यापी धर्म का अंग मानते हैं उस साक्षी पर भरोसा करते हैं जिसे कोई भी विद्वान या इतिहास स्वीकार नहीं करता है। इसलिये मैं समझता हूँ कि इस सिद्धान्त को छोड़ देना ठीक है कि मूर्ति पूजा सब धर्मों के प्रारम्भ में रही है या रहना चाहिये था। हमें अन्यत्र खोज करनी पड़ेगी कि इन्द्रियों से प्राप्त ऐसी कौन सी अनुभूतियां थीं जिनसे मनुष्य का मस्तिष्क अतीन्द्रिय, अनन्त और देवत्व के तत्व से प्रथम बार परिपूर्ण हुआ।

तीसरा भाषण

भारतवर्ष का प्रचीन साहित्य

धर्म की उत्पत्ति के अध्ययन के लिये उसमें प्राप्त सामग्री

साहित्यिक धर्मों के अध्ययन से लाभ

अफ्रीका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया के भूतल में धर्म की उत्पत्ति की समीक्षा करने की अपेक्षा उन देशों की ओर देखना अधिक बुद्धिमत्ता का कार्य होगा जहाँ हम न केवल आधुनिकतम रूप मिलते हैं, धर्म के विकास के स्तर प्राप्त होते हैं वरन् जहाँ हम देख सकते हैं और समीक्षा कर सकते हैं कि निम्नतम स्तर क्या है जिस पर ऊपरी जमीन स्थिर है।

मुझे यह भली भाँति ज्ञात है कि इस अध्ययन में पर्याप्त बाधायें हैं आदिम जातियों के धर्म के अध्ययन में जितनी कठिनाइयाँ हैं उतनी ही कम से कम इसमें भी हैं किन्तु यहाँ पर हमें जिस भूमि पर काम करना है अधिक गहरी है और उससे अधिक उपज की आशा है।

यह नितान्त सत्य है कि किसी धर्म के ऐतिहासिक कागज पत्र हमें बहुत दूर तक नहीं ले जाते हैं। वे हमें वहाँ धोखा दे जाते हैं जहाँ वे अधिक शिक्षाप्रद होते, पुरानी धारा के प्रथम स्रोतों के पास।

प्रारम्भ में कोई भी धर्म अपने चतुर्दिक संसार के लिये महत्वपूर्ण नहीं होता। प्रायः उस पर ध्यान ही नहीं दिया जाता है जब तक कि वह एक व्यक्ति और उसके बारह शिष्यों के हृदयों तक सीमित रहता है। राष्ट्रीय धर्मों पर यह और भी अधिक लागू है, उनकी अपेक्षा जिनको मैं व्यक्तिगत धर्म कहता हूँ राष्ट्रीय धर्म पूरे राष्ट्र ने संयुक्त प्रयास से स्थापित किये और व्यक्तिगत धर्म ज्ञात व्यक्तियों ने स्थापित किये। कई पीढ़ियों तक राष्ट्रीय धर्म का कोई स्पष्ट रूप नहीं होता जिसे सिद्धान्त या धार्मिक संस्कारों की संस्था कहा जा सके। उसका कोई नाम भी नहीं होता। हम उस धर्म को तब जानते हैं जब उसमें महत्व और तर्कग्राह्यता आ जाती है और जब कुछ व्यक्ति या पूरा वर्ग इसमें रुचि रखता है कि उसके प्रारम्भ और प्रथम प्रचार के सम्बन्ध में जितना भी ज्ञात हो उसे एकत्र किया जाय। इसलिये यह आकस्मिक नहीं है बल्कि मनुष्य स्वभाव के नियम के अन्तर्गत है कि जो विवरण हमें धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राप्त हैं वे सदैव बहुत अधिक हैं, शुद्ध अर्थ में ऐतिहासिक कदापि नहीं है।

जुडाइज्म और जेरोस्ट्रियन धर्मों मे धार्मिक विचारों का विकास

यद्यपि हम धम की प्रथम और प्रभावशाली प्रगति कही भी नही पाते हैं, फिर भी कुछ देशो मे धार्मिक विचारो का क्रमश विकास देखने को मिलता है।

अफ्रीका के आदिमवासियो मे, अमेरिका और आस्ट्रेलिया मे यह असम्भव है। यह जानना बहुत ही कठिन है कि आज उनका धम क्या है, प्रारम्भ म वह क्या और कैसा था। एक हजार वर्ष पूर्व वह कैसा था यह हमारी पहुँच क बाहर है।

इसी प्रकार अनेक पुस्तको के धम यहा या इन्ही के समान कठिनाई उत्पन्न करते हैं। यहूदियो के धम म विकास और पतन के चिह्न हैं। किन्तु उनकी खोज बहुत ही शान्तिपूर्ण अध्ययन से की जा सकती है। अनेक लेखको का प्रयास यह रहा है कि इन अवशेषो को छिपा दे, न कि उन्हे प्रकट करे। वे यहूदियो के धम को हमारे सम्मुख सब अगो मे नितान्तपूर्ण प्रारम्भ से ही, प्रस्तुत करना चाहते हैं, एकदम तैयार क्योकि भगवान के द्वारा उसकी अवतारणा या इलहाम हुआ था। यदि उसी धम म भ्रष्ट होने की सम्भावना थी तो उसे सुधार क लिये असम्भव मान लिया गया था। किन्तु यहूदियो म एक ईश्वरवाद के पहले अनेक ईश्वरवाद मिश्र मे दूसरी ओर प्रचलित था इसे अब अनेक विद्वान स्वीकार करते हैं। धम की पवित्र सहिता मे दो विरोधी भावना मे उससे अधिक पाना कठिन है जो इतिहास म आहुति सम्बधी नियम और व्यवस्थाओ मे है। साभिप्ट क शब्दा म (५१, १६) "तुम बलिदान म आनन्द न लेना। यह मेरा उपदेश है। जली हुई आहुतियो मे तुम आनन्द न लेना, भगवान की बलि भग्न हृदय की सूचक है, बीमार और भग्न हृदय। ह भगवान ! तुम हमे न छोडना।'

यहाँ पर विकास है जो बिल्कुल स्पष्ट है। धम के कुछ विद्वानो को विकास की भावना और अवतरित धर्म में विरोधाभास लग सकता है।

मूसा के धम के विषय म जो बात है वही जोरोस्टर के धम पर भी लागू होती है। वह हमारे सम्मुख प्रारम्भ से ही एक पूर्ण प्रणाली के रूप में रक्खा जाता है जिसका अवतरण अहूरमज्दा द्वारा हुआ था और जरथुस्ट ने जिसकी घोषणा की थी। सूक्ष्म विचारकों ने गाथाओ मे कुछ प्राचीन भावनाओ का पता लगाया है, इस अपवाद के अतिरिक्त, अवेस्ता मे ही हमको वास्तविक विकास के केवल कुछ ही स्वीकृत अवशेष मिलते हैं।

यूनान और इटली के धर्म, धार्मिक इतिहास और पुराण परम्परा के सम्बन्ध मे यह बताना बहुत ही कठिन है कि उनका बाल्यकाल कब था, युवावस्था कब थी और पूर्ण पुरुष का रूप कब था। हम जानते हैं कि कुछ विचार जो बाद क लेखको ने दिये हैं होमर के साहित्य मे नही है। किन्तु इससे यह परिणाम कदापि नही निकलता है कि

ये विचार बाद में विकसित हुए हैं। या उनका महत्व गौण है। एक पुराण कथा एक जाति की हो सकती है। एक देवता की मुख्य पूजा एक स्थान पर होती होगी।

बाद के कवि ने यदि हमारा परिचय इनसे करवाया तो इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि उनका विकास बाद में हुआ है। इसके अतिरिक्त यूनान और रोम के धर्मों का अध्ययन करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हमारे पास ऐसी पुस्तक नहीं है जिसे उनकी धर्म पुस्तक या पवित्र नाम दिया जा सके।

भारत में धर्म का विकास

भारतवर्ष की तुलना में कोई भी देश नहीं है जहाँ धर्म की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करने में इतनी सुविधायें हों, इतना साहित्य हो। मैं जान बूझ कर विकास शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ, धर्म के इतिहास का नहीं क्योंकि इतिहास शब्द के साधारण अर्थ में, भारतीय साहित्य में अज्ञात है। किन्तु दूसरे स्थानों की अपेक्षा भारतवर्ष में हम जिसका पर्यवेक्षण और अध्ययन अधिक कर सकते हैं वह यह है कि धार्मिक विचार और धार्मिक भाषा की उत्पत्ति कैसे होती है, उनमें वेग कैसे आता है, विस्तार कैसे होता है, एक मुख से दूसरे मुख तक जाने में उनके रूप कैसे बदल जाते हैं, एक मस्तिष्क से दूसरे में पहुँचने में परिवर्तन कैसे होता है। फिर भी उन सब में एक समता रहती है जो मूल स्रोत से जहाँ से उसका उद्गम हुआ किसी न किसी अंश में समान होती है।

मैं समझता हूँ कि मैं अतिशयोक्ति नहीं करता हूँ। मैं यह कहता हूँ कि भारतवर्ष की पवित्र पुस्तकें धर्म के अध्ययन के लिये साधारणतया और धर्म की उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध में विशेष रूप से उसी प्रकार उपयोगी हैं जिस प्रकार संस्कृत के अध्ययन से हमको मानवीय भाषा की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करने में सहायता मिली है। इसी कारण से भारत के प्राचीन धर्म को मैंने चुना है जिससे धर्म की उत्पत्ति और विकास के मेरे सिद्धान्त के लिये ऐतिहासिक उदाहरण मिल जाय। भारत की पवित्र पुस्तकों के जीवन भर अध्ययन के समय मुझे इस सिद्धान्त का सुझाव मिला था। इसलिये उसका आधार तथ्यों पर है यद्यपि उनकी भाषा हो का उत्तरदायित्व मेरा है।

धर्म के विज्ञान में वेद की ठीक स्थिति

मैं इस बात नहीं कहता कि धर्म की उत्पत्ति और विकास सर्वत्र एक समान भारत में ही सदृश रहा होगा। भाषा विज्ञान से हमको मनुष्य एक धनात्मकी सेती साहित्य इसमें ... नहीं दिया जाता है कि कुछ गूढ़तम समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिये, जिन्हें भाषा विज्ञान का हल करना है संस्कृत के अध्ययन से अधिक उपयोगी और कुछ नहीं है। मैं इसमें भी आगे कहता हूँ कि दूसरी भाषाओं ने जो उपाय किये हैं उनका

पूर्ण रूप से समझने के लिये संस्कृत से अधिक उपयोगी कुछ नहीं है। उससे कार्यवाही और कार्य शैली की तुलना की जा सकती है। किन्तु यह दृष्टि रखना भी भयंकर भूल होगी जैसी कि 'बाप' ने मलाया, बोलेनेशिया और काकेशियन देशी भाषाओं के सम्बन्ध में रक्खी है, या यह मान लेना कि आर्य भाषाओं के व्याकरण के नियम और पद्धतियाँ ही केवल मानव भाषा व पदार्थों की सच्ची प्राप्ति करवा सकती है भयंकर भूल होगी। हम इसके लिये पहले से सावधानी बरतनी चाहिये। अब हमें मनुष्य मात्र के धर्मों की वैज्ञानिक समीक्षा करना है। जब हमें यह ज्ञात हो जायगा कि भारत के प्राचीन निवासियों ने किस प्रकार अपने धार्मिक विचार प्राप्त किये, किस प्रकार उनका विश्लेषण किया, कैसे उनमें परिवर्तन किया, कैसे उनको भ्रष्ट किया तब हम संभवतः यह कह सकेंगे कि दूसरे लोगों ने भी इसी प्रकार प्रारम्भ किया होगा। इसी प्रकार के परिवर्तनों में हो कर गये होंगे। किन्तु इससे आगे हम नहीं जा सकते हैं। और न यह भूल दोहरा सकते हैं कि चूंकि उन्होंने देखा था इस लिये अनुमान कर लिया कि मूर्ति पूजा अफ्रीका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया की कम से कम सभ्य जातियों में थी इसलिये परिणाम निकाल लिया कि सभी असभ्य जातियों ने अपने धार्मिक विकास में मूर्ति पूजा से ही प्रारम्भ किया होगा।

तब वे ग्रंथ या कागजात कौन से हैं? जिनमें हम भारत के प्राचीन निवासी आर्य लोगों के धर्म की उत्पत्ति और विकास के अध्ययन के लिये सामग्री पाते हैं?

संस्कृत साहित्य की खोज

अधिकांश लोगों को भारत के प्राचीन साहित्य की खोज परियों की कहानी जैसी लगती होगी। इतिहास का एक अध्याय शायद उसे वे कम मानते हैं। उस साहित्य के शुद्ध और सही होने में सन्देह है जो और सन्देह किया जाता रहा है। संस्कृत के ग्रंथों की संख्या जिनके हस्तलेख आज भी सुरक्षित हैं, लगभग १०,००० आंकी जाती है। अरिस्टाटल और प्लेटो ने क्या कहा होता यदि उनसे कहा जाता कि उनके समय में भारत में, जिस भारत की विजय न सही, खोज अलक्जेंडर ने की थी, प्राचीन साहित्य है जो यूनान के साहित्य की अपेक्षा अधिक समृद्ध है।

भारत में प्राचीन और आधुनिक साहित्य के बीच में बौद्ध धर्म, की एक सीमा रेखा

उस समय तक ब्राह्मणों के प्राचीन साहित्य का सम्पूर्ण नाटक खेला जा चुका था। पुरानी भाषा बदल गयी थी। प्राचीन धर्म अनेक परिवर्तनों के बाद पीछे रह गया था और उसके स्थान पर एक नये धर्म का उदय हुआ था। हमें चाहे जितना संशय या ज्ञान हो कि हम ब्राह्मणों के इस दावा को स्वीकार करें या न करें कि उनका पवित्र साहित्य बहुत प्राचीन है, इतना निश्चित है कि इसमें सन्देह को कोई स्थान नहीं है कि

अशोक का धर्म वेदों के ब्राह्मण धर्म से उतना ही सम्बन्ध रखता है जितना कि लेटिन से इटैलियन का सम्बन्ध है या प्रोटेस्टैन्ट का कैथलिक से। वास्तव मे बुद्ध धर्म को ब्राह्मण धर्म का विकास और उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे समझा जा सकता है। इसलिये उनके जवाब म जो सब भारतीय साहित्य को आधुनिक जालसाजी समझते हैं या जो स्वय अपनी आंखो से नही देखना चाहते, ये दो तथ्य हैं जिन पर विश्वास करना होगा।

व ये हैं ईसा स पूर्व तीसरी शताब्दी मे, भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत क्षीण होकर प्राकृत हो गयी थी और वेदो का पुरातन धर्म विकसित होकर बौद्ध धम हो गया था, उसकी सन्तान ने ही उसे हटा दिया था। अशोक के राज्य का वह राज धर्म था। अशोक चन्द्रगुप्त का पोता था।

लेना चाहिये न कि ई० पू० ५४३ का। मैंने इस तथ्य की पुष्टि दूसरे प्रमाणो से भी की थी जो उस समय सुलभ थे।

इस धारणा की महत्वपूर्ण पुष्टि जनरल कनिङ्घम द्वारा खोजे हुय दो शिला लेखों से हुई है, जिनको डा० बुल्लर ने भारत की प्राचीन-निधि मे प्रकाशित किया है। उन्होने इस स्पष्ट किया है कि इन शिलालेखो का लेखक अशोक के अतिरिक्त कोइ दूसरा नही हो सकता है। अशोक ने इन शिलालेखों म लिखा है कि ३३॥ वष से अधिक मैं बुद्ध का उपासक रहा हूँ।

एक वष या उससे अधिक समय स मैं सघ का सदस्य हूँ। यदि अशोक की धार्मिक दीक्षा ई० पू० २५६ में हुई और ३ या ४ वष बाद ई० पू० २५५ मे उपासक बने तो इन शिलालेखो को २५५-३३॥ = २२१ ई० पू० का होना चाहिय। उन्ही शिला लेखो के अनुसार बुद्ध की मृत्यु के २५० वर्ष बीत चुके थे। यहाँ भी मैं डा० बुह्लर की टीका स्वीकार करता हूँ। इसलिये नही कि उसकी सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं वरन् इसलिये कि कठिनाइयो के रहते हुये भी इन शिलालेखो का दूसरा अर्थ हो ही नही सकता है। २२१ + २५६ = ४७७ इससे बुद्ध की मृत्यु की सम्भावित तारीख ई० पू० ४७७ प्राप्त होती है।

इस पुष्टि की आशा नही थी इसलिये भी इसका महत्व बहुत अधिक है।

इसकी पुष्टि का एक और प्रमाण मैं देता हूँ। अशोक का पुत्र महेन्द्र अपने पिता के राज्य के छठे वष म भिक्षु बन गया। अर्थात् ई० पू० २५३ म। उस समय उसकी अवस्था बीस वष की थी। उनका जन्म ई० पू० २७३ मे हुआ होगा। उनके जन्म और बुद्ध की मृत्यु के बीच २०४ वष व्यतीत हुय माने जाते हैं। इस प्रकार २७३ + २०४ = ४७७ इस प्रकार एक बार और हम बुद्ध की मृत्यु की तारीख ४७७ ई० पू० प्राप्त होती है।

वेद, अपौरुषेय

बुद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म का मुख्य प्रश्न जिस पर मतभेद हुआ, यह था कि वेदों को पवित्र और अपौरुषेय माना जाता था। यह प्रश्न इतना ऐतिहासिक महत्व रखता है और भारत के प्राचीन धर्म शास्त्र के अभ्युत्थान में इसका इतना गम्भीर स्थान है कि इसकी समीक्षा बड़ी सावधानी से करनी है। बौद्ध लोग अनेक विषयों में प्रच्छन्न ब्राह्मण थे फिर भी वे वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते थे। उनको सम्पूर्ण अधिकार नहीं सौंपे थे।

इसके बाद हमें एक कदम और आगे बढ़ना है। वेद भगवान के मुख से प्रकट हुये थे, वे अपौरुषेय थे यह सिद्धान्त बौद्ध काल के पहले प्रारम्भ हुआ था और प्रसारित हुआ था।

यह बताना बहुत कठिन है कि किस समय ब्राह्मणों ने वेदों को अपौरुषेय अद्भुत मानने का दावा पहली बार किया था। यह दावा धीरे-धीरे बढ़ा होगा। अन्त में इलहाम (ईश्वर-प्रेरणा) का सिद्धान्त माना गया होगा जो उतना ही कृत्रिम है जितना कि किसी धर्म का दावा, जिसे हम जानते हैं।

वेदों के कवि अपनी ऋचायें विभिन्न रूपों में गाते हैं। उनके सम्बन्ध में विभिन्न बातें करते हैं। कभी कभी वे घोषणा करते हैं कि उन्होंने ऋचायें लिखी हैं। वे अपनी कृतियों की तुलना कवि के रूप में एक बढ़ई की कला से करते हैं एक जुलाहे की कृति से घृत बनाने वाले से और जैसे जलयान चलाने वाले करते हैं। (१०,११६,६) (१)

दूसरे स्थानों में बहुत अधिक श्रेष्ठ भावनायें व्यक्त की गयी हैं। ऋचाओं को हृदय से निर्मित बताया गया है (१, १७१, २, १२, ३५ २) उनको मुख से निकला कहा गया है (६ ३२ १) एक कवि कहता है उसने ऋचा को प्राप्त किया (१०, ६७ १) वह घोषणा करता है सोमरस पीने के बाद उसे शक्ति और प्रेरणा आयी (६, ४७, ३) वह अपनी कविता की तुलना वर्षा से करता है जो बादलों से फूट निकलती है (७, ९४, १) या बादल से अपनी कविता की तुलना करता है जिसे वायु चलाती है (१, ११६, १)। कुछ समय के बाद जो विचार हृदयों में उठे और उनसे ऋचायें बनीं उनको ईश्वर प्रदत्त मान लिया गया (१ ३७, ४)।

मुझे ज्ञात हुआ है कि जनरल कनिङ्घम ऐसे प्रसिद्ध शास्त्र अधिकारी ने भी यही निष्कर्ष निकाला है। (बुद्ध की मृत्यु की तारीख यही मानी है और मेरी पुस्तक 'संस्कृत साहित्य का इतिहास १८५९ में प्रकाशित होने से पूर्व इसे प्रकाशित किया था। मुझे यह नहीं ज्ञात है कि उनके तर्क वही थे जिनको मैंने आधार माना है या दूसरे।

(१) डा० जे० म्योर की पुस्तक 'संस्कृत टेक्सट्स' में भाग ३ में इस विषय के सम्बन्ध में बहुत उपयोगी सामग्री एकत्रित है।

या उन्हे देव-वपण मान लिया गया। (३, १८, ३) यह माना जाता था कि देवता कवियो के हृदय म प्रेरणायें उत्पन्न करते थे और उनका मस्तिष्क कुशाग्र करते थे। (६, ४७ १०) वे कवियो के सहायक और मित्र कहे जाते थे। (७, ८८,४ ८,५२,४) और अन्त मे देवताओ को स्वयभू, भविष्य द्रष्टा और कवि कहा जाता था। (१, ३१,१) यदि कवियो की ऋचाओ मे सन्निहित प्रार्थनायें पूर्ण सफल हो जाती थी तो इन ऋचाओ को चमत्कारी शक्ति से पूर्ण माना जाता था। यह विचार मनुष्यो और देवताओ के वास्तविक सम्पर्क से निकला था। (१, १७८ २१७, ७६, ४) इस प्रकार प्रेरणा और अवतरण के विचार स्वाभाविक रूप से बढे। इतना ही नहीं, प्राचीन ब्राह्मणो के मस्तिष्क मे वे अनिवार्य हो गये।

इसके साथ ही प्रारम्भ से ही सन्देह का विचार भी उत्पन्न हुआ। यदि प्रार्थनायें नही सुनी जाती थी, जैसा कि वशिष्ठ और विश्वामित्र के विवाद म हुआ, तो शत्रु का पक्ष विजयी माना जाता था। जिसने दूसरे देवताओ पर विश्वास किया था। इसके बाद अनिश्चय की भावना बढती गयी जो कुछ ऋचाओ मे इस सीमा तक पहुँच गयी कि सबसे अधिक लोकप्रिय देवता इन्द्र की ही उपेक्षा की जाने लगा।

फिर भी यदि वेदों का प्रारम्भ अपौरुषेय मानने का इतना ही अर्थ था कि इसी प्रकार के कवित्व पूर्ण विचार प्रकट किये गये थे तो इससे कोई तीव्र प्रतिक्रिया न उत्पन्न होती। जब ब्राह्मणों ने वेदो को देवत्वपूर्ण और कभी भी भूल न करने वाला मान लिया और ब्राह्मण ग्रथो को जिनमे ये ऋचायें थी देव-वपूर्ण और अच्युत मान लिया तब बौद्ध लोगो का विरोध समझ म आ जाता है। इस घटना का समय सूत्र काल है।

ब्राह्मण ग्रथो म वेदो के अधिकार का एक प्रामाणित तथ्य माना गया है फिर भी जहाँ तक मुझे ज्ञात है वह विरोध को शान्त करने का अस्त्र नहीं है।

इन दो स्थितियो का अन्तर बहुत है। श्रुतियो म, अवतरण के लिय यही नाम बाद को प्रयुक्त हुआ स्मृतियो के विरुद्ध ब्राह्मण ग्रथो मे परम्परा की बात है (एट, ब्र, ७, ६) वहाँ भी उसका प्रयोग सारे सन्देहो और विरोधो को दबाने के लिये नही हुआ है। पुराने उपनिषदो मे जिनमें वेदो की ऋचाओ और बलिदानो को ज्ञेय माना गया है, उनके स्थान पर वनस्थली के ऋषियो के उत्तम विचारो को स्वीकार किया गया है, उनको दोषक समझ कर या बाहर से आरोपित किये हुए नही माना गया है।

यह विरोध निश्चित रूप से सूत्र-काल से प्रारम्भ होता है। निरुक्त मे (१, १५) यास्क कौत्स की सम्मति देते हैं कि वेदो की ऋचाओ का कोई भी अर्थ नहीं है।

यदि कौत्स किसी व्यक्ति का नाम नही था वरन् एक उपनाम था तब भी यास्क और परिवर्तन काल के पहले वेदो के प्रति श्रद्धा कम होती जा रही थी (१) यह भी

(१) पाणिनि नास्तिक या अविश्वासी और शून्यवादियो से परिचित था इसे

सम्भव नहीं है कि बुद्ध ही वेदों के पवित्र धर्म को न मानने वालों में प्रथम थे और उन्हीं ने वेदों की प्रामाणिकता के आधार पर जो दावा ब्राह्मणों ने किया था, उसे पहले पहल अस्वीकार किया। जैसा सब जगह है नास्तिकवाद का इतिहास भारत में खोजना कठिन है। बृहस्पति के लेख, जो प्राचीन नास्तिकों में एक थे, जिनको बाद के विवादास्पद ग्रन्थों में उद्धृत किया गया है, भारत वर्ष में नहीं मिलते हैं। मैं किसी भी सम्मति के बारे में यह नहीं कह सकता हूँ कि वह अमुक काल की है मैं यहाँ कुछ सम्मतियाँ उद्धृत करूँगा जो बृहस्पति की कही जाती हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि उन्नत हिन्दू भी कठोर घाव कर सकता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि ब्राह्मण धर्म का युग, वेदों का अपौरुषेय रूप केवल एक सिद्धान्त ही नहीं था वरन् एक बहुत महत्व पूर्ण ऐतिहासिक वास्तविकता थी।

सर्व-दर्शन-संग्रह में (प्रोफेसर कावेल, पण्डित द्वारा अनूदित १८७४, पृ० १६२) पहली दार्शनिक प्रणाली जिसका वर्णन किया गया है चार्वाक की है, जो बृहस्पति के सिद्धान्त मानते थे। उनकी संस्था को लोकायत कहा जाता था जिसका अर्थ है संसार में प्रचलित। उनका कहना है कि चार तत्वों के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है, एक प्रकार का जीव-तत्व विकास होने पर उससे शरीर की रचना होती है। बुद्धि का उद्भव उसी प्रकार होता है जैसे कुछ तत्वों के मिलाने से द्रव शक्ति का उत्पादन होता है। आत्मा, वास्तव में शरीर ही है जिसमें बुद्धि की विशेषता है। इसका कोई भी प्रमाण नहीं है कि बिना शरीर के कोई भी सत्ता या आत्मा होती है। ज्ञान का स्रोत केवल अनुभूति है और मनुष्य जीवन का उद्देश्य सुख, आनन्द है।

किन्तु यदि यही बात है तो यह आपत्ति की जाती है कि सिद्ध ज्ञानी लोग अग्निहोत्र क्यों करते हैं और वैदिक बलि क्यों देते हैं। इसका निम्नलिखित उत्तर दिया जाता है।

"प्रमाण के अभाव में यह आपत्ति स्वीकार नहीं की जा सकती है। अग्निहोत्र आदि केवल जीविका कमाने के लिये उपयोगी हैं। वेद में तीन दोष हैं असत्य विरोधाभास और पुरोहितवाद।

फिर वे ठगजाल जो अपने को पण्डित कहते हैं एक दूसरे के घोर घातक हैं। कर्मकाण्ड के मानने वाले (ब्राह्मण और ऋचायें) ज्ञान काण्ड (उपनिषद्) का अधिकार हटा देते हैं और ज्ञानकाण्ड के मानने वाले कर्मकाण्ड का अधिकार स्वीकार नहीं करते हैं और अन्त में, तीनों वेद भी केवल असम्बद्ध मूर्खों के हृदयोद्गार हैं। इसी आशय की लोक प्रचलित यह वार्ता है —

४, ४, ६० में देखा जा सकता है। काफिर या नास्तिकों का दूसरा नाम लोकायत भी था।

"अग्नि होत्र, तीन वेद, ऋषि के तीन दंड, भस्म लगाने की प्रक्रिया—बृहस्पति कहते हैं, ये तीनों उनकी जीविका के साधन हैं जिनमें पुरुषत्व का अभाव है, जिनकी प्रज्ञा ध्वस्त है।"

बृहस्पति पुनः कहते हैं—"यदि ज्योतिष्टोम में बलि दिया हुआ पशु स्वर्ग जायगा तो बलि देने वाला अपने पिता को ही बलि के लिये क्यों प्रस्तुत नहीं करता है? यदि श्राद्ध से मृतकों की तृप्ति हो जाती है तो यात्रियों को, यात्रा के प्रारम्भ में यात्रा के लिये कोई सामान, सबल देना व्यर्थ है। यदि स्वर्ग के वासी हमारे यहाँ के श्राद्ध से तृप्त हो जाते हैं तो वह भोजन नीचे खड़े हुए लोगों को खिलाइये और मकान में ऊपर खड़े हुए आदमी की उससे तृप्ति हो जायगी।"

बृहस्पति फिर कहते हैं—"जब तक जीवन है, मनुष्य को सुख से रहना चाहिये। उसे घृत पीना चाहिये चाहे वह ऋण लेकर पिया जाय। जब शरीर भस्म हो जाता है तो वह पुनः कैसे लौट सकता है? शरीर छोड़कर जाने वाला दूसरे लोक में जाता है। तब वह लौट कर क्यों नहीं आता? और अपने परिवार के प्रेम में व्याकुल क्या नहीं हो जाता? इसीलिये ब्राह्मणों ने अपनी जीविका चलाने के लिये मृतकों की श्राद्ध की परम्परा चलाई है। उसका दूसरा फल और कुछ कहा नहीं है। तीनों वेदों के रचयिता मूर्ख थे और शैतान थे। पंडितों के सब कृत्य गरफरी, तरफरी (?) आदि और अश्वमेध के लिये रानी के लिये बताये हुए सारे अश्लील कृत्य सबका आविष्कार मूर्खों ने किया था। इसी प्रकार पुरोहितों को दिये जाने वाले उपहारों का आविष्कार भी इन्हीं स्वार्थियों ने किया था। मांस भक्षण की परम्परा भी इन्हीं निशाचरों और शैतानों ने चलाई थी।"

इनमें से अधिकांश आपत्तियाँ बाद की हो सकती हैं किन्तु इनमें से अधिकांश बौद्ध काल की हैं। यह तर्क कि यदि बलि पशु स्वर्ग जाता है तो बलि देने वाला अपने पिता को ही बलि के लिये क्यों प्रस्तुत नहीं करता है। प्रोफेसर बनफ के कथनानुसार वही तर्क है जो बौद्ध लोग देते हैं। यद्यपि बुद्ध धर्म अशोक के कारण तीसरी शताब्दी में राजधर्म बना, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध धर्म अनेक पीढ़ियों से लोगों के मस्तिष्क में विकसित हो रहा था। यद्यपि बुद्ध की निर्वाण तिथि में कुछ सन्देह है फिर भी उनका काल ई० पू० ६४३ से प्रारम्भ होता है और हम बौद्ध धर्म के प्रारम्भ का समय ई० पू० लगभग ४०० वर्ष रख सकते हैं।

इस काल के पूर्व का संस्कृत साहित्य वास्तव में महत्वपूर्ण है। मेरा मतलब है भारतवर्ष इतिहास की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण इतिहास। मैं कालिदास की सुन्दर वर्णन शैली और उनके प्रसिद्ध नाटक शकुन्तला की कलाभिव्यक्ति से इन्कार कैसे कर सकता हूँ जो वास्तविक हैं यद्यपि उसकी प्रशंसा में अतिशयोक्ति है। उसी कवि की दूसरी कृति मेघदूत एक प्रसिद्ध रूपक है जिसकी प्रशंसा और अधिक होनी चाहिये। वह कला की

शुद्ध और परिपूर्ण कृति है। 'नल' में कुछ अंश छोड़ दें तो वह एक सुन्दर महाकाव्य होगा। पंचतन्त्र और हितोपदेश की कहानियाँ कहानी साहित्य के उज्ज्वल उदाहरण हैं। यह सब साहित्य आधुनिक है, गौण है और इस अनक्जड्रियन काल को दैनी का कह सकते हैं।

ये ग्रन्थ केवल साहित्य की विभिन्नतायें हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। हम इन्हें समझ सकते हैं कि इनमें समय लगाना सर डब्लू जोन्स और कोल ब्रुक ऐन लोगों का काम था, इसमें उनको आनन्द मिला था किन्तु जीवन भर अध्ययन और समीक्षा के उद्देश्य, केवल ये ग्रन्थ नहीं हो सकते थे।

वैदिक भाषा का ऐतिहासिक स्वरूप

वेदों के साहित्य की बात बिल्कुल अलग है। सबसे पहले, उनमें हम ऐतिहासिक आधार पर अनुभूति होती है। वैदिक साहित्य की भाषा साधारण संस्कृत से भिन्न है। उसमें अनेक रूप हैं जो बाद को समाप्त हो गये। वही रूप जो यूनान या दूसरी आर्य भाषाओं में हैं। साधारण संस्कृत में सबजक्टिव मूड, नहीं है। तुलनात्मक भाषा विज्ञान की माँग थी कि संस्कृत में यह हो और वेदों में खोज के बाद उसकी प्राप्ति की जा सकी।

साधारण संस्कृत शब्दों के उच्चारण को चिन्हित नहीं करती है। वैदिक साहित्य में उच्चारण और शब्दों तथा अक्षरों पर भी विशेष जोर स्पष्ट है। उनके उच्चारण की शैली वही है, सिद्धान्त वही हैं जो यूनान के।

मैं एक उदाहरण देना चाहता हूँ। इससे वैदिक साहित्य और यूनान के साहित्य में निकट सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा। हम जानते हैं कि यूनानी शब्द ज्यास संस्कृत शब्द देवस, आकाश के समतुल्य है। बाद की संस्कृत में देवस शब्द का प्रयोग केवल स्त्री लिंग में हुआ है। वेदों में भी इसे पुल्लिंग माना गया। इतना ही नहीं उसी क्रम में जिसमें इसका प्रयोग ग्रीक और लेटिन में श्रेष्ठ देवता के अर्थ में हुआ। जुपिटर के समकक्ष वेदों में हमें देवस पितर मिलता है।

इससे भी अधिक ग्रीक में 'जायस कर्त्ता कारक में एक्टर है और वोकेटिव में (मिश्रित) वेद में देवस कर्त्ता में है—और वोकेटिव में मिश्रित है। ग्रीक के वैयाकरण इस सम्बन्ध में कोई स्पष्टता नहीं दे पाते हैं। संस्कृत के विद्वानों ने इसे उच्चारण के सिद्धान्तों पर स्थिर किया है। (१)

---

(१) *साधारण नियम यह है कि वोकेटिव—में शब्द के प्रथम अंश पर जोर* है। इसके अवशेष मात्र ग्रीक और लेटिन में हैं। संस्कृत में इसका अपवाद नहीं है। देवस में स्वरित वोकेटिव—में है। ये में ऊँचा और व स में नीचा स्वर है ऊँचे और नीचे स्वरों ने मिश्रित स्वर दिया।

मैं स्वीकार करता हूँ कि देवस वोकेटिव के रूप मे एक रत्न है जा बहुमूल्य धातु का है और जिसके निर्माण मे पूर्ण कुशलता है। हेलेनिक के पहले के युग के जो अवशेष खोजे गये हैं उन पर सबको आश्चर्य हुआ है। डा० श्लीमैन के अथक परिश्रम से हिसारलिक और मैकेने मे वे प्रकाश मे आये हैं। मैं उनके मूल्यो को कम आँकने वाला अन्तिम व्यक्ति हूँ। यूनान की भूमि पर महाकाव्य का यह नया ससार मिला है। किन्तु एक खरादा हुआ पत्थर या छिद्र किया गया हीरा है क्या ? एक मधु-पात्र या ढाल या शिरस्त्राण, एक स्वर्ण पदक का क्या मूल्य है, देवस के वोकेटिव की तुलना मे। पहले मे हमे मौन धातु। साधारण कला और कम विचार मिलते हैं और और दूसरे मे कला का पूर्ण रूप और सामजस्य मिलता है। उसका अधिक मूल्यवान धातु से निमाण हुआ है। वह धातु है मनुष्य का विचार। यदि एक पिरामिड (स्तूप) बनाने मे हजारो वर्ष लगे थे और उसमे करोडो मनुष्यो ने काय किया था तो एक शब्द देवस की रचना मे, या 'ज्यास' जुपिटर के विकास मे अरबों मनुष्य लगे होंगे। प्रारम्भ मे इसका अथ था प्रकाशदाता। धीरे धीरे इसका अथ विस्तृत होकर ईश्वर हो गया। याद रखिये वेद में ऐसे पिरामिड (स्तूप) बहुत हैं। सारी भूमि ऐसे रत्नो से भरी हुई है। हमें ऐसे श्रमिक चाहिये जो उस भूमि को खोद कर रत्न निकालें, उनका वर्गीकरण करे और उनका अर्थ समझे जिससे कि मनुष्य के मस्तिष्क की, जो सबसे प्राचीन गुफा है, उसकी फिर से गहनतम परतें खुल जायें।

ये स्फुट तथ्य नही हैं और न केवल विचित्रतायें हैं। इनको अहम्मन्यता के साथ साधारण समझकर छोडा नही जा सकता है। देवस के वोकेटिव——मे और 'जियस' में स्वरित उसी प्रकार है जैसे जीवित शरीर में तन्तु-जाल।

इनमे अब भी स्पन्दन है, गति है। तुलनात्मक भाषा विज्ञानी सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से उनकी जीवनी शक्ति का विस्तार कर सकता है। उनमे जीवन है, वास्तविक ऐतिहासिक जीवन है। आधुनिक इतिहास मध्यकालीन इतिहास के बिना अपूर्ण होगा, मध्यकालीन इतिहास इसी प्रकार रोमन इतिहास के बिना अपूर्ण होगा। रोमन इतिहास भी यूनान के इतिहास के बिना अपूर्ण ही रहेगा। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि सारे ससार का इतिहास तब अपूर्ण होगा जब तक कि आर्य जाति के जीवन का प्रथम अध्याय न देखा जाय। वैदिक साहित्य मे वह हमारे लिये अब भी सुरक्षित है।

संस्कृत की विद्वता के लिये यह दुर्भाग्य ही था कि हमारा प्रथम परिचय भारतीय साहित्य से कालिदास और भवभूति के सुन्दरता पूर्ण वर्णन से हो हुआ और शैव तथा वैष्णवो के द्वन्द ही हमने देखे। वास्तविक मौलिक और महत्वपूर्ण काल संस्कृत साहित्य का वह है जो बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व था उसका अध्ययन और अधिक गम्भीरता से करना आवश्यक है। तब संस्कृत भारत की बोल चाल की भाषा थी। उस समय शिव की उपासना अज्ञात थी।

वैदिक साहित्य के चार स्तर

(१) सूत्र-काल ईसा से पूर्व ५०० वर्ष

बौद्ध काल के पूर्व हमें साहित्य के तीन या चार स्तर मिलते हैं। सर्व प्रथम सूत्र काल है जो बुद्ध के समय तक चला गया है। उसकी शैली की अपनी विशेषता है और उसे हम स्पष्टतः देख सकते हैं। उसकी रचना बड़ी ही गुम्फित और दुरूह रूप में हुई है जिसका बिना टीका के समझना लगभग असम्भव है। उसका वर्णन मैं नहीं दे सकता हूँ। क्योंकि किसी भी साहित्य से जिससे मेरा परिचय है इस तरह का साहित्य नहीं है। किन्तु मैं स्वयं ब्राह्मणों की एक प्रसिद्ध उक्ति उद्धृत करता हूँ —'सूत्र के रचयिता को इसमें अधिक आनन्द मिलता है कि उसने एक अक्षर बचा लिया। पुत्र जन्म में भी उसे इतना आनन्द नहीं मिलता है।" इसे स्मरण रखना चाहिये कि ब्राह्मणों का यह विश्वास था कि एक पुत्र के बिना वे स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकते हैं क्योंकि पुत्र ही अन्त्येष्टि क्रिया करता है। इन सूत्रों का उद्देश्य था कि समस्त ज्ञान को एकत्रित किया जाय जो उस समय ब्राह्मणों के आश्रमों में और परिषदों में प्रचुर रूप से सुलभ था। उनमें, बलि के नियम, उच्चारण सम्बन्धी लेख, शब्द शास्त्र, व्याकरण, अलंकार और छन्द, नियम और परम्परायें, सूक्ष्म ज्योतिष और दर्शन शास्त्र हैं।

प्रत्येक विषय पर मौलिक अनुभूतियाँ हैं, मौलिक विचार हैं जिनकी उपेक्षा इन विषयों का कोई भी विद्यार्थी कदापि नहीं कर सकता है।

इस समय कर्मकांड ऐसा विषय नहीं है जिसमें वैज्ञानिक रुचि हो फिर भी बलिदान का प्रारम्भ और विकास मनुष्य के मस्तिष्क विकास के इतिहास का एक महत्वपूर्ण पृष्ठ है। इसका अध्ययन भारतवर्ष से अधिक किसी भी देश में उपयोगी नहीं है।

उच्चारण का विज्ञान भारतवर्ष में तब प्रारम्भ हुआ जब लोगों को लिखना नहीं आता था और जब ब्राह्मणों के लिये यह परम आवश्यक था कि वे अपनी प्रिय ऋचाओं का शुद्ध उच्चारण सुरक्षित रखें। मेरा विश्वास है कि श्री हेल्महाज या एलिस या उच्चारण शास्त्र के दूसरे प्रतिनिधि मेरी इस बात का खंडन नहीं करेंगे कि आज तक ईसा से पूर्व पाँचवीं शती के भारतीय स्वरविज्ञान भाषा के रूप के विश्लेषण में अद्वितीय हैं।

व्याकरण में मेरा दावा है कि कोई भी विद्वान किसी भाषा से पाणिनि के सूत्रों से अधिक भाषा सम्बन्धी सम्पूर्ण तथ्य, वर्गीकरण और व्यापक संग्रह नहीं दे सकता है।

छन्दों के सम्बन्ध में, प्राचीन भारतीय लेखकों के विचार और विशिष्ट नाम आधुनिक छन्द शास्त्रियों के आधुनिकतम सिद्धान्तों से समर्थित होते हैं। जैसे छन्दों का सम्बन्ध प्रारम्भ में नृत्य और गीत से था। छन्दों के नाम प्रायः इसकी पुष्टि करते हैं।

छन्द का सम्बन्ध 'स्कदर' से है जिसका अर्थ है पद-क्षेप । वृत्त 'वर्तो' से है जिसका अर्थ है घूमना । प्रारम्भ में इनका अर्थ था नृत्य की गति तीन या चार कदम । गति ही छन्द और नृत्य का रूप बताती थी । त्रिष्टुप का जो वेदों का सर्व विदित छन्द है (१) अर्थ है तीन पग क्योंकि उसकी गति, वृत्त तीन चरणों की थी ।

भूमिति और ज्योतिष ज्ञान के सम्बन्ध में मैं सविस्तार कुछ कहने की योग्यता नहीं रखता हूँ । प्राचीन सूत्रों में उनका वर्णन है । यह सब जानते हैं कि बाद के युग में हिन्दू लोग यूनान वालों के इन विषयों में शिष्य बन गये थे । किन्तु मुझे अपनी इस सम्मति में संशोधन करने का कारण नहीं जान पड़ता है कि भारतवर्ष में प्राचीन भारतीय ढंग की ज्योतिष प्रणाली थी जो २७ नक्षत्रों या चन्द्र लोकों पर आधारित था, प्राचीन भूमिति भी थी जो बलिवेदी और उसके चतुर्दिक के निर्माण पर आधारित थी । उदाहरण के लिये, सूक्ष्म सूत्रों (२) में वर्णित समस्या थी कि चौकोर वर्ग आयत का निर्माण कैसे किया जाय जो विस्तार में वृत्त, या गोल वेदी के सदृश हो इसमें ही सर्व प्रथम यह प्रयास प्रारम्भ हुआ कि वृत्त को चौकोर कैसे बनाया जाय ।

उन सूत्रों में प्रयुक्त विशिष्ट नाम स्थानीय थे । जो गणित विज्ञान के प्रारम्भिक रूप को समझना चाहते हैं मेरा विश्वास है कि उनको इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये । (३)

गृह-सूत्र और धर्म सूत्रों से अधिक उपयोगी नियम कहीं नहीं मिल सकते हैं जो संस्कारों के सम्बन्ध में हैं, विवाह, जन्म, नामकरण, समाधि, के सम्बन्ध में हैं, शिक्षा के सिद्धान्त, नागरिक समाज की ऋचायें, उत्तराधिकार के नियम, कर लगान के सिद्धान्त, शासन के नियम, किसी भी देश में इससे अधिक न मिलेंगे । यही मुख्य स्रोत हैं । इनसे ही मनु, याज्ञवल्क्य और पराशर की कानूनी पुस्तकें निकलीं । इसके अतिरिक्त जो सामग्री है वह अपने वर्तमान रूप में निश्चय ही उसके बाद की है ।

(१) एम० एस०—'ऋग्वेद का अनुवाद' ।

(२) इन सूत्रों का अनुवाद प्रोफेसर जी० थिबाट ने 'पण्डित' में किया है ।

(३) यूनान में भी, बताया जाता है कि डेलियन लोगों को यह ईश्वरीय सन्देश मिला था कि जो दुर्भाग्य उन पर और समस्त यूनान वालों पर आया था वह समाप्त हो जायगा यदि वे वर्तमान बलिवेदी से दूने आकार की वेदी बनायेंगे । इसमें उनको सफलता नहीं मिली । क्योंकि उनको भूमिति शास्त्र का ज्ञान नहीं था । तब उन लोगों ने प्लेटो से पूछा । उन्होंने बताया कि उस सन्देश का अर्थ यह था कि वे विज्ञान की उन्नति करें, युद्ध के स्थान पर यदि वे अधिक समृद्धि चाहें तो प्लूटार्क-डीडीमोनियो सोक्रेटीज ।

इन्हीं सूत्रों में (१) कुछ अध्याय ध्यान दर्शन पर हैं। इनके अंकुर उपनिषदों में ही हैं। दूसरे चार दार्शनिक सूत्रों के निबन्धों में उन पर पूर्ण रूप में विचार किया गया है। ये सूत्र बाद के भी हो सकते हैं। (२) ये सूत्र किसी भी काल के हों, जिसके कथनानुसार सूक्ष्म रूप में इनमें दार्शनिक विचारों का पूर्ण विकास पाया जाता है। इतना ही नहीं अनेक मामलों में ये दार्शनिक समस्याओं का ऐसा समाधान उपस्थित करते हैं जो आज के दार्शनिक अर्थात् पूरा काल में भी आश्चर्यचकित कर देता है और उनके लिये श्रद्धा से प्रशंसा पूर्ण उद्गार निकालते हैं।

७—ब्राह्मण-काल ई० पू० ६००-८००

साहित्य में सूत्र काल, दूसरे काल को पहले ही धारणा करता है। वह ब्राह्मण काल है। वह साहित्य गद्य में लिखा गया था किन्तु बिलकुल दूसरी शैली में था। भाषा भी कुछ भिन्न थी और उद्देश्य भी भिन्न था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक विषयों पर विचार विमर्श किये गये हैं। ये स्वरित हैं और सूत्रों में साहित्य स्वरित नहीं है।

बलिदान के सम्बन्ध में, अनेक परिवारों में वंशगत पृथक अनेक अधिकारी ऋषियों के नाम जिन्होंने उन विधियों का समर्थन किया था ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य है बलिदान का वर्णन और विस्तार। किन्तु वे इसके साथ ही दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भी विचार करते हैं। सूत्रों में, यथा सम्भव ब्राह्मण ग्रन्थों में ही किसी विचार या धारणा के लिये प्रामाणिकता का सन्दर्भ देखा जाता है। वास्तव में सूत्रों का अर्थ ही समझ में नहीं आयेगा यदि उनको ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुगामी न माना जाय।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के बहुत ही आवश्यक अङ्ग आरण्यक हैं। उनमें केवल मानसिक बलिदानों का वर्णन है जिनको वाणप्रस्थी लोगों को करना चाहिये। वे वनों में रहते थे। उनकी समाप्ति उपनिषदों से है। ये उपनिषद हिन्दू दर्शन के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं।

यदि सूत्रकाल लगभग ई० पू० ६०० में प्रारम्भ हुआ तो ब्राह्मणकाल को २०० वर्ष और लगने चाहिये जिनमें उनका प्रारम्भ और विकास हुआ था और अनेक प्राचीन ऋषि अधिकारियों के जो प्रमाण दिये गये हैं उनको देखते हुये भी इतना समय लगना ही चाहिये। किन्तु मैं इस काल क्रम की अधिक चिन्ता नहीं करता हूँ। वह केवल

(१) आपस्तम्ब सूत्र अनूदित श्री जी० बुहलर 'सैक्रेट बुक्स आफ ईस्ट'।

(२) सांख्यकारिका का अनुवाद चीनी भाषा में ५०० ईसवी में हुआ था। देखिये एस० बील 'बुद्धिस्ट त्रिपिटक' ८४। 'गोल्डेन सेवेन्टी शास्त्र' कालवृक्ष के मूल से मिलता है। इसकी तिथि और (१०६) अनुवाद की प्राप्ति श्री एस० बील को एक पत्र से हुआ।

हमारी स्मरण शक्ति के सहायक है। जो आवश्यक है वह यह है, कि इसे मानना पड़ेगा कि साहित्य का इतना अधिक भाग मन्त्रों के स्तर में छिपा था किन्तु वह उससे ऊपर था जिसे मैं मन्त्र काल कहता हूँ।

३—मन्त्रकाल ई० पू० ८०० से १०००

इस काल के ग्रन्थों में वेदों की ऋचाओं और सिद्धान्तों का संग्रह है, जिनका व्यवस्थित रूप से वर्गीकरण हुआ है। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की चार संहिताओं में प्राप्त हैं। ये चार संग्रह एक निश्चित धार्मिक या बलिदान के उद्देश्य से लिये गये हैं। प्रत्येक में ऐसे मन्त्र हैं जिनको विशिष्ट वर्ग के पुरोहित निश्चित बलिदानों में प्रयोग करते थे। सामवेद संहिता में वे मन्त्र हैं (१) जो उद्गात्र पुरोहित गाते थे। यजुर्वेद संहिता में वे मन्त्र हैं, ऐसे सिद्धान्त हैं जिनका अध्वर्यु प्रयोग करते थे। कुछ बलिदानों के क्रम से इन दो संहिताओं के मन्त्र क्रमशः पढ़े जाते थे। ऋग्वेद संहिता में वे मन्त्र हैं जिनको होत्री पुरोहित पढ़ते थे। उनमें अनेक पवित्र और लोकप्रिय कवितायें भी मिश्रित हैं। उनका क्रम बलिदान के क्रम से नहीं मिलता है। अथर्ववेद संहिता बाद का संग्रह है उसमें ऋग्वेद की अनेक ऋचाएं हैं और कुछ लोकप्रिय कविता के विचित्र अवशेष हैं जिनका सम्बन्ध अन्धविश्वास, मन्त्र तन्त्र आदि से है।

यहाँ हमें ऐसे पुरोहित मिलते हैं जिन्होंने बलिदान की कठिन और विस्तृत प्रणाली बनायी थी, प्रत्येक का निश्चित कर्तव्य बता दिये थे, उनके सहायक के धर्म स्पष्ट किये थे और प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक का अंश निर्धारित किया था। प्राचीन और पवित्र कविताओं का कितना अंश किसको गाना था यह भी निश्चित किया था। मन्त्रों के समय और गायक का विस्तृत विवरण होता था।

सौभाग्य से पुरोहितों का एक वर्ग ऐसा भी था जिनके लिये कोई प्रार्थना पुस्तक निश्चित नहीं थी। ऐसे मन्त्रों की उस वर्ग का आवश्यकता नहीं थी जो कुछ धार्मिक क्रियाओं में पढ़े जाते थे। उस वर्ग को समस्त पवित्र राष्ट्र मन्त्रों को कण्ठस्थ करना पड़ता था। इस प्रणाली से भारत की प्राचीन कविता हमारे लिये सुरक्षित रह सकी है। उसका प्रसङ्ग किसी बलिदान क्रिया से नहीं है। वास्तव में वह एक प्राचीन महान कविता संग्रह है। इसी संग्रह का नाम ऋग्वेद है। इसे गीतों का वेद कह सकते हैं। वास्तव में यही ऐतिहासिक वेद है, यद्यपि अनेक दूसरी पुस्तकों को यही नाम दिया गया है।

इस वेद में दस पुस्तकें हैं। प्रत्येक पुस्तक स्वतन्त्र रूप से गीतों का संग्रह है।

---

(१) ७५ मन्त्रों को छोड़ कर सम्पूर्ण सामवेद संहिता ऋग्वेद में है।

उनके अधिष्ठाता देवता एक ही हैं। (१) ये सग्रह विभिन्न परिवारो मे पवित्र उत्तराधिकार के रूप मे सुरक्षित रक्खे गये थे। अत मे इन सब का एक बडा कविता स ग्रह प्रणीत हुआ। इनकी स ख्या १०१७ या १०२८ है।

जिस काल म प्राचीन मत्र और गीत एकत्र किये गये थे, उनको प्रार्थना पुस्तको के रुप मे सजाया गया था, चार प्रकार के पुरोहितो के लिये अलग पुस्तके निर्धारित थीं जिससे वे अनेक बलिदानो में अपना कर्त्तव्य पूरा कर सके, उस काल को मत्र काल कहा गया है। वह ई० पू० १००० से ८०० तक रहा होगा।

४—खण्ड-काल ई० पू० १०००–×

इसलिये ई० पू० १००० मे हम वैदिक काव्य को स्वाभाविक विकास मान सकते हैं। इसी प्रकार की कविता हमे ऋग्वेद और केवल ऋग्वेद मे ही मिलती है, जिसस वैदिक धर्म के क्रमिक विकास का और वैदिक बलिदाना के मुख्य रूप का निर्माण भी धीरे धीरे ज्ञात होता है। कौन कहता है कि यह खड-काल कहाँ तक माना जायगा। कुछ विद्वान इसे इस शती से दो या तीन हजार वष पूर्व का मानते हैं। इससे यही ठीक होगा कि विचारा के विभिन्न स्तरो को स्पष्ट किया जाय।

जिनस वैदिक धर्म की उत्पत्ति हुई और इस प्रकार उसके विस्तीर्ण विकास का अनुमान प्राप्त किया जाय। वर्षों और शताब्दियो से उसका मूल्याकन कैसे हो सकता है। वह तो अनुमान मात्र हो सकता है।

यदि हम उस काल की वास्तविक गम्भीरता का मूल्याकन करना चाहते हैं तो हमे भाषा और छदा के परिवर्तन से उसे आकना चाहिये। उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को स्थान-परिवर्तन से भी इसे आका जा सकता है जिसके स्पष्ट प्रमाण कुछ मत्रो मे हैं। कवियो द्वारा वर्णित पुराने और नये गीतो से, राजाओ और धार्मिक गुरुओ की एक के बाद दूसरी पीढियो से, किसी कृत्रिम धार्मिक क्रिया के धीरे धीरे विकास से और अत में चार वर्णों के प्रथम चिह्नो से जो केवल बाद के मत्रा मे ही प्राप्त है, उस काल की गम्भीरता का मूल्याकन हो सकता है। अथर्ववेद स ऋग्वेद की तुलना स ज्ञात होगा कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक विचार आगे चलकर विकसित हुये। यही बात हमे अथर्ववेद के मत्रा से ज्ञात होती है। यजुर्वेद के बाद के अशो से इसकी पुष्टि होती है।

इन बातोआ की पुष्टि से हमें विश्वास होता है कि वैदिक साहित्य का विकास एतिहासिक है।

(१) अनुक्रमणी को परिभाषा में इस बताया गया है। उसमें स्पष्ट किया गया है कि देवताओ को किस क्रम से रक्खा जायगा जिससे उनके अनुसार प्रत्येक मडल के मत्र रक्खे जाय।

एक बात निश्चित है। कोई भी साहित्य इतना प्राचीन या पुरातन नही है जितना कि ऋग्वेद के मन्त्र। यह बात कवल भारत ही नही सारे आर्य जगत पर लागू होती है। जहाँ तक हम भाषा और विचारा की दृष्टि से आर्य हैं, वहा तक ऋग्वेद हमारा भी प्राचीनतम ग्रन्थ है।

अब मुझे एक बात आप से कहनी है जो परिया की कहानी ऐसी जान पडेगी, किन्तु वह वास्तविक सत्य है। ऋग्वेद का प्रकाशन कभी नही हुआ था। इसे तीन या चार हजार वर्षों से करोडो मनुष्या के धार्मिक और नैतिक जीवन का आधार बनाया गया था। अनुकूल परिस्थितियो क कारण वह सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। मैंने उस पवित्र ग्रन्थ का प्रथम सस्करण निकाला। उसम हिन्दू धर्माचार्यो की टीकाये और सायणाचार्य की टीका प्रस्तुत की।

ऋग्वेद मे १०१७ या १०२८ मन्त्र हैं। प्रत्येक मे औसत स दस पद हैं। स्थानीय विद्वानो के अनुसार उसमे कुल १,५३,८२० शब्द हैं।

कठाग्र प्रणाली मे वेदो की अवतारणा

आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि यह प्राचीन साहित्य सुरक्षित कैसे रहा। अब वेदा की हस्तलिपियाँ हैं किन्तु सस्कृत की बहुत कम हस्तलिपियाँ भारत मे ईसा के बाद एक हजार वर्ष से ऊपर की हैं और इसका भी प्रमाण नही है कि लिखने की कला बौद्ध धर्म के प्रारम्भ के बहुत पहले थी।

प्राचीन वैदिक साहित्य के अन्त तक लिखने की कला थी, इसका भी प्रमाण नही है। तब यह प्राचीन साहित्य, ब्राह्मण-ग्रन्थ, और सूत्र भी सुरक्षित कैसे रह सके? केवल स्मरण शक्ति के द्वारा। वह स्मरण शक्ति कठोर शासन में रक्खी जाती थी। जितनी दूर तक हम भारत वर्ष का कुछ भी ज्ञान रखते हैं वहाँ तक हम देखते हैं कि तीन उच्च वर्गों क बच्चे अपने पवित्र साहित्य को अपने गुरु के मुख से सुनते थे और लगभग उतने ही समय तक जितना कि हम स्कूलो और यूनीवर्सिटी मे व्यतीत करते हैं। यह पवित्र कर्त्तव्य था। इसकी उपेक्षा से सामाजिक पतन होता था। विस्तृत नियम बनाये जाते थे जिसके अनुसार साहित्य कण्ठस्थ किया जाता था। लिखने की कला के आविष्कार के पहले साहित्य, वह पवित्र हो या अश्लील, सुरक्षित रखने का और कोई उपाय नही था। इसलिये भूलो से बचने के लिये बडी सावधानी बरती जाती थी।

प्राय यह कहा जाता है कि भारत वर्ष म वैदिक धर्म समाप्त हो गया है। बौद्धो द्वारा पराजय के बाद वह फिर पनप नही सका। आधुनिक ब्राह्मण धर्म मे जो पुराणो (१) और तन्त्रो पर आधारित है, विष्णु, शिव और ब्रह्मा की आस्था मात्र है और

(१) हमे सावधानी से पुराणो म भेद करना चाहिये। जैसे वे आज हैं और

उसका प्रकटीकरण तीन मूर्तियों की पूजा में प्रकट होता है। बाह्य रूप द्रष्टा को ऐसा ही लग सकता है किन्तु अङ्गरेजी विद्वान जो मूल निवासियों के बीच रहे हैं और भारत में जिनसे घनिष्ठ सम्पर्क था या मूल निवासियों के विद्वान जो कभी-कभी इग्लैण्ड जाते हैं, वे दूसरा ही विवरण देते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि एक समय ब्राह्मणवाद को बौद्धों द्वारा पराजित होना पड़ा था। बाद को उसे परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढाल लेना पड़ा और उपासना के स्थानीय स्वरूप उसने सहन कर लिये थे जो भारत में स्थापित किए गये थे। ब्राह्मणों द्वारा पहले उनका धीरे धीरे पराजय हुआ था। ब्राह्मणवाद के पास कभी राजतन्त्र नहीं था जिससे धार्मिक विश्वासों की एक रूपता स्थापित होती, पुरातनवाद की परीक्षा होती या पूरे भारत में लोकापवाद दण्डित होता। किन्तु क्या बात थी कि अकाल में अस्वच्छ हाथों द्वारा भोजन लेने की अपेक्षा लोग मरना स्वीकार करते थे। (१) क्या ऐसे पुरोहित यूरप में हैं या किसी देश में हैं जिनका अधिकार अकाल में भी अबाध्य होगा। भारत में अब भी पुरोहितों का प्रचुर प्रभाव है। उसके अत्यधिक होने के कारण हैं परम्परा रीति, रिवाज और अन्ध विश्वास। वे लोग जो अब भी सबसे आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक माने जाते हैं, जिनका प्रभाव अब भी, भले या बुरे के लिये बहुत अधिक है, वेदों की सर्व श्रेष्ठ प्रमाणिकता और अधिकार में विश्वास करते हैं। व्यक्तिगत सम्मति पर आधारित बातें या स्थानीय परम्परा से प्रचलित धर्म तन्त्र शास्त्रों या पुराणों की बातें कानूनी पुस्तकें, मनु की स्मृतियाँ

जैसे वे मौलिक रूप में थे अथर्ववेद में वर्णित ११, २४ में पुराण का अर्थ था प्राचीन परम्परा। ऋच समानी सहानि पुराणो यजुषा सह, १५ ६, ४। इतिहास पुराणो च गाथाश्च नराशंसिश्च। मौलिक पुराण, बहुत प्राचीन काल से, परम्परागत ब्राह्मणों की विद्या के भाग थे। इतिहास और दन्त कथाओं से वे पृथक थे। पुराण और इतिहास मनोरंजन के लिये पढ़े जाते थे। कभी अन्तिम मृतक क्रिया के अवसर पर कानून की पुस्तकों में पुराणों की प्रामाणिकता प्राप्त है। वेदों से वे पृथक थे, धर्म शास्त्र और वेदाङ्ग से भी पृथक थे। (गौतम ११, १९) वे पुराणों के सारांश आपस्तम्ब धर्म सूत्रों में दिये गये हैं (१ १६ १३, ११, २३, ३)। इन्हें पढ़ते हैं। पहले मनु में ४, २४८, २४९ और दूसरे याज्ञवल्क्य में ३, १८९। गद्य के भी उद्धरण मिलते हैं। आपस्तम्ब धर्म सूत्र १ २९ ७। इनसे नितान्त पृथक पुराण हैं। जैमिनि के समय तक पुराणों का कोई महत्व नहीं दिया जाता था। उन्होंने अपनी मीमांसा में उनका उल्लेख तक नहीं किया है। इन-दइन विन्तनि का १ २ १६४।

(१) यह विचित्र बात है कि इस प्रकार प्रचलित विश्वास का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है कि दुर्भिक्ष में भी अस्वच्छ हाथों द्वारा दिया गया भोजन नहीं लेना चाहिये। श्रुति और स्मृति दोनों में इसका खण्डन है।

भी छोड दी जाती हैं यदि उनमे वेद के एक वाक्य के विरुद्ध कुछ भी होता है। इस तथ्य पर कोई विवाद नही है। किन्तु वे ब्राह्मण जो इस कलियुग मे भी और म्लेछो के उत्थान के समय म भी भूत काल की पवित्र परम्परायें धारण किये हैं, कलकत्ता के ड्राइङ्ग रूम मे सज हुये बगलो म नही मिलेंगे। वे लोगो की भिक्षा पर आश्रित हैं। गाँवो म रहते हैं, या तो एकान्त मे या शिक्षालयो मे। उनका महत्ता चली जायगी यदि वे किसी नास्तिक स बात करेंगे या हाथ मिलायेंगे। वे बहुत ही कम एकान्त छोड़ते हैं। जब किसी यूरुपियन के सम्पर्क मे आते हैं तो अपनी भाषा के साहित्य पर उसका अधिकार देखकर आश्चर्य करते हैं। कुछ दबाव क बाद वे अपना मुख और हृदय खोलते हैं। प्राचीन ज्ञान का अक्षय कोष कभी कभी खुलता है। वे अङ्गरजी या बगला भी नहा बोलते।

वे सस्कृत बोलते हैं और सस्कृत ही लिखते भी हैं। प्राय मुझे उनके पत्र मिलते हैं जा अत्यन्त शुद्ध भाषा म होते हैं।

मेरी परियों की कहानी अभी पूरी नही हुई है। य विद्वान, मैं जानता हूँ कि यह पूर्ण सत्य है, पूरा ऋग्वेद कठस्थ किये हैं जैस उनक पूर्वजो ने किया था, तीन या चार हजार वर्ष पहले। यद्यपि उनके पास हस्तलिपियाँ हैं और अब उनके पास छपी हुई प्रति भी है फिर भी व उनसे अपने मन्त्र नही सीखते हैं। हजारो वर्ष पूर्व अपने पूर्वजो के अनुसार वे उनको एक गुरु से सीखते हैं। उनका अभिप्राय है कि वेदो के उत्तराधिकार की परम्परा कभी न छूटने पाये। (१)

ब्राह्मणो की दृष्टि मे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना, कठस्थ करके और मौखिक रूप से ही प्रदान करना परम पवित्र त्याग और बलिदान माना गया था। जो अब भी इस प्रणाली का कायम रक्खे हैं उनकी सख्या कम है फिर भी उनका प्रभाव, उनका पवित्र अधिकार और उनकी सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा अब भी पूर्ववत है। ये लोग इगलैण्ड नही आते हैं क्योंकि व समुद्र-यात्रा नही करते। किन्तु उनके कुछ शिष्य जिन्होने आधी अपनी भाषा में और आधी अङ्ग्रेजी ढङ्ग से शिक्षा दीक्षा पाई है इतने कट्टर नहो हैं। मुझमे वहाँ क लोग मिले हैं जो वेदो के अधिक भाग कठस्थ किये थे। दूसरो स

(१) इस कठाग्र शैली का प्रति साक्ष्य, ऋग्वेद में वर्णन है। शायद ई० पू० पाँचवी या छठी शताब्दी म ब्राह्मण ग्रथो मे इसका सकेत है। किन्तु यह प्रणाली इसके पहल भी प्रचलित रही होगी। ऋग्वेद क एक मन्त्र में (७, १०३) वर्षा ऋतु के आगमन और दादुर ध्वनि तथा उनकी प्रसन्नता का वर्णन है। एक दूमरे की बोली दोहराते हैं जैसे शिष्य अपने गुरु के शब्दो को दोहराता है। शिष्य को शिक्षा मन कहा गया है और गुरु का सत्ता। उसी धातु स शिक्षा शब्द का वाद को ध्वनि के सम्बन्ध मे स्वीकृत किया गया।

मेरा पत्र व्यवहार भी हुआ है जो बारह या पन्द्रह वर्ष की आयु में सम्पूर्ण वेद मौखिक रूप में गुना सकते थे। (१) प्रतिदिन वे कुछ पंक्तियाँ मानते हैं, पाठ उनका दोहराते हैं। पूरा घर वेद ध्वनि से भर जाता है। इसी प्रकार उनकी स्मरण शक्ति पुष्ट होती है। जब उनका अध्ययन कार्य पूरा होता है तब आप उनका प्रमाण एक पुस्तक के रूप में कर सकते हैं। कोई भी वाक्य शब्द, पद और उच्चारण आप उनसे जान सकते हैं। शंकर पाण्डुरंग इस समय मेरे ऋग्वेद के संस्करण के लिए हस्तलिपियों से नहीं बरन् वैदिक श्रोत्रिय लोगों की कण्ठस्थ प्रणाली से अनेक पाठों का संग्रह कर रहे हैं।

२ माघ १८७७ में उन्होंने लिखा था—"मैं कुछ समता किसी ऋग्वेद की पाण्डुलिपियाँ एकत्र कर रहा हूँ। आप का मूल मेरा आधार है। उनमें मुझे अनेक अन्तर दिखाई पड़ते हैं मैं उनकी सम्यक समीक्षा पीछे कर सकूँगा। उसी समय मैं यह कह सकूँगा कि वे विभिन्न पाठ हैं या नहीं। निश्चय ही मैं पहले आपको सूचित करूँगा। उसके बाद ही उनका सार्वजनिक उपयोग करूँगा। यदि कभी किया तो। मेरे यह लिखते समय एक वैदिक विद्वान आपके मूल ऋग्वेद का अवलोकन कर रहे हैं। एक ओर उनकी अपनी पाण्डुलिपि है जिसे वे कभी कभी खोलते हैं। उनका सम्पूर्ण सामवेद और पद मूल कण्ठस्थ है। मेरी इच्छा तो है कि उनका चित्र भेजूँ। वे किस आनन्द से मेरे डेरे पर विराजमान हैं। उनका उपवीत कन्धों पर है, कमर में केवल एक धोती है। यह ऋषियों के अनुकूल ही उत्तम स्वरूप है।'

उस अद्भुत हिन्दू पर विचार करिये जो भारतीय गगन के नीचे, मुक्ताकाश में पवित्र ऋचाओं का पाठ कर रहा है। कण्ठस्थ प्रणाली से ये मन्त्र, गीत तीन या चार हजार वर्षों से उसे मिलते रहे हैं। यदि लेखन-कला का आविष्कार न होता और मुद्रण व्यवस्था भी न होती, यदि भारत पर इङ्गलैंड का राज्य न होता तब भी वह युवक ब्राह्मण और उसी के समान कराड़ों उसके देशवासी इसी प्रकार अपनी ऋचायें कण्ठस्थ प्रणाली से पढ़ते। अपनी सरल प्रार्थनायें मौखिक उसी प्रकार करते जैसे प्रारम्भ में सरस्वती की वन्दना की गई थी, और पञ्जाब की अन्य सरिताओं की की गई थी। जैसे वशिष्ठ विश्वामित्र और श्यावाश्व आदि ने वन्दना की थी और हम यहाँ हैं वेस्ट मिनस्टर अबे (गिरजाघर) की छाया में, यूरप के बौद्धिक जीवन के चरम उत्कर्ष के अवसर पर यूरोप ही नहीं संसार के मानसिक समृद्ध काल में, उन्हीं पवित्र मन्त्रों को अपने मन में सुनते और गुनते हुए, उनको समझने का प्रयास करते हुए। कभी-कभी उनका समझना बहुत ही कठिन हो जाता है। उनसे हम जान लेने की चेष्टा करते हैं

(१) 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' १८७८ पृ १४०। सम्पादक का कहना है कि हजारों ऐसे ब्राह्मण हैं जो पूरा ऋग्वेद कण्ठस्थ किये हैं और उसे मौखिक कह सकते हैं।

कि मनुष्य के वक्षस्थल में कितने गम्भीर रहस्य हैं। वह हृदय सर्वत्र समान है। रङ्ग, जाति, धर्म, समय और स्थान भेद से हम भले ही अलग हों।

आज मुझे आपको यही कथा सुनानी थी। आप में से कुछ लोगों को यह परियों की कहानी ऐसी लग सकती है। मेरा विश्वास करिये सामयिक इतिहास के अध्यायों से अधिक यह सत्य है परम सत्य है।

तीसरे भाषण का पश्चात्-लेख

मैंने देखा है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य को मुखाग्र प्रणाली से प्रदान करने की मेरी टिप्पणी पर और आज तक उस कठस्थ प्रणाली के स्थायित्व पर लोगों ने सन्देह व्यक्त किया है? मैं ऋग्वेद प्रातिसाख्य से कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ जिनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि कठस्थ प्रणाली कम से कम ई० पू० ५०० वर्ष में प्रचलित थी। मैं दो स्थानीय विद्वानों के ज्ञापन भी दे रहा हूँ जो इसकी पुष्टि करते हैं कि आज तक वह शैली स्थायित्व रखती है।

ऋग्वेद का प्रातिसाख्य पहले मैंने प्रकाशित किया था, जरमन भाषा में उसका अनुवाद १८५६ में प्रकाशित किया था। उनमें वे नियम हैं जिनके अनुसार पवित्र ऋचाओं का पाठ करना चाहिये। यह प्राचीनतम प्रातिसाख्य मेरी सम्मति में ई० पू० पांचवीं या छठी शताब्दी का है अर्थात् एक ओर यास्क और दूसरी ओर पाणिनि। मैं इसी तारीख को प्रामाणिक समझता हूँ जब तक इसके विरुद्ध सबल प्रमाण न हो। प्रातिसाख्य के पन्द्रहवें अध्याय में प्राचीन भारत के विद्यालयों में प्रचलित शैली का वर्णन है। गुरु स्वयं स्वीकृत पाठ्यक्रम पूरा कर लेते थे और ब्रह्मचारी के सम्पूर्ण कर्त्तव्य पूर्ण कर लेते थे। उसके बाद वे गुरु का पद पाते थे। वे केवल उन्हीं विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे जो धर्म पूर्ण रूप से निबाहते थे। एक उपयुक्त स्थान पर उनका आश्रय में रहना आवश्यक था। यदि केवल एक या दो शिष्य हैं तो उनको गुरु के दाहिनी ओर बैठना चाहिये। यदि अधिक हैं तो स्थान की सुविधानुसार बैठना चाहिये। प्रत्येक पाठ के प्रारम्भ में शिष्य अपने गुरु के चरण स्पर्श करते थे और कहते थे "महानुभाव, शिक्षा दें, पाठ प्रारम्भ करें उनके गुरु कहते थे, ओइम्, एवं। तब वे दो शब्दों का उच्चारण करते थे। यदि मिश्रित शब्द होता था तो केवल एक का ही उच्चारण करते थे। जब गुरु एक या दो शब्द उच्चारित करते थे तब प्रथम शिष्य प्रथम शब्द कहता था किन्तु यदि व्याख्या की आवश्यकता होती थी तो शिष्य कहता था 'महानुभाव। व्याख्या करने के बाद गुरु कहते थे 'ओइम्, अग्नि।

वे इसी प्रणाली से पढ़ते थे और प्रश्न का समाधान करते थे। प्रश्न में तीन पद होते थे। यदि चालीस बयालीस अक्षर-समूहों से अधिक होते थे तो दो पद होते थे। यदि पंक्ति बद्ध पद होते थे जिनमें चालीस या बयालीस अक्षर समूह होते थे तो प्रश्न दो

या तीन का होना था यदि किसी ऋचा म केवल एक ही पद होना था तो उसे प्रश्न मान लिया जाता था। एक प्रश्न की समाप्ति पर सब उसे फिर दोहराते थे। तब वे उसे कठस्थ करते थे। प्रत्येक शब्द-समूह का स्पष्ट और स्वरित उच्चारण करते थे। जब गुरु अपने दाहिने बैठे हुए शिष्य को प्रथम प्रश्न बता देते थे तब दूसरे उसके दाहिने ओर जाते थे, इस प्रकार सम्पूर्ण अध्याय बताया जाता था। एक पाठ या भाषण म साठ प्रश्न होते थे। अंतिम आधे पद्य की समाप्ति पर गुरु, कहता था 'महानुभाव और शिष्य कहता था आइम् य महानुभाव।

अन्त मे आवश्यक पदो को वह दोहराता भी था। तब शिष्य गुरु क चरण स्पश करते थ और चल जात थ।

पाठ प्राप्त करने की यही प्रचलित प्रणाली थी। इसके अतिरिक्त प्रातिसाख्य मे विस्तृत नियम हैं। उदाहरणाथ, छोट शब्द छूट न जाय इसलिये गुरु केवल एक उच्च स्वरित अक्षर को दो बार कहत थ। जिसम केवल एक हो स्वर होता था उसे दो बार उच्चारित करते थे। छोट शब्दो क बाद इति विशेषण लगाया जाता था। दूसरे शब्दो के बाद इति कहा जाता था फिर उसे दोहराया जाता था। जैसे का इति का।

वष मे छ मास य पाठ चलत थ। सत्र का प्रारम्भ वर्षा काल से होता था। अनेक छुट्टियाँ (अनध्याय) होती थी जिनम पढाई नही होती थी। इन विषयो पर भी गृह्य और धर्म सूत्रो में विस्तृत नियम दिये गये हैं।

ई० पू० लगभग ५०० वर्ष मे भारत म जो होता था उसका यह एक सन्तोष प्रद चित्र कहा जा सकता है। अब हम यह देखना है कि उस पुरातन परिपाटी का कितना अश अब बचा है।

'षड दर्शन चिन्तनिका (भारतीय दर्शन का अध्ययन) के सम्पादक ने ८ जून १८७८ म पूना से भेजे हुए एक पत्र मे लिखा था "ऋग्वेद शाखा के विद्यार्थी को दस ग्रन्थो के अध्ययन मे लगभग आठ वष लगत हैं यदि विद्यार्थी तीव्र बुद्धि वाला और अध्यवसायी है। वे दस ग्रन्थ हैं --

(१) सहिता या मन्त्र।

(२) ब्राम्हण ग्रन्थ, बलिदान आदि के सम्बन्ध मे गद्य रचनायें।

(३) आरण्यक।

(४) गृह्य सूत्र पारिवारिक धार्मिक क्रियाओ के नियम।

(५) शिक्षा उच्चारण, ज्योतिष नक्षत्र शास्त्र, कल्प, धार्मिक क्रियायें, व्याकरण निघट, निरुक्त, छ द शास्त्र खड, छन्द और छै अङ्ग आदि विषयो पर।

८ वर्ष में शिष्य अनध्याय को छोडकर पढता है। चन्द्र मास मे ३६० दिन होते हैं। इस प्रकार ८ वष म २८८० दिन होते हैं। इनमे से अनध्याय के ३८४ निकाल दिये जाने पर अधिक दिन अध्ययन के होते हैं।

दस ग्रन्थो में अनुमानत २९५०० श्लोक हैं। अत ऋग्वेद के विद्यार्थी को प्रति दिन लगभग १२ श्लोक पढना है। प्रत्येक श्लोक मे ३२ अक्षर-समूह होते हैं।

'मैं आपको इस सूचना की प्राप्ति का स्रोत बताना चाहता हूँ। पूना म वेद-शास्त्रोत्तेजक सभा है जो प्रति वष सस्कृत की अधिकृत शाखाओ के अध्ययन के लिये पारितोषिक प्रदान करती है। अध्ययन मे भारतीय दशन के ६ शास्त्र, अलङ्कार शास्त्र वैद्यक, ज्योतिष, वेदो का विभिन्न रूपो मे पाठ जैसे पाद क्रम, घन और गर्ता एव दस ग्रन्थो म वर्णित विषय रहते थे।

पुरस्कार प्राप्त कर्ताओ की सस्तुति एक परीक्षा मण्डल करता है। प्रत्येक विषय में तीन परीक्षाये (जाँच) होती हैं। प्रक्रिया विषय का सैद्धान्तिक ज्ञान, उपस्थिति—विषय का साधारण प्रचलित ज्ञान और ग्रन्थाय-परीक्षा—प्रत्येक शाखा के अधिकृत ग्रन्थो के पदो का निर्माण पूना के अग्रगण्य निवासी और नागरिक लगभग एक हजार रुपये वितरित करते हैं। गत ८ मई की एक सभा म लगभग पचास सस्कृत के पण्डित और वैदिक विद्वान उपस्थित थे। उनकी उपस्थिति म मुझे यह सूचना प्राप्त हुई थी जो एक वृद्ध वैदिक विद्वान ने दी थी। वह वयो वृद्ध सज्जन पूना म अपनी विद्वत्ता के कारण पूज्य माने जाते हैं। प्रोफेसर आर० जी० भडारकर एम० ए० (इडियन ऐंटीक्वेटी १८७४ ५ १३२) की लेखनी से विस्तृत एक और ज्ञानवद्धक विवरण प्राप्त हुआ है। उससे स्थानीय ज्ञान पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। वे लिखते हैं —

"प्रत्येक ब्राह्मण परिवार एक निश्चित वेद के अध्ययन मे अपने को सलग्न कर देता है। वेद की एक निश्चित शाखा का वह विशेष अध्ययन करता है। उस वेद से सम्बन्धित सूत्रो मे विवरित नियम और धर्माचरण के अनुसार परिवार म धार्मिक क्रियायें सम्पन्न की जाती हैं। उन निश्चित वेद के अग कठस्थ किये जाते हैं। उत्तरी भारत मे, जहाँ शुक्ल यजुर्वेद प्रमुख है और माध्यन्दिन शाखा प्रधान, बनारस को छोड कर यह अध्ययन प्राय समाप्त हो गया है। बनारस म समस्त भारत के ब्राह्मण परिवार बसते हैं। गुजरात में वह कुछ अशो म प्रचलित है। मराठा प्रान्त में उसका प्रचलन अधिक है। तेलगाना म ब्राह्मणो के बडे परिवार अपना जीवन इस अध्ययन म लगाते हैं। इनम से बहुत से ब्राह्मण भारत के दूसरे भागो मे दक्षिणा के लिये जाते रहते हैं। भारतवासी अपनी सामर्थ्य के अनुसार इनको दान दक्षिणा देते हैं। वे वेदो के मुखाग्र प्रणाली से सस्वर पाठ करते हैं। कृष्ण यजुर्वेद, आपस्तम्ब सूत्रो सहित उनका प्रधान वेद है। बम्बई म शायद ही कोई सप्ताह ऐसा बीतता हो जब कोई तेलगाना का ब्राह्मण दक्षिणा के लिये मेरे पास न आता हो। प्रत्येक अवसर पर मैं उनसे जो उन्होंने पढ़ा है वह सुनता हूँ। उसकी तुलना अपने पास रक्खे हुए मूल से करता हूँ। मूल ऐसा है। व्यवसाय के सम्बन्ध मे प्रत्येक वेद के ज्ञाता ब्राह्मण गृहस्थ एव भिक्षुक दो वर्गों मे

विभक्त होते हैं। गृहस्थ ब्राह्मण लौकिक कार्यों म लगने हैं और भिक्षुक अपनी पवित्र पुस्तकों के अध्ययन म अपना समय लगाते हैं और धार्मिक क्रियायें करते रहते हैं।

दोनो वर्गो के ब्राह्मण प्रति दिन सन्ध्या-वन्दना करते हैं। सन्ध्या वन्दना के रूप विभिन्न वेदो के अनुसार विभिन्न हैं। किन्तु गायत्री मन्त्र का जप नेत सवितुर्वरेयय पाँच, दस अट्ठाइस या एक सो आठ बार सबके लिये अनिवार्य है। यह धमाचरण का मुख्य अङ्ग है।

इसके अतिरिक्त अनेक ब्राह्मण प्रतिदिन ब्रह्म यज्ञ करत हैं। कुछ निश्चित अवसरों पर ब्रह्म-यज्ञ सबके लिये अनिवार्य हैं। ऋग्वेद के परिइन प्रथम मडल के प्रथम मत्र पढ़ते हैं और ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारम्भ के अशा का पाठ करन हैं। एतरेय आरण्यक के पाच भाग यजु सहिता साय सहिता, अथर्व सहिता अश्वलायन कल्प सूत्र, निरुक्त खण्ड निघट, ज्योतिष ,शिक्षा, पाणिनि याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत कणाद्जैमिनी, और बादरायण के सूत्र पाठ क विषय हैं।

जिन भिक्षुओ ने सपूर्ण वद पढा है व प्रथम मत्र स अधिक पढते हैं। वे उस बार बार इच्छानुसार दोहराते हैं। कई आवृत्तिया करते हैं।

कुछ भिक्षुक यानिक होते हैं। उनका पुरोहित काय मानमाघ्य हैं व पवित्र धार्मिक क्रियाओ के सम्पादन विशेषन होत हैं। किन्तु भिक्षुको का महत्वपूर्ण वग वैदिकों का है। इनम से कुछ यानिक भी होत हैं। उनके जीवन का लक्षण हैं वेदो को कठस्थ करना, बिना किसी त्रुटि क वदा का पाठ करना। स्वरा म भी सावधानी बरतना उनकी विशेषता है। सर्वोत्तम ऋग्वेदी वैदिक विद्वान इतना ज्ञान कठस्थ किये रहते हैं सहिता, पाठ, क्रम, मन्त्रो की गति और धर्म ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक अश्वलायन क कल्प और गृह्य सूत्र, निघट, निरुक्त, खण्ड, ज्योतिष, शिक्षा, और पाणिनि का व्याकरण। इस प्रकार वदिक एक जीवित वैदिक पुस्तकालय होता है।

सहिता, पद, क्रम, गति, घन य मन्त्रों क मूल क प्रबध म विभिन्न नाम हैं।

सहिता क मूल म सब शब्द का, सस्कृत की विशेष शैली क अनुसार उच्चारण नियमों का विचार करके जोड़ा जाता है।

पद क मूल म शब्दों का विभाजित किया जाता है और मिश्रित शब्द अलग कर दिये जाते हैं।

क्रम क मूल म, यदि पक्ति ११ शब्द की है तो उसका क्रम इस प्रकार होगा। अक्षरों एव उच्चारणा पर सधि क नियम पालन किये जात हैं।

१ २,२ ३,३ ४ ४ ५ ५ ६ ६ ७ ७,८, आदि प्रत्येक पद का अन्तिम शब्द, आध पद का भी इति क साथ दोहराया जाता है।

संहिता, पद और क्रम में तीन मूल सबसे कम कृत्रिम हैं। ऐतरेय आरण्यक में इनका वर्णन है, यद्यपि वहाँ इनके दूसरे प्राचीन नाम हैं। संहिता मूल के अत के और प्रारम्भ के अक्षर बदले हैं। मूल को प्रभिन्न कहा गया है। क्रम मूल को उभयम् अन्तरेण दो के बीच म—कहा गया है।

प्रत्येक पद का अन्तिम शब्द और आधा पद इति के साथ दोहराया जाता है। घन मे शब्दो का क्रम निम्न लिखित है —

१,२,२,१,१,२,३,३,२,१,१,२,३,२,३,३,२,२,३,४,४,३,२,२,३,३,२,२,३,४, ४,३,२,२,२,३,४,३,४,४,३,३,४,५,५,४,३,३,४,५, आदि। पद क अन्तिम दो शब्द और आधा पद इति के साथ दोहराय जात हैं।

७,८,८,७,७,८,८ इति ८, और फिर १०,११,११,१०,१०,११,११ इति ११। मिश्रित को अवग्रह किया जाता है। इन विभिन्न प्रबन्धो का उद्देश्य है पवित्र ग्रन्थो की ठीक से सुरक्षा, इनका पाठ केवल यान्त्रिक नही है। सतत ध्यान रखने की आवश्यकता है जिससे उच्चारण के परिवर्तन अन्तिम और प्रारम्भिक अक्षर ठीक से घटित हो स्वरित शब्दो का जोर समुचित हो।

कंठ के स्वरो के उतार चढाव से विभिन्न स्वरो का उच्चारण और जोर स्पष्ट किया जाता है। ऋग्वेदी और अथर्ववेदी इस तैत्तिरीयवादियो से भिन्न प्रकार स करते हैं। माध्यन्दिन दाहिने हाथ की गतियो से स्वर स्पष्ट करत हैं।

ऋग्वेदी प्राय घन तक नही जात। वे प्राय संहिता, पद और क्रम तक ही सीमित हैं। तैत्तिरीय वादियो म अनेक वैदिक मन्त्रो के घन तक जाते है। उन्हें केवल ब्राह्मण और आरण्यक से ही काम है। कुछ लोग तैत्तिरीय प्रातिसाख्य भी पढते हैं। किन्तु उस वर्ग के लोग वेदांग पर ध्यान नही देते। ऋग्वेदियो के अतिरिक्त कोई उन पर ध्यान नही देता है। माध्यन्दिन संहिता, पद, क्रम और अपने मन्त्रो का घन लेते हैं किन्तु उनका अध्ययन यही तक रहता है। उनमे शायद ही कोई पूरा शतपथ ब्राह्मण कण्ठस्थ किये हो।

इसके अतिरिक्त वे कल्पसूत्र और प्रयोग भी पढत हैं। उनकी संख्या बहुत कम है।

कहीं-कहीं अग्निहोत्री मिलते हैं जो तीन वैदिक अग्नियो को प्रज्वलित रहते हैं। प्रति पक्ष वे इष्टि यज्ञ करते हैं और चतुर्मास, चार मास के बाद निश्चित क्रिया करत हैं। सोम यज्ञ कभी कभी होते हैं वास्तव म उनकी परम्परा अब बहुत कम है।

इन उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्राचीन साहित्य की सुरक्षा कण्ठस्थ प्रणाली से केवल स्मृति से कैसे हो सकती है। वेदो का मूल पाठ हम प्राप्त है। वह

इतना शुद्ध और मौलिक है कि उसके पाठ मे कही भी त्रुटि नहीं मिलती है, कोई भी पाठ भिन्न नही है। उच्चारण, एव स्वरित का विवरण भी इतना विशद और शुद्ध है कि पूरे ऋग्वेद म कही भी कोई अन्तर नही पाया जाता है। मूल भ्रष्ट किया गया है जिसकी पहिचान सरलता से हो सकती है। समुचित विवेचना और समीक्षा उसे ठीक कर सकती है। किन्तु ये भ्रष्ट मूल भी कभी स्वीकृत माने गये होंगे जब अतिम रूप से ऋषियो ने एव अधिकारी विद्वानो ने उनके समुचित सदभ मे विचार किया है।

वेदों की प्रामाणिकता धम सम्बधी सब प्रश्नो के सदभ म, अब भी भारत वप म उतनी ही मानी जाती है। जितनी पहले या कभी मानी जाती है थी। उसके सम्बन्ध मे विवाद कम होवे हा यह बात भी नही किसी भी पवित्र ग्रथ के सम्बध म विवाद उठते ही हैं। फिर भी अनेक बहु सख्यक पुरातन आस्तिक वादियो के लिये वेद अब भी सर्वोच्च पद प्राप्त किये हैं। उनकी प्रामाणिकता मे त्रुटि नही है। जिस प्रकार हमारी बाइबिल प्रामाणिक और त्रुटि विहीन मानी जाती है या मुसलमानो के लिये कुरान पवित्र और प्रामाणिक है।

चौथा भाषण

साकार की पूजा

अर्ध साकार और निराकार की उपासना

हम स्पष्ट रूप से वह बिन्दु समझ लेना चाहिये जहाँ से हम प्रारम्भ करते हैं और यह भी जान लेना चाहिए कि हमे किस विन्दु तक जाना है। हमे किस मार्ग से उस लक्ष्य तक जाना है। हमे उस बिन्दु तक जाना है जहा धार्मिक विचार पहले उत्पन्न होते हैं किन्तु हम एक ओर उस पिटी पिटाई लीक पर नही जाना चाहते हैं जो मूर्तिपूजा को उसका प्रारम्भ मानती है और दूसरी ओर उधर भी नही जाना चाहते हैं जहा अवतरण (इलहाम) या दैवी प्रकाश की बात कही जाती है। हमे अपने लक्ष्य बिन्दु पर इन मार्गो से नही जाना है। हम वह राज मार्ग चाहते हैं जो सर्वमान्य सिद्धान्त से प्रारम्भ हो, अर्थात पाँचो इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान और हमे सीधे ले जाँय, यद्यपि धीरे-धीरे उस विश्वास तक जो दिखाई नही देता है या केवल पाचो इन्द्रियो से ही जिसका ज्ञान नहीं होता है—अनन्त के अनेक रूप, अलौकिक, या दैवी सत्ता।

धर्म की साक्षी, केवल इन्द्रिय-जनित कभी नहीं

सब धर्म एक बात पर एकमत हैं, दूसरी बातो मे वे भले ही मतभेद रखते हों, कि उनकी साक्षी और प्रमाण केवल इन्द्रिय-जनित अनुभूतियो से ही प्राप्त नही है। जैसा हमने देखा है, यह मूर्ति पूजा पर भी लागू होता है। क्योकि मूर्ति की पूजा करने मे, मूल निवासी केवल साधारण पत्थर ही नही पूजता है वरन् पत्थर मे जिसे वह छू सकता है, उठा सकता है, किसी और की धारणा करता है जिसे वह हाथ, कान और आँखों से ग्रहण नही कर सकता है।

यह होता कैसे है ? वह ऐतिहासिक प्रक्रिया क्या है जिससे यह विश्वास उत्पन्न होता है कि हमारी इन्द्रियो का जो अनुभूति होती है उसके परे कुछ है या हो सकता है, कुछ अदृश्य सा, या इसे शीघ्र ही अनन्त मनुष्योपरि और दैवी सत्ता मानने लगते हैं। इसमे सन्देह नही है कि यह एक भारी भ्रम हो सकता है, केवल भ्रान्ति हो सकती है कि हम अदृश्य, अनन्त और देवोपम की बातें करते हैं किन्तु ऐसी अवस्था मे हम इस और अच्छी तरह जानना चाहते हैं कि क्या बात है कि सभी लोग, जो दूसरी बातो मे पागल नही जान पडते हैं, सृष्टि के आरम्भ से आज तक, इस बात मे पागल हैं। हम इस प्रश्न

का उत्तर चाहते हैं नहीं तो हमें यह मान लेना पड़ेगा कि धर्म का विषय वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये उपयुक्त नहीं है।

बाह्य अवतरण (इलहाम)

यदि केवल ज्ञान से काम चल जाता तो हम कहते कि समस्त धार्मिक विचार जो इन्द्रियों की अनुभूति से परे हैं बाह्य अवतरण (इलहाम) से उत्पन्न हुए हैं। यह सुनने में अच्छा लगता है और शायद ही कोई ऐसा धर्म हो जो अवतरण का दावा न करता हो। हम तो इस तर्क की मूर्ति की भाषा में लेना है। यह देखना है कि इससे हमारी कठिनाइयाँ कितनी कम होती हैं जो धार्मिक विचारों की उत्पत्ति और विकास के ऐतिहासिक अध्ययन में उपस्थित हैं। यदि हम किसी अशांति पुरोहित से पूछें कि वह कैसे जानता है कि उसकी मूर्ति या प्रतिमा केवल साधारण पत्थर नहीं है वरन् कुछ और है उसे चाहे जो कहिये और वह उत्तर दे कि प्रतिमा ने स्वयं उससे यह कहा है, उसके सम्मुख प्रकट हुई है और यह रहस्य बताया है तब हम क्या कहेंगे?

प्रारम्भ में अवतरण का सिद्धान्त इसी आधार पर है। शब्दों से हम इस बात को चाहे जितना ढकें। मनुष्य ने यह कैसे जाना कि देवता हैं? क्योंकि देवताओं ने स्वयं मनुष्य से ऐसा कहा।

यह विचार न्यूनतम सभ्य और पूर्ण सभ्य दोनों वर्गों में है। अफ्रीका की जातियाँ निरन्तर यह कहती हैं कि पहले आज की अपेक्षा स्वर्ग मनुष्यों के अधिक निकट था और सर्वोच्च देवताओं ने स्वयं सृष्टा ने पहले मनुष्यों को ज्ञान के पाठ, वुद्धि के पाठ दिये। बाद को वह उनसे दूर चला गया और अब उनसे बहुत दूर स्वर्ग में निवास करता है। (१)

हिन्दू भी यही कहते हैं। (२) यूनानी (३) अपने पूर्वजों से निवेदन करते हैं जो देवताओं के सान्निध्य में रहे थे। अपने देवताओं के सम्बन्ध में वे जो विश्वास रखते हैं उसकी प्रामाणिकता के लिये अपने पूर्वजों की बात मानते हैं।

अब भी प्रश्न वही है। देवताओं का विचार या हम जो देखते हैं उससे आगे कुछ और होने की बात पहले मनुष्यों के विचारों में उठी कैसे? उनके बहुत पहले के पूर्वजों के मन में कैसे उठी? वास्तविक समस्या है—ईश्वर का उद्देश्य कैसे उत्पन्न हुआ? किसी दृश्य या अदृश्य पदार्थ में उसे प्राप्त करने के पहले मनुष्य को उसका ज्ञान स्पष्ट रूप से हुआ होगा।

---

(१) वेट्ज २, ५, १७१।
(२) ऋग्वेद १, १७९, २, ७, २, ७६, ४ म्योर के संस्कृत टेक्स्ट ३ ४ २४५
( ) नगेशवाग होमरिक थियालाजी ४ १४१।

आन्तरिक अवतरण

जब यह देखा गया कि अनन्त, अदृश्य या दैवी सत्ता का सिद्धान्त हम पर बाहर से नहीं लाया जा सकता है तब यह सोचा गया कि यह कठिनाई दूसरे शब्द के प्रयोग से दूर हो जायगी। यह कहा गया कि समस्त जीवित प्राणियो मे केवल मनुष्य मे धार्मिक और परम्परागत अधविश्वास की प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति से उसने अनन्त, अदृश्य और दैवी सत्ता की धारणा की।

इस उत्तर को भी मूर्ति की भाषा म अनूदित करना ठीक होगा। तब हम यह जानकर आश्चर्य होगा कि हम सब कितनी आदिम अवस्था म हैं।

यदि कोई अघाटी हमसे कहे कि हमारी मूर्ति में जो दिखाई देता है उसके आगे भी कुछ है हमम वह अन्तशक्ति है कि उसे हम देख सकें तो हमे आश्चर्य होगा कि उसने यूरोपियन शिक्षा के प्रभाव म खोखली शब्दावली क प्रयोग म इतनी प्रगति की है किन्तु हम यह विचार शायद ही करें कि मनुष्य के अध्ययन म इन असभ्य मूल निवासियो की सहायता बहुत लाभ प्रद होगा। धार्मिक प्रवृत्ति को साधारण मानसिक प्रवृत्तियो क ऊपर मान लेना इसलिये कि इससे धार्मिक विचारो की उत्पत्ति की समीक्षा हो सकती है, वैसा ही है जैसे कि यह मान लेना कि भाषा की उत्पत्ति, भाषा सम्बन्धी प्रवृत्ति के कारण हुई है या गणना की शक्ति की उत्पत्ति का अध्ययन करने मे यह मान लेना कि मनुष्य में गणित की प्रवृत्ति के कारण उसकी उत्पत्ति और विकास हुआ है। यह पुरानी किम्वदन्ती है कि कुछ औषधियो के कारण नींद आ जाती है क्योंकि उन औषधियो म ही निद्रा लाने की विशेषता है (मस्तिष्क निद्रा के लिये क्रियाशील नही है। औषधियाँ ही वह विशेषता रखती हैं।)

मैं इससे इन्कार नहीं करता हूँ कि इन दोनो उत्तरों म सत्य का कुछ अंश अवश्य है। किन्तु इस अंश मात्र सत्य को असत्य के भारी ढेर से अलग करना होगा। संक्षेप में, प्रारम्भिक अवतरण का अर्थ स्पष्ट कर देने के बाद, हम समझते हैं कि हम इन शब्दों का प्रयोग आगे भी कर सकते हैं किन्तु उनका प्रयोग इतने गलत अर्थों म हुआ है कि उन्हें आगे प्रयोग करना अधिक बुद्धिमानी होगी।

पुराने पुलो को नष्ट कर देने के बाद जिनसे अनेक कठिनाइयो से भागा जाना बहुत सरल था—वे कठिनाइयाँ हमारे सम्मुख खडी थी। अब जब हम धार्मिक विचारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रश्न करते हैं तो प्रारम्भिक अवतरण और धार्मिक प्रवृत्ति की शरण नही ले सकते हैं। इनको छोड़कर हम आगे बढ़ना है और देखना है कि धार्मिक विचारो को उत्पत्ति के कारण बनाने म हम कितने सफल होते हैं। हमारी पाँच इन्द्रियाँ हैं और सारा संसार हमारे सामने है। हमारी इन्द्रियाँ उस संसार का जैसा वह है हमें

ज्ञान करवाती हैं। तब प्रश्न यह है कि इस संसार से आग की बात कहाँ से आती है? या, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हमारे पूर्वज आर्य इस परिणाम तक कैसे पहुँचे?

इन्द्रियाँ और उनकी साक्षी

आइये अब प्रारम्भ से ही देखें। हम उसे वास्तविक और गोचर कहते हैं जो हमें पाँच इन्द्रियों से प्राप्त होता है। एक आदिम पुरुष कम से कम यही कहता है। हमें इससे नहीं उठाना है कि क्या हमारी इन्द्रियाँ वास्तविक ज्ञान देती हैं। अभी हम बर्कले और ह्यूम की बात नहीं कर रहे हैं और न इपेडो क्लस या जेनोफेनस की। अभी तो हम फाल्गो डाइट ऐसे अस्थि शास्त्रियों की तरह देख रहे हैं। उनके लिये जिस हड्डी को वे छू सकते हैं सूँघ सकते हैं देख सकते हैं और उसका स्वाद जान सकते हैं या यदि आवश्यक हो तो उसका टूटना भी सुन सकते हैं वही वास्तविक है, सत्य है परम सत्य है जैसा सत्य हो सकता है।

इस प्रारम्भिक अवस्थाए भी हम इन्द्रिया के दो भागों का भेद समझ लेना चाहिये। स्पर्श, घ्राण और स्वाद इन्द्रिया जिनको पलार्टरिक इन्द्रियाँ कहा गया है। दूसरी है दर्शन और श्रवण इन्द्रियाँ जिनको योरिक इन्द्रियाँ कहा गया है। पहली तीन इन्द्रियाँ हमें पदार्थों का अत्यधिक निश्चित ज्ञान करवाती हैं दूसरी दो इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान सन्देह उत्पन्न कर सकता है। इनकी परीक्षा समय समय पर पहले की तीन इन्द्रियों द्वारा करनी पड़ती है।

स्पर्श से वास्तविकता की सच्ची साक्षी मिलती है। स्पर्श इन्द्रिय सबसे नीची कोटि की है, यह सबसे कम विकसित हुई है और उसमें सबसे कम विशेषता आयी है। विकास के दृष्टि कोण में उसे प्राचीनतम इन्द्रिय कहा गया है। घ्राण और स्वाद दो विशिष्ट इन्द्रियाँ हैं। घ्राण का उपयोग पशु अधिक करते हैं और स्वाद का उपयोग बच्चे करते हैं जिससे और अधिक प्रामाणिकता सिद्ध हो सके।

उच्च वर्ग के पशुओं में घ्राण द्वारा ही वास्तविकता की आवश्यक जाँच होती है। जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है विशेषत सभ्य मनुष्य का इसका प्रयोग लगभग समाप्त हो गया है। बच्चा घ्राण इन्द्रिय का बहुत कम उपयोग करता है। किसी पदार्थ की वास्तविकता जानने के लिये पहले बार उसका स्पर्श करता है और बाद में यदि हो सकता है तो अपने मुख में रख लेता है।

आयु के बढ़ते ही मुख में पदार्थों को रखने की क्रिया समाप्त हो जाती है परन्तु पदार्थों की जाँच के लिये हाथों से स्पर्श करने की क्रिया शेष रह जाती है। आज भी बहुत लोग यह कहते हैं कि जिसे हम छू नहीं सकते, हमारे हाथ जिसका स्पर्श नहीं कर

खाले और स्वय पशु भी इनका सब ओर स स्पश किया जा सकता हैं। वे हमारे सम्मुख पूर्ण रूप स उपस्थित हैं। वे हमारी पकड के बाहर नही जा सकते है। उनमे अज्ञात या अनात्य कुछ भी नही है। प्रारम्भिक समाज के ये प्रचलित घरेलू शब्द थे। वृक्ष, पर्वत, सरिताए और पृथ्वी के सम्बन्ध म यह बात नही है।

वृक्ष

एक वृक्ष भी, आदिम काल क वन मे पुराना बडा वृक्ष, भया क्रान्त करने की और गरिमा दिखाने की कुछ शक्ति रखता है। उसकी सबस नीची जडे हमारी पहुँच के बाहर हैं। उसकी शिखा हमारे बहुत ऊपर होती है। हम उसक नीचे खडे हो सकते हैं उसे छू सकते देख सकते, हैं किन्तु हमारी इन्द्रियाँ एक ही दृष्टि म उसे सम्पूर्ण रूप से ग्रहण नही कर पाती। इसके अतिरिक्त, जैसा हम कहत हैं वृक्ष मे जीवन होता है और काष्ठ की कडा निर्जीव होती है। पुराने लोग इसी प्रकार का अनुभव करत थ। इमे वे और किस प्रकार कहते कि वृक्ष जीवित है। यह कहने मे उनका अभिप्राय यह नही था कि वृक्ष गरम साँस रखता है या स्पन्दन शील हृदय रखता है। किन्तु निश्चित रूप से इसे स्वीकार करते थे कि जो वृक्ष उनके नेत्रो के सम्मुख बढ रहा है जिसकी शाखाये बढ रही है, जिसमे पत्तियाँ, फूल और फल लग रहे हैं जो जाडे क पतझड मे पत्तियाँ गिरा देता है और जो अन्त मे काट दिया जाता है या मर जाता है। उसम ऐसा कुछ है जो उनकी इन्द्रिया से प्राप्त ज्ञान की सीमा स आगे है। उसम कुछ अज्ञात और विचित्र तत्व है। फिर भी वह निश्चय ही सत्य है वास्तविक है। यह अज्ञात और अनात्य तत्व, फिर भी निश्चित रूप से सत्य और वास्तविक, उनमे से अधिक विचारवान लोगो के आश्चय का सतत कारण बना रहा। एक ओर वे उस पर अपने हाथ रख सकते थे इन्द्रियो स अनुमति कर सकते थे और दूसरी ओर वह उनसे लुप्त था। 'वह उनस निकला वह विलीन होयगा।

पर्वत

पवत सरिताए, समुद्र और पृथ्वी क देखने से इसी प्रकार की आश्चय पूर्ण भावनाये उत्पन्न हुई। यदि हम किसी पर्वत क नीचे खडे होकर देखे कि उसका शिखर कहा विलीन हो जाता है तो ऐसा लगता है जैसे किसी दैत्य के सम्मुख कोई बौना खडा हो। इतना ही नही एस पर्वत भी हैं जो पूर्णत दुलघ्य हैं जिनको घाटी क निवासी उनको अपने छोट ससार का द्वार मानत हैं। प्रभात सूय चन्द्रमा नक्षत्र पर्वतो स निकलत जान पडते हैं। ऐसा लगता है कि आकाश भी पर्वतो पर ही धरा है और जब हमार नेत्र उच्चतम छत्र शिखरो तक पहुँच जात हैं। तब हम अपने को एक आगे क लोक क द्वार पर पात हैं। और अब हम घनी बस्तियो वाल चपट योरोप की नही, आल्पस पर्वत की भी नही जो हिम मण्डित गरिमा धारण किये है, वरन् इस देश की

सकते वह वास्तव मे नही हैं। यद्यपि व इस पर जोर नहीं देंगे, इसी निश्चयात्मक रूप म, कि यदि कोई पदाथ वास्तव म है तो उसमे सुगन्धि या स्वाद होना चाहिये।

प्रत्यक्ष का अर्थ

इसकी पुष्टि भाषा स भी होती है। जब हम इस बात की पुष्टि करना चाहत हैं कि किसी पदाथ की वास्तविकता पर सन्देह नही किया जा सकता है तो कहत हैं कि वह प्रत्यक्ष है। रोमन लोगो न जब यह विशेषण बनाया था तब वे जानत थे कि इसका अथ क्या है। या इससे उनका अभिप्राय क्या है। उनकी मान्यता के अनुसार इसका अथ था जिस हाथो से स्पर्श किया जा सके या जिस पर हाथो से आघात किया जा सके। 'फेडो' पुराना लेटिन का शब्द था जिसका अथ था आघात करना। 'आफेंडो' या डिफडो' म इसे सुरक्षित रखा गया। हटाना, चोट पहुँचाना, एक व्यक्ति से दूर करना। 'फेल्टस फ्रॅ ड' और 'रम के लिये है। इसी प्रकार 'फस्टिस' 'फास फान्सटिस' और फाइटिस' के लिये है।

इस 'फस्टिस' से फिस्ट' से सम्बन्ध नहीं है।

अङ्गरेजी मे 'एफ' लटिन और ग्रीक की 'पी' का सकेत देता है। इसलिये 'फिस्ट' 'ग्रीक' के शब्द वन्द मुट्ठी के अथ म और लेटिन पग्ना' युद्ध के अथ मे है जिसका अथ प्रारम्भ म मुक्के बाजी था, 'प्यूगिल' का अथ है मुक्के बाज इन शब्दो का मूल लेटिन क्रिया 'पगो' म सुरक्षित है। परिणाम स्वरूप ज्यामिति का अदृश्य विन्दु या अध्यात्म विद्या का सूक्ष्म विचार मुक्केबाजी के अथ द्योतक शब्द से निकला है।

जिस मूल स 'फ्रेन्डे', 'फस्टिस और 'फस्टस' निकले वह दूसरा ही था वह 'धम या हन' है जिनका अथ है मारना चोट पहुचाना, ग्राक मे इसका अथ है आघात करना, हाथ की हथेली स। सस्कृत म 'हन का अथ है मार डालना, निदान मृत्यु आदि।

अब हम उन पदार्थो का देखें जिनको प्राचीन लोग प्रत्यक्ष या वास्तविक कहते थे।

पत्थर, हड्डी, घोघा, वृक्ष, पर्वत, सरिता, पशु या मनुष्य इनको प्रत्यक्ष या वास्तविक कहा जायगा क्योकि इन पर हाथो से आघात किया जा सकता है। वास्तव मे इंद्रियो से ज्ञान स प्रयत्क्ष सब पदाथ उनके लिये सत्य हैं।

इंद्रिय गोचर पदार्थों का दृश्य और अर्द्ध दृश्य मे विभाग—हम इस प्रारम्भिक पुरातन ज्ञान भण्डार को दो भागो मे विभक्त कर सकत हैं। (१) कुछ पदाथ जैसे पत्थर हड्डियाँ, घोघे, फूल रसभरी, काष्ठ शाखायें, पानी क बूदे, मिट्टी के ढेल, पशुओ की

(१) मैथ्यूस इतना प्राफीस आफ इण्डिया'।

बना कर ली हैं इसलिये नहीं कि अब आगे देखने को और कुछ नहीं है बल्कि इस-लिये कि हमारे नेत्र आगे देख नहीं सकते। यह केवल तर्क की बात नहीं है जैसा प्रायः माना जाता है, कि हम जानते हैं कि आगे भी अनन्त द्रव्य है वरन् हम उसके सम्पर्क में आते हैं हम उसे देखते हैं और अनुभव करते हैं। हमारी अनुभूति की सान्त शक्ति का उतना ही निश्चय रूप से हम आगे के संसार की सम्भावना देती है। एक सीमित अनु-भूति हमें सीमा से परे की अनुभूति देती है।

जो तथ्य हमारे सम्मुख है उनका अनुवाद उसी भाषा में होना चाहिये जो ठीक से उन्हें व्यक्त कर सके। हमारे सामने, हमारी इन्द्रियों के सम्मुख दृश्यमान अनन्त है क्योंकि अनन्त केवल वहीं नहीं है जिसकी सीमा नहीं है वरन् हमारे लिए और हमारे प्राचीनतम पूर्वजों के लिये वह ऐसा है जिसकी सीमायें देखी नहीं जा सकती।

अदृश्यमान पदार्थ

अब हम आगे बढ़ते चलें। अर्द्ध दृश्यमान रह जाने वाले पदार्थों की जाँच हो सकती है, यदि आवश्यकता हो, कुछ इन्द्रियाँ उनकी परीक्षा कर सकती हैं। कम से कम, उनका कुछ भाग हमारे हाथों से स्पर्श किया जा सकता है।

किन्तु अब हम एक तीसरे वर्ग की अनुभूतियों की ओर आते हैं जहाँ यह भी असम्भव है हम पदार्थों को देखते हैं, सुनते हैं किन्तु अपने हाथों में आघात नहीं कर सकते, उन्हें व्यवहृत नहीं कर सकते। उनके सम्बन्ध में हमारा क्या विचार है।

यह आश्चर्यजनक जान पड़ता है कि ऐसे पदार्थ हैं जिनको हम देख सकते हैं किन्तु स्पर्श नहीं कर सकते किन्तु यह संसार उनसे भरा हुआ है और इसके अतिरिक्त प्रारंभिक मूल निवासी इस कारण से परेशान नहीं होता था। अधिकांश लोगों के लिये बादल केवल दृश्यमान हैं ठोस पदार्थ की सत्ता उनकी नहीं है। किन्तु यदि, पहाड़ी देशों में विशेष रूप से हमने बादलों की गणना अर्द्ध दृश्यमान अनुभूतियों में की थी तो आकाश है, नक्षत्र हैं, चंद्रमा, और सूर्य है। इनमें किसी का भी स्पर्श नहीं किया जा सकता है। इस तीसरे वर्ग को मैं अदृश्यमान कहूँगा या एक नये शब्द से अस्पृश्य या अग्रहणीय जिसको देखा जा सकता है किन्तु स्पर्श नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से सरलता से हम पदार्थों के तीन वर्ग प्राप्त हो गये। इनको, हम अपनी इन्द्रियों से, अनुभूति तो कर सकते हैं किन्तु वे वास्तविकता के तीन विभिन्न प्रभाव हम पर छोड़ जाते हैं—(१) दृश्यमान (ठोस) पदार्थ—जैसे पत्थर, घोंघे, हड्डियाँ, आदि। इनको धार्मिक पूजा के पदार्थ दार्शनिकों के उस बड़े वर्ग ने मान लिया था जो मूर्ति पूजा को सब धर्मों का प्रथम प्रारंभ समझता है और जिसका कहना है कि धर्म की प्रथम प्रवृत्ति केवल सान्त पदार्थों से हुई है।

निर्माताओं की इन्द्रियाँ काम नहीं दे सकी थी। उन्होंने एक नाम दिया था किन्तु उस नाम के अनुरूप जो वस्तु थी वह सान्त नहीं थी या ऐसे क्षितिज से अपूर्ण नहीं थी जो देखा जा सके वरन् ऐसी कुछ थी जो उस क्षितिज से आगे थी जो कुछ तो दृश्य और प्रत्यक्ष था किन्तु उससे अधिक अदृश्य और अप्रत्यक्ष था।

बहुत पहले आदिम काल के मनुष्य ने जो प्रथम चरण रखे थे वे भले ही लघु चरण जान पड़ते हों परन्तु वे अत्यन्त निर्णायक चरण थे। यदि आप इस पर विचार करें कि वे हमें कहाँ ले जायेंगे। यही लघु चरण, हमें ले जायेंगे हम इसे चाहें या न चाहें सान्त पदार्थों की अनुभूति से, जिन्हें हम यथावत कर सकते हैं—उन पदार्थों की अनुभूति की ओर जो पूर्णतः सान्त नहीं हैं, जिनको उंगलियों से नाप नहीं सकते और न नेत्रों से देख सकते हैं।

प्रारम्भ में ये चरण बहुत ही लघु थे, यह ठीक है। अनन्त और अज्ञात के साथ इन्द्रियों के इस सम्पर्क ने प्रथम प्रवृत्ति और स्थायी दिशा बतायी जो मनुष्य को उच्चतम लक्ष्य बताती है, जिसे वह कभी प्राप्त नहीं कर सकता अनन्त और देवत्व की भावना।

अर्द्ध दृश्य पदार्थ

इस दूसरे वर्ग की अनुभूतियों को मैं अर्द्ध दृश्यमान कहता हूँ जिससे प्रथम वर्ग से उसका भेद समझा जा सके। उसे अपने कार्य में सहायक होने के लिये दृश्यमान पदार्थ का दृश्यमान पदार्थों की अनुभूतियाँ संज्ञा दी जा सकती है।

यह दूसरा वर्ग बहुत विस्तृत है और इस वर्ग की अनुभूतियों में बहुत भेद हैं। उदाहरण के लिये एक पत्थर या छोटा वृक्ष शायद ही इस वर्ग में आवे क्योंकि उनमें शायद ही कोई ऐसी चीज है जो इन्द्रियों की अनुभूति का विषय नहीं हो सकती। दूसरी ओर ऐसे पदार्थ हैं जिनकी गुप्त सत्ता प्रत्यक्ष या दृश्यमान अंश से बहुत अधिक है। उदाहरण के लिये यदि हम पृथ्वी को लें तो यह ठीक है कि हम उसकी अनुभूति प्राप्त करते हैं। उसे स्पर्श कर सकते हैं सूँघ सकते हैं उसका स्वाद जान सकते हैं और उसे देख और सुन सकते हैं। किन्तु हम कभी भी एक थोड़े से अंश से अधिक की अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते और आदिम पुरुष निश्चयतः सम्पूर्ण पृथ्वी की अनुभूति नहीं ही कर सकता था, वह अपने मकान के निकट पृथ्वी देखता है, एक घास का खेत या वन और शायद क्षितिज में पर्वत उसे दिखायी पड़ता है। वह कुल इतना ही देख पाता है। अनन्त विस्तार जो उसके दृश्यमान क्षितिज से आगे है यदि वह तो वह न देख कर ही रखता है या बुद्धि के नेत्रों से देखता है।

यह मन का खेल नहीं है। इस वक्तव्य को हम स्वयं जाँच सकते हैं। जब कभी हम किसी ऊँचे पर्वत या चोटी से अपने चारों ओर देखते हैं तो हमारे नेत्र एक खण्ड से दूसरे खण्ड तक जाते हैं, एक वस्तु से आगे दूसरे को देखते हैं। हम विश्राम लेते हैं,

देखना बन्द कर देते है इसलिये नहीं कि अब आगे देखने को और कुछ नहीं है बल्कि इसलिये कि हमारे नेत्र आगे देख नहीं सकते। यह केवल तर्क की बात नहीं है जैसा प्राय माना जाता है, कि हम जानते है कि आगे भी अनन्त दृश्य है वरन् हम उसके सम्पर्क मे आते है, हम उसे देखते हैं और अनुभव करते है। हमारी अनुभूति की सान्त शक्ति की चेतना ही निश्चय रूप से हमे आगे के ससार की सम्भावना दिखाती है। एक सीमित अनुभूति हमे सीमा से परे की अनुभूति देती है।

जो तथ्य हमारे सम्मुख है उनका अनुवाद उसी भाषा मे होना चाहिये जो ठीक से उन्हे व्यक्त कर सके। हमारे सामने, हमारी इन्द्रियो के सम्मुख दृश्यमान अनन्त है क्योकि अनन्त केवल वही नहीं है जिसकी सीमा नहीं है वरन् हमारे लिये और हमारे प्राचीनतम पूर्वजो के लिये वह ऐसा है जिसकी सीमाये देखी नहीं जा सकती।

अदृश्यमान पदार्थ

अब हम आगे बढते चले। अर्द्ध दृश्यमान कहे जाने वाले पदार्थों की जाच हो सकती है, यदि आवश्यकता हो, कुछ इन्द्रिया उनकी परीक्षा कर सकती है। कम से कम, उनका कुछ भाग हमारे हाथो से स्पर्श किया जा सकता है।

किन्तु अब हम एक तीसरे वर्ग की अनुभूतियो की ओर जाते हैं जहाँ यह भी असम्भव है हम पदार्थों को देखते हैं, सुनते हैं किन्तु अपने हाथो से आघात नहीं कर सकते, उन्हे व्यवहृत नहीं कर सकते। उनके सम्बन्ध मे हमारा क्या विचार है।

यह आश्चर्यजनक जान पडता है कि ऐसे पदार्थ हैं जिनको हम देख सकते हैं किन्तु स्पर्श नहीं कर सकते किन्तु यह ससार उनसे भरा हुआ है और इसके अतिरिक्त, प्रारम्भिक मूल निवासी इस कारण से परेशान नहीं होता था। अधिकाश लोगो के लिये बादल केवल दृश्यमान हैं, ठोस पदार्थ की सत्ता उसकी नहीं है। किन्तु यदि, पहाडी देशो मे विशेष रूप से हमने बादलो की गणना अर्द्ध दृश्यमान अनुभूतियो में की थी तो आकाश है नक्षत्र हैं, चद्रमा, और सूर्य है। इनमे किसी का भी स्पर्श नहीं किया जा सकता है। इस तीसरे वर्ग को मैं अदृश्यमान कहूँगा या एक नये शब्द से अस्पृश्य या अग्रहणीय जिसको देखा जा सकता है किन्तु स्पर्श नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से सरलता से हम पदार्थों के तीन वर्ग प्राप्त हो गये। इनको, हम अपनी इन्द्रियो से, अनुभूति तो कर सकते हैं किन्तु वे वास्तविकता के तीन विभिन्न प्रभाव हम पर छोड जाते हैं—(१) दृश्यमान (ठोस) पदार्थ—जैसे पत्थर, घोंघे, हड्डियाँ, आदि। इनको धार्मिक पूजा के पदार्थ दार्शनिको के उस बडे वर्ग ने मान लिया था जो मूर्ति पूजा को सब धर्मों का प्रथम प्रारभ समझता है और जिसका कहना है कि धर्म की प्रथम प्रवृत्ति केवल सान्त पदार्थों से हुई है।

✓ (२) अद्ध दृश्यमान पदार्थ—जैसे वृक्ष, पवन, सरिताय, समुद्र और पृथ्वी ये पदार्थ सामग्री देन है। अद्ध सत्ता के लिये, मैं यह नाम देना चाहता हूँ। (३) अदृश्यमान पदार्थ जैसे आकाश नक्षत्र सूय, प्रभात और चन्द्रमा। इनमे वे बीजांकुर हैं जिनको मैं आगे देवसत्ता कहूगा।

देवताओ के स्वरूप के सम्बन्ध म प्राचीन पूर्वजो के प्रमाण के पहले हम इस पर विचार कर कि प्राचीन लेखक अपने देवताओ के स्वभाव के सम्बन्ध म क्या विनप्ति देते हैं, उस वे कैसा समझते थे।

एपीकारमान का कहना है कि वायु, जल पृथ्वी सूय अग्नि और नक्षत्र देवता हैं।

✓ प्राडिकोज का कहना है कि प्राचीन पूवज सूय चन्द्रमा सरितायें, झरने और प्रत्येक हितकारी पदाथ को देवता मानते थे। मिश्रवासी नील नदी का देवत्व देते थे। इसलिये रोटी की पूजा डिमीटर के रूप म शराब की डायनिसस के रूप म जल की पासेडन के रूप म और अग्नि की पूजा हेफेस्टज के रूप म होती थी। केसर ने जर्मन लोगो की धार्मिक मान्यताओ के सम्बन्ध म अपनी यह सम्मति दी है कि वे सूय चन्द्रमा और अग्नि की उपासना करते थे।

✓ हिरोडाटस ने ईरानियो के सम्बन्ध मे लिखा है कि वे सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु के लिये बलि देते थे।

✓ सलसस का ईरानियो के सम्बन्ध म कहना है कि वे पर्वत शिखर पर डिस के लिये बलि देते थे। डिस का अथ उनकी भाषा म आकाश का वृत्त। उनका कहना है कि इससे कुछ अन्तर नही पडता है कि हम उसे डिस कहे या 'सर्वोच्च' कहे ज्यास कहे या 'सबाल' या 'अमान' या सीथिया वालो की भाति 'पापा' कहे।

क्रिप्स कर्टियस भारतीयो के धर्म के सम्बन्ध मे यह वर्णन देते हैं 'जिसको वे आदर देने लगे उसे देवता कहने लगे, विशेषत वृक्षो को जिनको क्षति पहुँचाना अपराध है।'

वेदों का प्रमाण

अब हम वेद की पुरानी ऋचाओ पर विचार करें और देखें कि अलेकजेंडर के साथियो द्वारा और उनके उत्तराधिकारियो के द्वारा दिया गया भारतीयो का धर्म वास्तव म क्या था? ऋचायें किस सम्बोधित की गयी हैं। वे वेद गान और ऋचाएं आय साहित्य म मानव कविता के परम पुरातन और श्रेष्ठ अवशेष हैं जो हमारे लिये आज भी सुरक्षित हैं। वे पत्थर या किसी ढेर के लिये सम्बोधित नही है। सरिता, पर्वत, बादल, पृथ्वी, आकाश, प्रभात, सूय को सम्बोधित हैं अर्थात् दृश्यमान पदार्थों को नही या जिन्हें मूर्तियाँ कहते हैं उनको भी नही सम्बोधित हैं।

व उन पदार्थों को सम्बोधित करती हैं जिन्हे हमने अद्ध दृश्यमान या अस्पृश्य कहा है।

यह वास्तव में एक महत्वपूर्ण पुष्टि है और ऐसा है जिसे सौ वर्ष पहले किसी ने देखा भी न होगा क्योकि उस समय किसने यह समझा होगा कि एक दिन हम अलकजेंडर के इतिहासकारो के भारत और भारतीयो के सम्बन्ध मे दिये गये विवरणो की समीक्षा करेंगे। उस समय के दूसरे प्रमाणो से उसे जांचेगे, इतना ही नही, उस साहित्य के द्वारा भी उनका विवेचन करेंगे जो अलेक्जेंडर के भारत आगमन से कम से कम एक हजार वर्ष पूर्व का है।

किन्तु हमें आगे और बढना है। हम भारत के आर्यों की भाषा से यूनान, इटली और बाकी यूरोप के आर्यों की भाषा से तुलना करनी है। इससे हम उस भाषा के कुछ अशो का पुनर्निर्माण कर सकेंगे जो आर्य परिवार के विभिन्न सदस्यो के अलग होने के पहले बोली जाती थी।

अविभाजित आर्य भाषा का प्रमाण

प्राचीन आर्य सरिता, पर्वत, पृथ्वी, आकाश, प्रभात और सूर्य के सम्बन्ध में क्या सोचते थे और जो कुछ वे देखते थे उससे क्या धारणा बनाते थे, इसका पता यहाँ, कुछ अशो मे, उनके दिये हुए नामो से लग सकता है। उन्होने उनमे कुछ क्रियाओ के रूप देखे जिनसे वे परिचित थे और नामकरण किया जैसे आघात करना, ढकेलना, रगडना, नापना, जोडना आदि। प्रारम्भ से ही इनके लिये स्वतः प्रसूत स्वर थे। यही स्वर धीरे धीरे भाषा विज्ञान के शब्दो मे मूल शब्द बन गये।

अब जहाँ तक मैं समझ सकता हूँ यही सब भाषाओ की और विचारो की उत्पत्ति है। इसको स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित करना विभिन्न सिद्धान्तो से अविचलित होकर और बडे अधिकारियो की सम्मतियो के अन्यथा होने पर भी—'नोएरे' के दर्शन की विशेषता है।

भाषा की उत्पत्ति

पहले पहल कार्य से भाषा फूटती है। कुछ सरलतम कार्यों के साथ ही जैसे आघात करना, रगडना, ढकेलना, फेंकना, काटना, जोडना, नापना, जोतना, बुनना आदि उस समय जैसा अब भी है कुछ स्वतः निसृत ध्वनियाँ होती थी जो पहले बहुत अस्पष्ट और विभिन्न होती थी किन्तु धीरे धीरे उनका निश्चित रूप हो जाता था। पहले ये ध्वनियाँ कार्यों से सम्बन्धित होती थी जैसे मर (१) ध्वनि घिसने की, पत्थरो को सुडौल बनाने की हथियारो को तेज करने की, क्रिया के साथ रहती थी। इसके अतिरिक्त बोलने वाले का या दूसरो को याद दिलाने का और कोई उद्देश्य नही होता था शीघ्र ही यह ध्वनि 'मर' या मार एक सकेत बनती थी जैसे पिता अपने पुत्र को सकेत करता था कि वह काम पर जा रहा है, कुछ पत्थरो के अस्त्रो को स्वयं घिसने और उनका चिक-

(१) 'सकचस आन सायस आफ रिलोजन' खड २५ ३४७ देखिये।

जाने । इसका उच्चारण बिना मूल क एक निश्चित स्वर म होता था । इसके साथ ही कुछ साकेतिक क्रियाये होती थी, इस सकत का स्पष्ट अर्थ होता था कि पिता अपने पुत्र और सेवको को आलस्य म पडे नही देखना चाहता था जब वह स्वय काम करता था । 'मार' शब्द आना सूचक हो गया । यह पूर्ण रूप से समझ म आ जायगा क्योकि हमारी मान्यता क अनुसार यह प्रारम्भ से ही प्रयुक्त हुआ था, एक व्यक्ति द्वारा नहीं वरन् अनेक व्यक्तियो द्वारा जब व एक ही काम म लगे थे ।

कुछ समय बाद एक कदम और प्रगति हुई होगी एक नइ बात हुई होगी । मार शब्द केवल आना दन के लिये ही उपयोगी न रहा होगा जो स्वय को और दूसरो को भी काम का सकेत करता होगा ('मार' का अर्थ हैं, आओ काम करे) वरन और विस्तृत अर्थ म लिया गया होगा जस एक स्थान से दूसरे स्थान को पत्थरो को ले जाना यदि आवश्यक हुआ, उनको तेज करने क लिये, समुद्र तट से किसी गुफा मे खडिया मिट्टी क गड्ढे स मधुमक्खी क छत्ते तक ले जाने के लिये तो 'मस शब्द का अर्थ होता था न केवल पत्थर जिनका तज करन क लिये एकत्र किया गया था, वरन् वे पत्थर भी जिनसे पत्थर तोडे गये थे, तेज किये गय थे और चिकने किये गये थे ।

इस प्रकार 'मर' शब्द आज्ञा का सूचक बना जो केवल कार्य तक ही सीमित नही रह गया । स्पष्ट रूप स उसका सम्बन्ध काय क विभिन्न पदार्थो स भी हो गया ।

मर ध्वनि की शक्ति का यह विस्तार तुरन्त भ्रम उत्पन्न कर सकता है । इस भ्रम को दूर करन के लिये सतर्कता की आवश्यकता है ।

यदि आवश्यक हो कि 'मर जिसका अर्थ है अपने पत्थर घिसे और मा' अब पत्थरो को घिसना है—इन दो अर्थो में विभेद करना है तो वह दूसरी तरह से हो सकता है । सबसे सरल और आदिम तरीका था ध्वनि का परिवर्तन कर देना, कठ के स्वर मे मंद करके । चीनी और दूसरी एक अक्षर समूह वाली भाषाओ म यह मिलता है । उनमे वही ध्वनि अनेक स्वरो मे उच्चरित्र होकर विभिन्न अर्थ रखती है ।

दूसरा एसा ही स्वाभाविक तरीका था प्रदर्शक या साकेतिक चिह्नो का प्रयोग करना जिन्हे मर एसी ध्वनियो मे जोड देना था । इससे भेद स्पष्ट होता था । उदाहरण क लिय यहाँ रगडना' अर्थ देगा वह मनुष्य जो रगडता है और वहाँ रगडना का अर्थ होता वह पत्थर जो रगडा जा रहा है ।

यह बहुत साधारण कार्य जान पडता है किन्तु इसी कार्य से मनुष्य को कर्त्ता और कर्म म अन्तर की चेतना प्राप्त हुई । इतना ही नही, एक कार्य कर्त्ता और निष्पन्न कार्य की अनुभूतियो के अतिरिक्त भी उसके मन म कार्य करने की अनुभूति एक काय के रूप म रह गयी जिसका विभेद काय के कर्त्ता और कर्म या परिणाम से किया जा सकता था । अनुभूतियों की ध्वनियो के बाद यही आवश्यक चरण धारणाओं को प्रकट करने

वाली ध्वनिया का था जिसका स्पष्टीकरण कोई नही दे सका है किन्तु 'नो एर न अपने दर्शन मे इसे पूर्ण रूप से समझाया है। जो ध्वनियाँ बार बार काय करने के साथ होती हैं वे बार बार होने वाल उद्योग हैं जिन्ह एकत्र कर दिया गया है। उच्चारण द्वारा जब इन ध्वनियो मे भेद कर दिया जाता है जिससे कार्य कर्त्ता का बोध हो, साधन, स्थान समय, या काय के उद्देश्य का बोध हो तब इन शब्दो म शामिल अश न कम न अधिक उतना ही होता है जिसे हम मूल कहत हैं। उच्चारण के ढङ्ग पर उसका रूप निश्चित होता है। वह साधारण कार्य का प्रकट करता है इसलिये उस धारणात्मक कह सकत हैं।

वास्तव म ये विचार भाषा विज्ञान के क्षेत्र के हैं फिर भी धर्म के विज्ञान पर विचार करते समय हम इन्हे छोड नही सकत थे।

प्राचीन धारणायें

यदि हम यह जानने की चेष्टा करे कि, उदाहरण के लिये, प्राचीन पुरुष जब सरिता की बात करते थे तो उसस वे क्या समझते थे, तो उत्तर बिल्कुल सीधा है कि वे उसे वही समझते थे जो उसे कहत थ और हम जानते हैं कि अनेक प्रकार से वे उस बहने वाली सरित, या शब्द करने वाली नदा या धुनी कहते थे। यदि वह सीधी रेखा म बहती था तो शिरा कहते थे। हल या हल चलाने वाला, शर यानी बाण कहते थे। यदि वह खेतो को खाद देती थी तो 'मा' कहते थे। यदि वह एक देश को दूसरे देश से बचाती थी तो सिन्धु कहते थे जिसका अर्थ है दूर रखना और मूल है सिध, सेधाति। इन सब नामो म सरिता को धारणा काय करने के रूप मे है जसे मनुष्य दौडता है उसी प्रकार सरिता भी दौडती है। जैसे मनुष्य चिल्लाता है वैसे ही नदी भी चिल्लाती है। मनुष्य जिस प्रकार हल चलाता है सरिता भी सीधे बहती है, स्थान बनाती है। मनुष्य जस रक्षा करता है, सरिता भी रक्षा करती है। पहले सरिता को हल नही कहा उसे हल चलाने वाला कहा गया। इतना ही नही, हल को भी बहुत समय तक एक कार्य कर्त्ता माना गया, केवल एक यन्त्र ही नही।

हल विभाजक है, फाडने वाला, वृक, भेडिया और इस प्रकार एक ही नाम से *पुकारा जाता है जिसका अर्थ रोध या भेडिया भी होता है।* (१)

प्रत्येक पदार्थ कार्य कारक

हम इस प्रकार समझना सीखते हैं कि सम्पूर्ण ससार जो आदिम पुरुष के चतुर्दिक था उसमें समाया हुआ था, उस वह पचा रहा था। वह अपने कार्यों के समान ही सर्वत्र काय खोजता था और इन कार्यों से जो ध्वनियाँ निकलती थी उनको अपने चतुर्दिक के ससार को देता था।

---

(१) वेद मे वृक भेडिया और हल दानो के अर्थ मे है।

भाषा के इस गहन गर्त मे उनके बीजाकुर छिपे हैं जिनको वाद मे रूपक, पशुवाद, बहुदेववाद, पुरातनवाद आदि कहा गया है, यहाँ हम उनकी आवश्यकता स्वीकार करते हैं, भाषा और विचार की आवश्यकता। वह नही जो बाद को समझे गये स्वतन्त्र, काव्यात्मक धारणायें। उस समय जब वह पत्थर भी जिसे उसने तेज किया था उसका सहायक कहा जाता था, काटने वाला, केवल कुछ साधन ही न्हो, नापने का दण्ड मापक, हल फाडने वालाजहाज उडने वाला, या एक पक्षी ऐसी स्थिति म नदी का वेगवती शब्द करने वाली कहना, पर्वत को रक्षक मानना और चन्द्रमा को मापक कहना ठीक ही था। चन्द्रमा ऐसा जान पडता था कि अपनी प्रति दिवस की कला से आकाश को नाप रहा है और इस प्रकार प्रतिमास को नापने म मनुष्य की सहायता कर रहा है। मनुष्य और चन्द्रमा साथ साथ काम करते थे साथ साथ नाप करते थे। खेत या लट्ठे की नाप करने वाले मनुष्य को मापक कहा जाता था। मास मा से निकला है जिसका अर्थ है नापना, बनाना। चन्द्रमा को मास कहा जाता था। सस्कृत मे उसका यही नाम है जो ग्रीक लेटिन के 'म्योसिस' और अङ्गरेजी के 'मून' से सम्बन्धित है।

भाषा के ये सरलतम और अवश्यम्भावी चरण हैं। इनका भली भाँति समझा जा सकता है इनके सम्बन्ध मे भ्रम चाहे जितना रहा हो। हमे केवल सावधानी से मनुष्य की भाषा और विचारो के विकास को धीरे धीरे समझना होगा।

क्रियाशील का अर्थ मानवीय नहीं

चूकि चन्द्रमा को मापक या एक कलाकार कहा गया है इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि भाषाओं के प्राचीन निर्माता एक मनुष्य मे और चन्द्रमा मे कोई अन्तर नही देखते थे। इसमे सन्देह नही है कि प्रारम्भिक पुरुष हमारे विचारो से भिन्न अपने विचार रखते थे किन्तु हम यह बात एक क्षण के लिये भी नही मानना चाहिये कि वे मूर्ख थे। वे अपने कार्यों मे और सरिता के कार्यों म एक समानता देखते थे पर्वत, आकाश और चन्द्रमा मे भी उनको अपने कार्यों के समान कार्य दिखायी देते थे और वे उनको उन कार्यो के सदृश नामो से पुकारते थे इसलिये यह मान लेना कि वे मनुष्य म और चन्द्रमा मे जिनके नाम एक ही थे (मापक) कोई अन्तर नहीं समझते थे ठीक नही है। सच्ची माता और सरिता माता का अन्तर वे समझते थे।

जब प्रत्येक ज्ञात वस्तु का नामकरण करना था और उसे क्रियाशील मानना था, और क्रियाशील होने के साथ ही उसे व्यक्तिगत समझना था, जब एक पत्थर को काटने वाला कहा जाता था एक दाँत को पीसने वाला या खाने वाला कहा जाता था तब इसमे सन्देह नहीं है कि चन्द्रमा और मापक म अन्तर समझना और शब्दो को व्यक्तिगत रूप से बचाने म पर्याप्त कठिनाई थी। शब्दो को नपुंसक लिङ्ग करने म बडी बाधा थी। नपुंसक सज्ञाए बनाने मे वास्तव म बडी अडचन थी।

स्पष्ट रूप से औजार का हाथ से अलग करके समझना और मनुष्य से हाथ की धारणा पृथक करना बहुत कठिन था, एक पत्थर का भी यह समझना कि वह केवल एक पदार्थ है जो केवल पैर के नीचे कुचला जाता है बहुत ही दुरूह था। इसके विपरीत उनके रूपक बनाने में जीवधारी समझने में और व्यक्तिगत रूप देने में कोई भी बाधा नहीं थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि, हमारे प्रयोजन के लिये, व्यक्तिगत रूप देने की समस्या, जिसने इसके पूर्व के धर्म और पुराण पथ के विद्वानों को बहुत कष्ट दिया, बिल्कुल उलटी है। अब हमारी समस्या यह नहीं है कि भाषा में व्यक्तिगत रूप कैसे आये किन्तु यह है कि भाषा व्यक्तिगत रूपों को हटाने में कैसे सफल हुई।

व्याकरण के लिङ्ग

प्रायः यह मान लिया गया है कि व्याकरण के लिंग, व्यक्तिगत रूप देने के कारण थे। यह कारण नहीं है, परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं है कि जिन भाषाओं में व्याकरण के लिङ्गों का अन्तर पूर्णत हो चुका है, विशेषत इन भाषाओं के परवर्ती काल में, उनमें कवियों को व्यक्तिगत रूप देने में सुविधा मिलती है। किन्तु हम यहाँ पर पूर्ववर्ती काल की बात कर रहे हैं। इतना ही नहीं, यौन वर्णन वाली भाषाओं में भी, एक ऐसा समय था जब यौन वर्णन, स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग बताया था ही नहीं। आर्य भाषाओं में, जिन्होंने बाद को व्याकरण के लिङ्गों की प्रणाली पूर्णत विकसित की, कुछ प्राचीनतम शब्द बिना लिङ्ग के हैं। 'पैटर' (पिता) पुलिङ्ग नहीं है और 'मैटर' (माता) स्त्रीलिंग नहीं है और न सरिता, पर्वत वृक्ष या आकाश ऐसे शब्द व्याकरण के लिंग का कोई स्पष्ट लक्षण प्रकट करते हैं। किन्तु लिंग के चिह्नों के न होने पर भी सब प्राचीन सनाये कार्यों की अभिव्यक्ति करती थी।

भाषा की उस अवस्था में किसी भी पदार्थ की बात कहना असम्भव था जो क्रियाशील न हो या व्यक्तिगत न हो। प्रत्येक नाम का अर्थ होता था कुछ क्रियाशील। यदि काल्क्स (१) एड़ी का अर्थ था ठोकर मारने वाला तो 'काल्क्स' का अर्थ पत्थर भी यही व्यंजना देता था। उसके नामकरण का और कोई उपाय नहीं था। यदि ऐड़ी पत्थर को ठोकर मारती थी तो पत्थर भी एड़ी को ठोकर देता था। वे दोनों 'काल्क्स' थे। 'वि' वेद में पक्षी है उड़ने वाला, इसी शब्द का अर्थ है तीर। युद्ध का अर्थ था लड़ने वाला, अस्त्र और युद्ध।

एक बड़ा चरण तब पड़ा जब यह सम्भव हो गया कि वाह्य चिह्नों से यहाँ मारा और 'वहाँ मारो' में 'मारने वाले' में और मार गये में और अन्त में जड़ और चेतन में अन्तर जाना जाय। अनेक भाषायें इसके आगे नहीं बढ़ीं। आर्य भाषाओं

(१) 'काल्क्स' कल, से ऐड़ी पुराना 'हेल', 'कलकल्स' कलकुलरे आदि।

मे एक चरण आगे का यह था कि चेतन म स्त्री और पुरुष का अतर जाना जाय। इस अन्तर का प्रारम्भ पुरुष सज्ञाओ के प्रयोग स नही हुआ किन्तु स्त्रीलिगो के साथ हुआ। स्त्रियो के लिये कुछ अक्षर आगे जोडने के लिये निश्चित कर दिये गये। इस प्रकार दूसरे सब शब्द पुल्लिग हो गये कुछ समय बाद कुछ शब्दो के रूप अलग कर दिये गये जिनको नपुसक लिंग माना गया। जो न पुल्लिग थे, न स्त्रीलिग साधारण तथा कर्त्ता और करण कारक मे थे।

इसलिये व्याकरण का लिग यद्यपि काव्यात्मक पुराण बाद की क्रिया मे आग बहुत सहायक होता है, वास्तविक उद्देश्य की शक्ति नहा है। यह उद्देश्य शक्ति भाषा और विचार क स्वरूप मे हो निहित हैं। मनुष्य अपने कार्यों के लिये बोलन के सकेत जानता है, वह इसी प्रकार के काय वाह्य जगत म देखता है, उन्हे ग्रहण करता है, उन पर अधिकार करता है और अपने वाह्य जगत के विभिन्न पदार्थों को धारणा करता हैं, इन्ही बोलने के चिन्हो द्वारा। पहले वह स्वप्न मे भी यह विचार नही करता है कि चूकि सरिता को रक्षक माना गया हैं कहा गया है इस लिये सरिता के पैर हैं और रक्षा के अस्त्र हैं या चन्द्रमा कलाकार (बढइ) कलानिधि है क्योकि वह आकाश को नापता है। आगे चलकर इस प्रकार का क्रम उत्पन्न होगा। इस समय तो हम विचार के कुछ निम्न स्तर पर चल रहे हैं।

सहायक क्रियाएँ

हमारी कल्पना है कि वाक्या के बिना भाषा असम्भव है और वाक्य बिना शब्द पुञ्ज के असम्भव है। यह विचार ठीक भी है और गलत भी यदि वाक्य स तात्पर्य है एक आशय को प्रकट करने वाली बात तब यह ठाक है यदि हमारा तात्पय है अनेक शब्दो की उक्ति, कर्त्ता कर्म आदि तब यह गलत है। केवल आता एक वाक्य है। क्रिया का प्रत्येक रूप एक वाक्य हो सकता है। जिसे हम आज कल सना कहते हैं पहल वह एक प्रकार का वाक्य था जिससे मूल और कुछ बाद मे जुडने वाले अक्षर थ जो बतलात थ कि वह मूल किसका था। और फिर जब एक कर्त्ता और क्रिया होती है तब हम कहते हैं वह समझ मे आता है किन्तु सत्य यह है कि पहले वह स्पष्ट नही होता था उसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नही समझी जाती था। इतना हा नहो आदिम भाषाओ मे उसे व्यक्त करना असम्भव था।

वर वोनस' क स्थान पर वर एस्ट वानम कहने की सामर्थ्य रखना, मनुष्य की बाली की एक नूतनतम उपलब्धि है।

हमने यह देख लिया कि पुरान आय लागा को किसी भी वस्तु का क्रियाशील क अतिरिक्त और कुछ सोचने म और बोलन म कठिनाइ जान पडती थी। इमी प्रकार की कठिनाइयो पर उन्हे विजय पाना था जब उनका कवल यह कहना था एक पदाथ

है या था। पहले वह इस विचार को व्यक्त करते थे और कहते कि अमुक पदार्थ ने कार्य किया जो वे स्वयं करते थे। सांस लेने का कार्य सब मनुष्यों में साधारण रूप से समझा जाता था और इस प्रकार जहाँ हम कहते हैं कि पदार्थ हैं वे कहते थे कि पदार्थ सांस लेते है।

अस्, सांस लेना

मूल अस अब भी 'ही इज' मे हैं। यह बहुत प्राचीन मूल है। आर्यों के विभाजन के पहले यह सूक्ष्म रूप मे था। फिर भी हम जानते हैं कि अस का अर्थ पहले सांस लेना था, बाद मे उसका अर्थ हुआ होना। अस, (सांस लेना) से निकले सरलतम तथा असु संस्कृत में सांस सम्भवत इसी से असुर निकला जिसका अर्थ है सांस लेने वाले जीवित रहने वाले जो हैं और अन्त मे प्राचीनतम जीवित देवताओ के लिये वैदिक असुर। (१)

भू, बढना

जब मूल अस, सांस लेना, असुविधाजनक जान पडा तब उदाहरण के लिये वृक्षों के लिये और दूसरे ऐसे पदार्थों के लिये जो स्पष्टत सांस नही लेते जान पडते हैं तब दूसरा मूल भू लिया गया जिसका अर्थ प्रारम्भ मे बढना था। ग्रीक मे और अङ्गरेजी भाषा के 'टुबी' में भी। वह केवल पशु जगत पर ही लागू नही था वरन् वनस्पति संसार पर भी लागू था, प्रत्येक बढती वस्तु पर। स्वयं पृथ्वी भू, बढने वाली, कही जाती थी—

वास, रहना

अन्त में जब इससे अधिक की धारणा आवश्यक प्रतीत हुई तब तक 'वस' या वास' मूल को लिया गया। प्रारम्भ में इसका अर्थ का बसना, निवास करना। संस्कृत मे 'वास्तु'—मकान के अर्थ मे, ग्रीक मे नगर के अर्थ में और अङ्गरेजी में अब भी चला आ रहा है 'आई वाज' के रूप में। इस उन सब वस्तुओ के लिये प्रयुक्त किया जा सकता था जो 'सांस लेने' की या 'बढ़ने' की प्रवृत्ति में नही आते हैं। अव्यक्तिक और मृतक के लिए अभिव्यक्ति का यह पहला तरीका था। वास्तव में पुंल्लिंग स्त्रीलिंग और

(१) संस्कृत मे असु जंद मे आहु है। अवस्ता में इसका अर्थ है अन्तरात्मा और संसार (देखिये डरम्सोटर आमजद एट अन्हरमन ८,४७) जेन्द मे आहु स्वामी के अर्थ में भी है किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि अहुर मज्दा में अहुर का अर्थ है स्वामी और र अक्षर को आगे जो जोडने से यह लगा था। जेन्द में आहु के दो अर्थ हो सकते थे। सांस और स्वामी। जैसा कि रनु के समान में हुआ आना और आना देने वाला। किन्तु संस्कृत में असुर का अर्थ स्वामी लगाना क्योंकि वेद में आहु इसी अर्थ में प्रयुक्त है, ठीक नही माना जा सकता।

नपुसक लिग की सज्ञाओ के निर्माण मे और इन तीन सहायक क्रियाओ के प्रचलन मे कुछ समानता है।

प्रारम्भिक अभिव्यक्ति

अब हम इन विचारो को उस तरीके पर लागू करे जिससे प्राचीन आर्य वक्ता सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, पर्वत और सरिताओ के सम्बन्ध मे कुछ कह सकते थे। जब हमे कहना चाहिये कि चन्द्रमा है, सूर्य कहाँ है, वर्षा होती है वायु चलती है तब केवल यही सोचते थे और कहते थे, सूर्य सास लेता है सूर्यो अस्ति, चन्द्रमा बढता है या भवति, पृथ्वी रहती है, भूर्वसति, वायु बहती है, वायुर्वहति, वर्षा होती है इन्द्र उनत्ति या वृह वर्षति, या सोम सुनीति।

यहाँ पर हम प्राचीनतम प्रयत्नो का वर्णन कर रहे हैं जिनके द्वारा प्रकृति की लीला समझी जाती थी और व्यक्त की जाती थी, प्रकृति की लीला जो मनुष्य की आखो के सामने हो रही थी।

हम केवल संस्कृत का उद्धरण भाषा सम्बन्धी विकास क्रम को स्पष्ट करने के लिये दे रहे हैं। धारणाओ ने अभिव्यक्ति का निर्णय कैसे किया, अनेक अभिव्यक्तियो ने, परम्परा मे आने पर धारणाओ पर क्या प्रतिक्रिया छोडी, इस क्रिया और प्रतिक्रिया से आवश्यकतावश कैसे प्राचीन पुराणनम् का जन्म हुआ ये सब समस्याए हैं जिनका विचार अगले के चरण मे समाधान करना है। इस समय हम इसके लिये यहाँ न रुकेंगे। एक बात पर मुझे जोर देना है। प्राचीन आर्य सूर्य को उन नामो से पुकारते थे जो अनेक क्रियाओ की अभिव्यक्ति करते थे, उसे प्रकाशदाता कहते थे अन्नदाता कहते थे। चन्द्रमा को मापक (बढई) कहते थे ऊष्ण को जाग्रत करने वाली कहते थे, मेघ को गरजने वाला। बादल को जल बर्षाकार कहते थे अग्नि को शीघ्र दौडने वाली कहते थे।

इसलिये हमको यह नही मान लेना चाहिये कि वे इनको मनुष्य या जीवित प्राणी समझते थे जिनके हाथ पैर होते हैं। उनका अभिप्राय कभी यह नही था कि सूर्य मनुष्य था या कम से कम कोई पशु या जिसके मुख और फेफडे होते हैं जिनसे वह सांस लेता है। हमारे पूर्वज चाहे आज की तरह सस्कृत और सभ्य न रहे हो किन्तु वे मूर्ख नही थे और न कवि थे। जब वे यह कहते थे कि सूर्य या अन्नदाता सास लेता है तब उनका यही अभिप्राय होता था कि वह क्रियाशील है उठते हैं और कार्यलीन हैं, आगे बढ़ रहा है हम सब की भाँति ही। इससे अधिक कोई भी अभिप्राय नही होता था। प्राचीन आर्य तब तक चन्द्रमा मे दो आँखें नही देखते थे नाक, मुख भी नही देखते थे और न वे वायु को अनेक मोटे गाल वाला छोकरियाँ समझते थे जो आकाश के चारों कोनो से वायु के झोके निकालती थी।

यह सब धीरे धीरे आयेगा किन्तु मनुष्य के विचारो के उन पुराने दिनो म यह नही था, इतना निश्चित है।

समानता की धारणा प्रारम्भ मे नकारात्मक

जिम काल की बाते हम कर रहे हैं, उस काल मे मेरा विश्वास है कि हमारे पूवज आय पदार्थों को जोवित मानना, व्यक्तिगत रूप दना या उनको मानवीय रूप देना ठीक नहा समभत थ। इतनी ही बात नही थो जिनका हमने अद्धदृश्यमान या अदृश्य-मान कहा है। उनमे और अपने म जो अन्तर वे समभते थे वह काल्पनिक समानता स चहुत अधिक था।

इम सिद्धात की एक विचित्र पुष्टि हम वेद मे सुरक्षित मिलती है। जिस हम तुलना कहत हैं। वह अब भी वद की अनेक ऋचाओ म नकारात्मक है। जैसा हम कहते हैं, 'चट्टान की तरह दृढ न कह कर वे कहत थे दृढ, एक चट्टान नही (१) इसका यह अर्थ है कि असमानता पर जोर दते थ जिससे समानता का अनुभव किया जा सके। वे ईश्वर की प्रशसा को ऋचा समर्पित करते हैं, मीठा भोजन नही। (२) इसका अथ हुआ जैसे वह मीठा भोजन हो। सरिता का नाद करने वाली कहा गया है, एक बैल नही अर्थात् एक बैल के समान, और मारुत, (३) वायु देवता को अपने उपासको को अपनी वाहा पर लिये कहा गया है 'एक पिता पुत्र नही अथात् उसी प्रकार जैसे पिता अपने पुत्र का वाहा पर ले जाता है।

इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा को निश्चय ही चलत हुये कहा गया है किन्तु पशुओ का भांति नही, नदियाँ नाद करती थी, युद्ध करती थी, किन्तु वे मनुष्य नही थी। पर्वत दृढ और अचल थे, उनको फेंका नहा जा सकता था किन्तु वे योद्धा नही थे। अग्नि वन को खाती थी फिर भी वह सिंह नहा थी।

वेद क ऐसे पदो का अनुवाद करने म हम न तो समान के अर्थ म लेते हैं किन्तु इसे समभ लेना आवश्यक है कि स्वय कवि पहल इस असमानता से यदि अधिक नही तो उतने ही प्रभावित हुये थे जितने कि समानता से।

स्थायी विशेषण

प्रकृति के इन विभिन्न पदार्थों का वणन करने मे, जिनकी ओर उनका ध्यान बहुत

(१) ऋग्वेद, १, ५२, शब्द पर्वत न अच्युत १,६४७ गिरय नस्वतवस। न शब्द के बाद रक्खा गया है जा तुलना का काम करता है प्रारम्भिक धारणा थी 'वह एक चट्टान नही।' वह नितान्त चट्टान नही, कुछ अश तक चट्टान।

(२) ऋग्वेद १, की, ६१।

(३) ऋग्वेद, १, ३८, १।

पहल हो गया था कविगण दूसरे न न को अप रा कुछ निश्चित न म का प्रमाग अधिक करते थ । कुछ विशेपण उनको अधिक प्रिय थ । प्रकृति क म पदाथ एक दूसरे स भिन्न थे किन्तु उनम कुछ विशेषताए थी जो समान थी । इसलिय उनका समान नाम से हो पुकारा जा सकता था । बाद को इनका एक वग बन गया । एक विशेषण अनेक पदार्थों का द्योतक होता था । इस प्रकार यह नया सिद्धान्त बना । यह सब सम्भव था अब हम देखना है कि यह कैसे घटित हुआ ।

हम वेदो मे पाते हैं कि जो ऋचाए मुर्तिमान है व प्राचीन भारतीय धर्म शास्त्रियो के मतानुसार कुछ निश्चित देवताओं का सम्बोधित करता हैं । किन्तु ऋचाओ और म त्रो म भी देवता का अथ कभी यह नही लिया गया है । उस समय तक देवता की कल्पना नही की गयी थी । पुराने हिन्दू टीकाकार भी मानते हैं कि देवता का अर्थ केवल यही है कि जिनको ऋचाए सम्बोधित की गयी हैं वही देवता है । ऋचाओ का सम्बोधित पदार्थ देवता है और सम्बोधन कर्त्ता ऋषि या द्रष्टा है जो किसी ऋचा या मत्र को किसी क लिय सम्बोधित करता है । इस प्रकार वलि पशु को बलि-पात्र रथ, युद्ध की कुल्हाडी और ढाल आदि को भी देवता कहा गया है । ऋचाओ म अनेक वार्त्तालाप हैं उनम बोलने वाले को ऋषि और सुनने वाले को देवता कहा गया है ।

देवता एक विशेष नाम हो गया है । स्थानीय धम शास्त्रियो के मतानुसार उसका अर्थ प्रतिपादित विषय के अतिरिक्त और कुछ नही है । यद्यपि अभी तक सूक्ष्म शब्द देवता ऋग्वेद की ऋचाओ मे नही आया है हम देखते हैं कि अधिकांश पदाथ जिनका वर्णन हुआ है देव कहे जात थ । यदि यूनान वासी इसका अनुवाद करते तो ईश्वर क अथ मे लेते । जब हम यह प्रश्न करते हैं कि वैदिक ऋषि इस किस अथ म लेते थे तो देखते हैं कि वह अर्थ यूनानी या अङ्गरेजी शब्द 'गाड' से भिन्न था । वेद म, ब्राह्मण आरण्यक और सूत्रो म इस शब्द का अथ बदलता रहता है, बढता रहता है । देव का सच्चा अर्थ उसका इतिहास हैं उसकी व्युत्पत्ति और अन्तिम परिभाषा । देव, दिव धातु से पहले प्रकाशमान के अर्थ मे प्रयुक्त होता था । शब्द-कोषो म इसका अर्थ ईश्वर या दैवी पवित्र किया गया है ।

किन्तु वेदो का अनुवाद करने मे हम देव को थीस या ईश्वर कहेंगे तो हजार वर्षों की भ्रान्ति मानसिक अयथार्थता उत्पन्न करेगे । जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं उस काल म ईश्वर या देवता का अस्तित्व नही था वे धीरे धीरे अस्तित्व मे आ रहे थे देवता और उनकी धारणा विकास के प्रथम चरण से होकर गुजर रही था । सृष्टि के पदार्थों पर विचार करने हुये मनुष्य एक-एक चरण स ईश्वर की ओर बढ़ रहे थे । वैदिक ऋचाओ का वास्तविक महत्व यही है । होनिषद से, हमे देव-शास्त्र का विगत इतिहास मिलता है । वेदो मे हम देव शास्त्र का ही प्रारभ पाते हैं देवताओ का जन्म

और विकास, अर्थात दवताओ के लिये प्रथम शब्दो का जन्म और विकास । बाद की ऋचाओ मे हम देखत हैं कि इन दैवी धारणाओ का विकास किन रूपो म सम्पन्न हुआ ।

वेद मे केवल देव शब्द ही एसा नही है जिससे प्रारम्भ मे ऐसे गुणो का वर्णन होता था । जो अनेक पदार्थों म थ जिनका ऋषि गण वर्णन करते थे और जो बाद मे देवता क लिये प्रयुक्त होन लगा । वेद म वर्णित अनेक दवताओ का नाम वसु भी था । इसका भी अर्थ प्रारम्भ म प्रकाशमान ही था ।

प्राचीन कवियो क मन म इनम स कुछ पदार्थों ने अपरिवतनशील और अजर की भावना उत्पन्न की । प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जाती थी, धूल म मिल जाती थी फिर भी कुछ पदार्थ अक्षय, अजर जान पडत थ । इसीलिये वे उन्हे अमृत अजर, अमर, अपरिवर्तन शील कहत थे ।

जब इस विचार का व्यक्त करना होता था कि सूर्य या आकाश एसे पदार्थ केवल अपरिवतन शील अजर अमर ही नही थ जब कि दूसर सब पदार्थ, पशु और मनुष्य भी परिवतनशील थ क्षय होन वाले थ, और मरणशील थ, वरन् उनका अपना वास्तविक जीवन था, तब असुर शब्द का प्रयोग होता था जो, निस्सन्देह, असु, (सास) से निकला है । देव शब्द, अपनी उत्पत्ति क लक्षण के कारण, केवल प्रकाशमान के अर्थ म ही सीमित था । उसका प्रयोग प्रकृति की दयालु स्वरूप मे भी होता था किन्तु असुर शब्द क प्रयोग म कोई बाधा नही थी । इसलिये वस्तुत प्राचीनकाल से उसका प्रयोग दयालु के अर्थ म होता था और प्रकृति की दुष्ट शक्तियो के लिये भी होता था । असुर शब्द म जिसका अर्थ प्रारम्भ म श्वास-सपन्न था और बाद का ईश्वर हुआ, हम बाद के धर्मों म वर्णित पशु वाद का पहला प्रयत्न पहिचान सकत हैं ।

दूसरा विशेषण ईषिर (१) प्रारम्भ म असुर के समान ही अर्थ रखता था । 'इष' मूल स निकला यह विशेषण शक्ति शीघ्रता, जीवन क अर्थ म प्रयुक्त हुआ । अनेक वैदिक दवताओ क लिय इसका प्रयोग होता था । विशेषत इन्द्र अग्नि अश्विन, मरुत, आदित्य आदि क लिय साथ ही वायु रथ और मस्तिष्क क लिये भी इसका प्रयोग होता था । इसका प्रारम्भिक आशय शीघ्र और जीवन-पूर्ण यूनानी भाषा क तत्सम शब्द मे मिलता है और उसी भाषा म इसका सामान्य अर्थ पवित्र दैव भी है । इसका कारण सस्कृत म असुर का अर्थ दवता होने के समान है ।

वैदिक देवताओं म दृश्यमान पदार्थ

१ अब हम पुन पदार्थों क तीन वर्गों पर विचार करत हैं, प्रथम दृश्यमान का हम ऋग्वेद क दवताओ म नही पात हैं । पत्थर, हड्डियो, घाव, वनस्पतियाँ, और इसी

(१) ईषिर क साथ यूनानी शब्द की पहिचान कुनने जेम्स क्रिप्ट' में की था २, २८४ । देखिये करटियस, 'जेम्स क्रिप्ट ३, १५४ ।

प्रकार की जड़ मूर्तियाँ प्राचीन ऋचाओं में कहीं भी वर्णित नहीं हैं यद्यपि व बाद की ऋचाओं में, अथर्ववेद में हैं।

कृत्रिम पदार्थों का वर्णन ऋग्वेद में है और उनकी प्रशंसा की गयी है किन्तु वह ऐसी है जो धेली 'वडश वध' भी करते थे। रथ, धनुष, तीर, कुल्हाड़ा, ढाल, बलि-पात्र और इसी प्रकार के पदार्थों का वर्णन है। उनका व्यक्तिगत चरित्र नहीं बताया गया है उनको केवल उपयोगी कहा गया है। अमूल्य कहा गया है। वे पवित्र भी हो सकते हैं। (१)

वैदिक देवताओं में अर्ध दृश्यमान पदार्थ

दूसरे वर्ग में जब हम प्रवेश करते हैं तो वहाँ बात दूसरी ही है। प्रत्येक पदार्थ जिसे हमने अर्द्ध दृश्यमान कहा है हमें वैदिक देवताओं में मिलता है। ऋग्वेद १ ६०,६, ८ में पढ़ते हैं —

धर्मात्माओं पर वायु मधु की वर्षा करती है, सरितायें मधु बहाती, है, हमारे पौधे मधुर होंगे। ६

'निशा मधुमयी हो, ऊषा मधुमयी हो पृथ्वी के ऊपर का आकाश मधु पूर्ण हो, स्वर्ग हमारा पिता मधु हो।'' ७

''हमारे वृक्ष मधुपूर्ण हों सूर्य मधु पूर्ण हो हमारी धेनुयें मधुर हों। ८

---

(१) यह कहा जा चुका है कि पात्र या अस्त्र कभी मूर्ति नहीं हो सकते। देखिये, 'प्रन्दलियन कैपक फिलासफी द टेकनिक' १८७८ ५ १०४। वे कैसरो का उद्धरण देते हैं जो उनके वक्तव्य की पुष्टि करता है। एच० स्पेंसर का समाज शास्त्र का दर्शन १, ३४३ में हम ठीक इसके विपरीत पढ़ते हैं ''भारत में स्त्री उस टोकरी का आदर करती है जो उसके लिये आवश्यक वस्तुयें लाती हैं या जिसमें आती हैं। उसे वह बलि देती है। इसी प्रकार वह चावल काटने वाले यन्त्रों को भी आदर देती है जो उसे घरेलू कामों में सहायता देते हैं। इसी प्रकार बढ़ई अपने यन्त्रों को सत्कार देता है, पूजता है, उन्हें बलि चढाता है। ब्राह्मण अपनी लेखनी को जिससे वह लिखने जा रहा है, एक योद्धा अपने शस्त्रों को जिनके द्वारा वह युद्ध करने जा रहा है और कारीगर अपने औजारों को इसी प्रकार आदर देता है। डुबोस का यह वक्तव्य विश्वास उत्पन्न नहीं करता है। इसमें उच्चतर और दक्ष अधिकारी श्री लायल एक प्रान्त का धर्म में यही कहते हैं केवल हलवाहा ही अपने हल की उपासना नहीं करता। मछुआ अपने जाल की या जुलाहा अपने करघे की पूजा करता है। लेखक अपनी लेखनी पूजता है रोकड़िया अपनी हिसाब की किताबें। प्रश्न यह है कि यहाँ आदर देने का अर्थ क्या है?

हैं। उस पुरातन काल मे ऐसे तर्कों का मिलना कठिन था। किन्तु मनुष्य के मस्तिष्क के इतिहास मे भी हम यह सीखना है कि प्रत्येक नयी वस्तु पुरानी है और पुरानी बातें नयी हैं। इस पर विचार करिये कि ससार और मनुष्यो के विचार एक साथ कैसे रहते है। प्रथम बार यहाँ श्रद्धा शब्द का प्रयोग हुआ है यह लेटिन का 'क्रेडो' शब्द है। अग्रेजी के क्रीड शब्द मे वह अब भी चलता है। रोमन लोग जहाँ क्रेडिटम कहते थे, वहाँ ब्राह्मण श्राद्धितम् कहते थे। यह शब्द और यह विचार आर्य परिवार के अलग होने के पहले थे और संस्कृत के संस्कृत होने के पहले और लेटिन के लेटिन होने के पहले (इस रूप में) थे। उस पुरातन काल में भी लोगो का उस पर केवल विश्वास था जिसे न उनकी इन्द्रिया ग्रहण कर सकती थी और न विवेक से उसकी धारणा हो सकती थी। वे केवल विश्वास कर लेते थे। केवल विश्वास ही नहीं कर लेते थे, वास्तव मे उन्होंने एक शब्द विश्वास के लिये बनाया था। इसका यह अर्थ है कि वे जो करते थे उसके सम्बन्ध में सचेत थे। इस विश्वास की मानसिक क्रिया को वे श्रद्धा कहते थे।

मैं इस एक साथ घटित होने वाली बात का अधिक विवरण नही देना चाहता। (१) मैं आपका ध्यान केवल इस ओर आकर्षित करता हूँ कि इस एक शब्द ने आल्पस पहाड़ों के आगे, काकेशस से परे, हिमालय पर्वत तक कितना निस्सीम और विशाल संसार खोल दिया।

फिर भी पहले इसी देवता, इन्द्र के सम्बन्ध में उनके उपासकों में सन्देह उत्पन्न हुआ जिस पर और देवताओं के पहले उनको विश्वास करना पड़ा था और दूसरे देवताओं को मान लिया गया था। इस प्रकार हम पढ़ते हैं "इन्द्र की स्तुति करो यदि तुम्हें धन चाहिये। सच्ची स्तुति करो यदि उनका अस्तित्व सच्चा है।" दूसरा कहता है" कोई इन्द्र नहीं है। उसे किसने देखा है? हम किसकी स्तुति करें?" इस ऋचा मे रचि बिलकुल घूम गया है, स्वय इन्द्र होकर कहता है "ओ उपासक! मैं यहाँ हूँ। मुझे यहाँ देखो। अपनी शक्ति से मैं समस्त सृष्टि पर विजय पाता हूँ।' पुन हम दूसरी ऋचा मे पढ़ते हैं "उस भयंकर के लिये लोग पूछते हैं कि वह कहाँ है और उसके लिये कहते हैं कि वह नही है। वह अपने शत्रुओं का धन छीन लेता है जैसे जुए मे दाव। उस पर विश्वास करो। हे मनुष्यों! वह इन्द्र है।' (२)

---

(१) श्रद्धा में श्रत् का मूल अर्थ मेरी समझ मे स्पष्ट नहीं है। मैं बेनफे से सहमत हूँ कि श्रत् श्रु से सम्बन्धित है जिसका अर्थ है सुनना। मूल में अर्थ था—किसी वस्तु को सुनो,—देखो—के समान सत्य मानना।

(२) ऋग्वेद—११, १२, ५ यमस्मा पृच्छन्ति कुहस इति घोरम्, उतेदम आहुः न ईश अस्ति इति एवम् स अर्य्य पुष्ट विज इव आ मिनाति श्रत् अस्मै धत्ता सः जनस्य इन्द्र।

जब इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन देवता द्योस का स्थान इन्द्र ने ल लिया, फिर इन्द्र को भी नही माना गया, और प्रजापति का त्याग कर दिया गया। एक कवि कहता है कि सब देवता नाम मात्र हैं, तब हम कल्पना कर सकते हैं कि धार्मिक विचार की वह धारा जो पर्वत और सरिताओ म विश्वास स उत्पन्न हुई थी फिर आकाश और सूर्य की प्रशंसा की ओर गयी थी और अदृश्य देवताओ की पूजा म लगी थी, वर्षा दाता और धन गजन करने वाले देवताओ की अपना समस्त मार्ग पूरा कर चुकी। भारत म भी हम उसी दुघटना की आशका कर सकते थे जो एद्दा के कवियो ने आइसलैंड म कही थी देवताओ की ऊषा पूर्व प्रकाश, ससार विनाश के पहले आती है। ऐसा जान पडता था कि हम उस अवस्था म आ गये जब देववाद एक ओर सगठित अनेक देववाद होने म असफल होकर और दूसरी ओर पूर्णत एक देववाद होने मे भी विफल होकर, अनिवार्यत नास्तिक्वाद म समाप्त होगा जिसम समस्त देवताओ को अस्वीकार किया जायगा।

सच्चे और भद्दे नास्तिकवाद का अन्तर

ऐसा ही हुआ। फिर भी नास्तिकवाद भारतीय धर्म का अन्तिम रूप नही है। कुछ समय तक ऐसा अवश्य प्रतीत होता था, बौद्ध धर्म के कुछ स्वरूपो मे। भारत के धर्म के लिये नास्तिक्वाद (अथीइज्म) शब्द ही अनुपयुक्त है। प्राचीन हिन्दुओ मे होमर के सगीतज्ञो की और एलियाटिक दार्शनिको की बातें नही थी। उनके नास्तिक्वाद को, जैसा वह था, अदेववाद कहना ठीक होगा जिसम पुराने देवताओ को नही माना गया था। जिस पर एक बार विश्वास किया गया था उसे अस्वीकार किया गया था और उस पर आगे ईमानदारी स विश्वास नही किया जा सकता था। इसे धर्म का विनाश कदापि नही कह सकते हैं। यह तो सब धर्मों का मूल सिद्धान्त है। प्राचीन आर्य प्रारम्भ से ही इसका अनुभव करते थे, प्रारम्भ म बाद के काल से अधिक कि इस दृश्य से परे आगे कुछ है अनन्त दैवी सत्ता या उसे अब जो चाहे कहें। वे उसे प्राप्त करने की उसकी धारणा की चेष्टा करते थे। जैसा हम कहते है, वे उसको एक नाम के बाद दूसरा नाम देते थ। वे सोचते थे कि उन्होने उसे पर्वतो और सरिताओ मे प्राप्त कर लिया है। ऊषा मे, सूर्य मे, आकाश मे, स्वर्ग म उसे प्राप्त कर लिया है स्वर्ग के पिता को। प्रत्येक नाम के बाद नेति कहा गया। व जिसकी आकाक्षा करते थ वह पर्वतो के समान था, सरिताओ के समान था, ऊषा के समान था, आकाश के समान था पिता के समान था किन्तु वही पर्वत नहीं था, सरिता नही था ऊषा नही था, आकाश नही था पिता भी नही था। वह इन सब म का कुछ था और इससे भी अधिक था। वह इन सबके परे था।

असुर और देव ऐसे नामो स भी उनकी तृप्ति नही हुई थी। वे कहते थ, कि

देव और असुर होंगे किन्तु हम और अधिक चाहते हैं, हम इससे उच्चतर शब्द चाहते हैं, उच्चतर और श्रेष्ठतर विचार चाहते हैं। उन्होंने उज्वल देवताओं का त्याग किया इसलिये नहीं कि वे कम विश्वास करते थे या कम की आकांक्षा करते थे वरन् इसलिये कि उज्वल देवताओं से अधिक की और अधिक की आकांक्षा रखते थे और अधिक पर विश्वास जमाना चाहते थे।

उनके मस्तिष्क में एक और विचार काम कर रहा था। निराशा की ध्वनि तो नूतन जन्म की अग्रदूति मात्र थी।

ऐसा ही सदैव हुआ है और ऐसा ही होगा। एक नास्तिक वाद ऐसा होता है जो जन्म भर रहता है, मृत्यु पर्यन्त रहता है, मृत्यु ही बन जाता है। दूसरा नास्तिक-वाद ऐसा है जो सच्चे विश्वास का जीवनाधार है। यह वह शक्ति है जो हमें अपने *उत्तम क्षणों में उस त्याग देने को कहती है जो अब सत्य नहीं है।* यह वह तत्परता है जो कम पूर्ण करे, वह पहले चाहे जितना प्रिय और पवित्र रहा हो, अधिक पूर्ण द्वारा त्याग करने की प्रेरणा देती है।

संसार उसका चाहे जितना विरोध करे। यह वास्तविक आत्म समर्पण है। सच्चा आत्म-त्याग है, सत्य में पक्का विश्वास है और परम सत्य यही है।

ऐसे नास्तिकवाद के न होने पर धर्म बहुत पहले ही भयानक प्रवंचना बन गया होता। इस प्रकार के नास्तिकवाद के न होने पर कोई भी धर्म, सुधार और पुनर्जागरण सम्भव न होता। हम सब के लिये ऐसे नास्तिक्वाद के बिना नया जीवन असम्भव है।

अब हम धर्म के इतिहास को देखें। सब देशों में और सब काल में कितने लोगों को नास्तिक कहा गया है इसलिये नहीं कि वे दृश्य और सान्त के आगे किसी और का अस्तित्व अस्वीकार करते थे या वे घोषणा करते थे कि यह संसार जैसा है इसकी व्याख्या बिना एक कारण के, बिना किसी उद्देश्य के या बिना एक ईश्वर के की जा सकती है वरन् प्रायः इसलिये कि वे प्रचलित देवता की मान्यता में मतभेद रखते थे और उससे भी श्रेष्ठतर की, उच्चतर की, भगवान की भावना की आकांक्षा रखते थे जो उन्होंने अपने लडकपन में प्राप्त की थी।

ब्राह्मणों की दृष्टि में बुद्ध नास्तिक थे। बौद्ध दर्शन के कुछ विद्यालय और विद्वान निस्सन्देह नास्तिक थे। किंतु गौतम शाक्य मुनि बुद्ध स्वयं नास्तिक थे, इसमें सन्देह है और लोकप्रिय देवताओं को न मानने से उनको नास्तिक नहीं कहा जा सकता है। (१)

---

(१) रूपनाथ शिला लेख में (ई० पू० २२१) अशोक ने इस पर गर्व किया है कि उन्होंने उन देवताओं को हटा दिया है जो जम्बू द्वीप में सत्य माने जाते थे। देखिये जी० बुहलर 'तीन नये आदेश, अशोक के (बम्बई १८७७) ५ २८।

एथेनियन जजो की दृष्टि म सुकरात नास्तिक था । किन्तु वास्तव मे उन्होंने यूनान के देवताओ का भी अस्वीकार नही किया था । वे केवल यह चाहते थे कि हेक्तेस्टाज और एफ्राडाइट से उच्चतर और वास्तव म देवत्व से परिपूर्ण म विश्वास करने का उनका दावा मान लिया जाय जो उनका अधिकार था ।

यहूदियो की दृष्टि म जो कोई भी अपने को ईश्वर का पुत्र कहता था वह नास्तिक था, धर्म निन्दक था, वह ईश्वर की अवहेलना करता था ।

और जो कोई भी अपने पूर्वजो क ईश्वर को पूजता था 'उस नये रूप मे' वह अधार्मिक था । ईसाई लोगो का नाम ही यूनान और रोम वालो मे 'एथीस्ट (नास्तिक) था । ईसाई लोगो म भी अभद्र भाषा का प्रयोग एकदम समाप्त नही हो गया । एथनेशियर की दृष्टि मे 'एरियन शैतान थ । वे ईसा क विरोधी थे, पागल थे, यहूदी अनेक देववादी, नास्तिक थ । (१) हमे आश्चर्य नही करना चाहिय कि एरियस ने भी उदारता का दृष्टिकोण नही अपनाया । फिर भी एथनेशियस और एरियस दोना अपने ढङ्ग से, देवता के उच्चतम आदर्श की प्राप्ति क लिये प्रयत्न कर रहे थे । एरियस को भय था कि जेनटाइल की ओर अथनेशियस को भय था कि यहूदियो को भूलें सत्य और गरिमा के पथ से विचलित न कर दे ।

इतना ही नही बाद क काल मे भी अभिव्यक्ति की विचारहीनता धार्मिक विवाद म चलती रही है । सालहवी शताब्दी मे सरवेटस ने कालविन को अधार्मिक और नास्तिक कहा था । कालविन सरवेटस को मृत्यु दण्ड क योग्य समझते थ (१५५३) क्योकि ईश्वर का विचार उनसे भिन्न था ।

अगली शताब्दी म, केवल एक उदाहरण पर्याप्त है, जिस पर पुन विचार हुआ है, वानिनि को जिह्वा काट देने का दण्ड दिया गया था और उसे जीवित जला देने की आज्ञा दी गई थी (१६१८ ई०) क्योकि जैसा उसके जज न कहा वह नास्तिक था यद्यपि उनके लोग उसे धार्मिक दन्त कथाकार कहते थे । इधर के कुछ लेखको ने, जिनका ज्ञान अधिक होना चाहिये था प्रेमाद का समर्थन किया है जिन्होने वानिनि को धिक्कारा था । यह परम उपयुक्त होगा कि हम यह भी जान ले कि उस नास्तिक ने ईश्वर के सम्बन्ध म कहा क्या था । उन्होने लिखा है 'आप मुझसे पूछते हैं कि ईश्वर क्या है । यदि मैं यह जानता तो स्वय भगवान होता क्योकि कोई भी भगवान को नही जानता है । केवल भगवान ही अपने को जानता है । यद्यपि हम उस एक प्रकार से उसके कार्यों

(१) डा० स्टेनल ने ईस्टनचर्च के पृष्ठ २४८ म उद्धृत किया है । एथनेशियस न एरियस और एरियन को चुने हुए विशेषण इस याद किया है, "शैतान, ईसा के विपक्षी पागल, यहूदी अनेक देववादी नास्तिक कुत्ते भेडिये, शेर, खरगोश, अजदह, मछली, घुन कीडे, गिरगिट ।"

मे खोज सकते हैं जैसे बादलो मे सूर्य को फिर भी इस प्रकार से हम उसकी और अच्छी धारणा नही कर सकते है। फिर भी हम कहना चाहिये कि वह अधिकतम नेकी, प्रथम सत्ता सम्पूर्ण, न्याय मूर्ति, दयालु, शान्त, वरदानी, सृष्टा, रक्षक, सर्वव्यापी सर्वज्ञ, सब शक्ति मान पिता, सम्राट, स्वामी, वरमाता, शासक, आदि मध्य और अन्त, अनन्त, जीवनदाता लेखक, दृष्टा, निर्णात और सबका कल्याणकारी है।

जिस मनुष्य ने यह लिखा था उसे जीवित जला दिया गया। विचारो का सम्भ्रम इतना था कि सत्रहवी शताब्दी मे नास्तिकवाद का सच्चा अर्थ ज्ञात नही था। १६६६ मे एडिनबरा मे पार्लमेंट ने कानून बनाया (मकाल हिस्ट्री आफ इग्लैंड भाग २२। कनिङ्घम हिस्ट्री आफ चच आफ स्काटलैंड भाग २ ४, ३१३) उसके द्वारा डीस्ट की सम्मतियाँ जो नास्तिकता की मानी गयी थी अनियमित बतायी गयी। स्पिनोजा ऐसे दार्शनिक को और आर्कबिशप टिलाटसन को नास्तिक घोषित किया गया यद्यपि उनको जीवित नही जलाया गया।

अठारहवीं शताब्दी भी ऐसे कलको से खाली नही है। उस समय भी अनेक लोगो को नास्तिक कहा जाता था, इसलिये नही कि वे ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करने का स्वप्न भी देखते थे वरन् इसलिये कि वे ईश्वर सम्बन्धी विचार को शुद्ध करना चाहते थे। जिन विचारो को वे मानवीय अतिशयोक्ति और भूल मानते थे उनको ठीक करना चाहते थे।

अपने समय मे भी हम भली भाँति जानते हैं कि नास्तिकवाद का क्या अर्थ है और हम उसका कितना हलकेपन से और विचारहीन प्रयोग करते हैं। यह समुचित है कि जो भी स्वय ईमानदार होना चाहे, अपने साथ स्वय ईमानदारी बरते और दूसरो के साथ भी निष्पक्ष निर्भीक व्यवहार करे, वह चाहे साधारण जन हो या पादरी, उसे सदैव स्मरण रखना चाहिये कि वे लोग कैसे थे जिनको, उसके पहले नास्तिक, ईश्वर निन्दक और दन्त कथाकार कहा गया है।

हमारे जीवन मे ऐसे क्षण आते हैं जब वे लोग जो भगवान के सम्बन्ध मे अत्यन्त लगन से सोचते हैं, भगवान की खोज मे लीन रहते हैं यह सोचते हैं कि भगवान ने उनको छोड दिया है। वे अपने से भी प्रश्न करने का साहस नही करते कि हमारा विश्वास क्या अब भी ईश्वर पर है ? या नही है ?

उनको निराश नही होना चाहिये। और हम उन पर कठोर होकर निर्णय नही देना चाहिये। उनकी निराशा अनेक विश्वासो से अच्छी हो सकती है।

अन्त मे हम एक महान आत्मा के शब्द उद्धृत करते हैं। उनकी अभी मृत्यु हुई है। उनकी पवित्रता और ईमानदारी मे कभी सन्देह नही किया गया।

वे कहते हैं "ईश्वर एक बडा शब्द है। जो इसे समझता है और इसका अनुभव करता है वह उन पर निर्णय देते समय, नम्रता बरतेगा और न्याय करेगा, उनके साथ

जो इस स्वीकार करते हैं कि वे इतना साहस नहीं रखते हैं कि यह कह सकें।" हम ईश्वर मे विश्वास है।

अब मैं यह भली भाँति जानता है कि जो मैंने अभी कहा है उसके सम्बन्ध मे भ्रान्ति उत्पन्न की जायगी, उसे गलत ढङ्ग से समझा जायगा और उसका गलत अर्थ भी निकाला जायगा। मैं जानता है कि मुझ पर यह दोषारोपण होगा कि मैंने नास्तिकवाद का समर्थन किया है, उसे महत्व दिया है। और यह भी कहा जायगा कि मैंने नास्तिकवाद को वह अन्तिम और उच्चतम पद दिया है जो मनुष्य धार्मिक विचार के विकास मे प्राप्त कर सकता है। ऐसा ही होने दीजिये। यदि यहाँ उपस्थित लोगों मे थोड़े से भी ऐसे है जो यह समझते हैं कि ईमानदारी से नास्तिकवाद का मेरा अर्थ क्या है, यह जानते हैं कि नास्तिकवाद नहीं नास्तिकता से कितना भिन्न है, इतना ही नहीं, बेईमानी से बरतने वाले आस्तिकवाद से भी भिन्न है, तब मुझे सन्तोष होगा क्योंकि मैं जानता हूँ कि इस भेद को समझने से हमें कठिन परिस्थिति मे भी सहायता मिलेगी। इससे हम यह सीखेंगे कि जब पुरानी पत्तियाँ सुन्दर वसन्त मे लहलहाती उत्तम पत्तियाँ, पतझड़ मे गिर जाती हैं और सब कुछ शीत मे सिकुड़ा सा जान पड़ता है, सब कुछ जमा हुआ और मृतक सा लगता है अपने अन्दर और चतुर्दिक, तब प्रत्येक सच्चे और उष्ण हृदय के लिये नवीन वसन्त आता है और आना चाहिये। इससे हम यह सीखेंगे कि ईमानदारी से किया गया सन्देह ईमानदारी से पूर्ण विश्वास का गम्भीर स्रोत है। इसे वही पा सकता है जिसने खोया है।

भारतीय मस्तिष्क ने इस स्थल पर आकर इसको कैसे सुलझाया, किस प्रकार इससे संघर्ष किया, धार्मिक समस्याओ मे सबसे बड़ी और अन्तिम इस समस्या को कैसे हल किया, किस प्रकार दूसरे लैटून की भाँति नास्तिकवाद की केंचुल उतार फेंकी, यह अगले और अन्तिम भाषण मे देखेंगे।

———

सातवाँ भाषण

दर्शन और धर्म

देवताओं का विसर्जन

भारत निवासी आर्यों को जब यह विश्वास हो गया कि उनके समस्त देवता नाम मात्र को थे, तब हम अनुमान लगा सकते हैं कि वे निराश और क्षुब्ध हो गये होंगे उनमे, जिनकी उपासना उन्होंने युगो तक की थी। उनको धोखा दिया गया था या स्वय उन्होंने धोखा खाया था जब उनको यह पता लगा कि उनके पुराने देवता इन्द्र अग्नि, वरुण नाम मात्र को थे और कुछ नही तब उन पर वही प्रभाव पड सकता था जो यूनान वालो पर पडा था जब उन्होने अपने सामने अपने देवो के पुराने मन्दिर गिरते देखे थे या जब जरमन लोगो ने अपने पुराने पवित्र आक वृक्ष गिराये जाते देखे थे। तब न तो अपालो आये और न ओडिन प्रकट हुये जो इस विनाश और ध्वस का बदला लेते। किन्तु यहाँ परिणाम नितान्त दूसरा था जिसकी हम आशा करते थे, अनुमान लगाते थे, वह नही था। ग्रीक, जरमन और रोमन लोगो के देवता, हम जानते हैं, जब उनका कार्य समाप्त हो गया तब या तो नितान्त विलीन हो गये या यदि उनका अस्तित्व पूर्णत समाप्त नही हुआ तो उनको शैतान का पद दिया गया, उनको दुष्ट आत्मा कहा गया। उसी समय ईसाई धर्म सामने था जो हृदय की आकाक्षाओ को पूरा करने का दावा करता था। हृदय की उन आकाक्षाओ का पूर्ण दमन तो कभी हो ही नही सकता है।

भारतवर्ष मे ऐसा कोई धर्म आने वाला नही था, बाहर से किसी धर्म के आने की आवश्यकता भी नही थी। जिसे ब्राह्मण लोग, अपने देवताओ को छोडने के बाद स्वीकार करते। इसलिये सब कुछ छोडकर नवीन पथ अपनाने के स्थान पर वे अपने ही पथ पर आगे बढ गये। यूनानी रोमन और जरमन लोगो का उदाहरण उन्होने नही अपनाया। उनको यह विश्वास था कि वे इससे सत्य की प्राप्ति करेंगे। यदि वे मार्ग मे रुके नहीं, शिथिल होकर गिर न पडे तो वे उसकी खोज करते हुये बढते जायगे जो उनके मस्तिष्क मे प्रथम बार आया था जब इंद्रियो की अनुभूति प्रारम्भ हुई थी किन्तु जिसकी प्राप्ति पूर्णत और दृढता से नही हुई थी। और न उसकी धारणा ठीक से हुई थी, न ठीक से नामकरण हुआ था।

उन्होंने पुराने नामो को छोड दिया, किन्तु उस पर विश्वास को नही छोडा जिसको वे कोई नाम देना चाहते थे। पुराने देवताओं की वेदियाँ टूटने के बाद उन्होंने

गिरी हुई ईंटों से एक नई वेदी बनाई अनात भगवान की, जो अनाम था फिर व्यापी था। जिसे अब वे पर्वतों और सरिताओं में नहीं देखते थे, आकाश और वर्षा और घन-गर्जन में, नहीं देखते थे फिर भी उसे उनमें व्याप्त देखते थे, है, उन अपने अधिक निकट देखते थे जो चतुर्दिक समाविष्ट था। अब वह समान भी नहीं था जो सबको घेरे था, सबको आलिङ्गन किये था। अब व निकट और घनिष्ठ था। उसे वे अपने हृदय का स्पन्दन, प्राण कहते थे, सभ उसकी वाणी अधिक मुखरित नहीं थी। केवल हल्की आवाज थी।

दैवी अवतरणों का उद्देश्य

पहले हम यह स्मरण रखना चाहिये कि वेद के कवियों ने यह नहीं मित्र वरुण और अग्नि केवल नाम थे। उन्होंने कहा—' (ऋग्वेद १, १६ इन्द्रम् मित्रम् वरुणम् अग्निम् आतु अथो दिव्य स सुपर्ण गरुण, एकम् सद् बहुधा वदन्ति अग्निम् यमम् मातरिश्वानम् आज) वे मित्र, वरुण और अग्नि व मे कहते हैं। फिर वह स्वर्गीय गरुड है। वह जो एक है उसी का कविगण अनेक से वर्णन करते हैं, वे यम, अग्नि और मातरिश्वा की बातें कहते हैं। यहाँ हम बातें रखते हैं। पहली—कवियों, मनीषियों और ऋषियों को कभी इस पर स न्द था कि वास्तव में कुछ सत्य था जिसके अग्नि इन्द्र और वरुण आदि केवल नाम थ

दूसरी बात यह थी कि वह वास्तविक सत्य जो उन्हें ज्ञात था, एक था एक तीसरी बात यह थी कि उस एक को पुलिङ्ग नहीं कहना चाहिये, जैसे प्र और दूसरे देवता। उसे नपुंसक लिङ्ग मानना चाहिये।

नपुंसक लिङ्ग के नाम पुल्लिङ्ग और स्त्री लिङ्ग के नामों से श्रेष्ठ अब यह कानों को खटकने वाली बात है। हम देवताओं के लिये नपुंसक लिङ्ग के नाम नहीं कर सकते। हम नपुंसक लिङ्ग में केवल पार्थिव, मृतक या अवैयक्तिक को लेत प्राचीन भाषा में यह बात नहीं थी, प्राचीन विचारों में भी नहीं थी। अनेक आधु भाषाओं में भी यह बात नहीं है। इसके विपरीत नपुंसक लिङ्ग को प्राचीन ऋषि प्रयुक्त करते थे जहाँ अभिव्यक्ति का उद्देश्य न पुल्लिङ्ग हो और न स्त्रीलिङ्ग। उसे मानवीय स्वभाव से उतना ही दूर रखना था जितना कि असमर्थ मानवीय भाषा भाँति प्रकट कर सकती। ऐसा कुछ जो पुल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग से श्रेष्ठतर हो, र नीचा न हो। वे लिङ्ग रहित, सत्ता के नाम देना चाहते थे जो निष्प्राण नहीं था जैसा कुछ लोग अन्तर्विरोध को बिना समझे कह देते हैं, अवैयक्तिक ईश्वर था।

ऐसे भी दूसरे पद हैं जिनमें यद्यपि कवि एक ईश्वर की बात कहते हैं कि अनेक नाम हैं, फिर भी ईश्वर को पुल्लिङ्ग माना गया है।

सूर्य की प्रार्थना म (ऋग्वेद १०, ११४, ५) एक ऋचा है "सुपर्णम विप्रः कवय वचोभि एवम् सन्तम् बहुधा कल्पयन्ति ।' "बुद्धिमान कवि अपने शब्दो स उस पक्षी की अभिव्यक्ति करत हैं जो एक है, अनेक प्रकार स उसका वर्णन करत हैं।' हमारे लिये यह शुद्ध पौराणिक गाथा है।

कम पौराणिक गाथा क रूप म किन्तु पुरातन शास्त्र की शैली म सर्वोत्तम सत्ता की, निम्नलिखित ऋचा क रूप म अभिव्यक्ति हुई है (ऋग्वेद १, १६४, ४) क ददश प्रथमम् जायमानम् अस्थानवन्तम् यत् अनस्था बिभर्ति', भूम्य आसुह आस्रिक आत्मा क्व स्वित, क विद्वासम् उपगात प्रष्टुम एतत् ।' किसने उसको दखा जब वह पहले उत्पन्न हुआ ? जब उसने जिसक हड्डी नही है उसे उत्पन्न किया जिसकी हड्डी है। ससार की श्वास, रक्त और आत्मा कहाँ थी ? कौन इस मांगने किसी स गया जो इसे जानता था। इनमे क्या प्रत्येक शब्द गूढार्थ पूर्ण है। "वह जिसकी हड्डी नही है।' का अर्थ है "जिसका कोई रूप नही है।' 'वह जिसकी हड्डी है' का अर्थ है जिसका रूप है सङ्कृति है। ससार का रक्त और श्वास का अभिप्राय है अनात या अदृश्यमान शक्ति की अभिव्यक्ति का प्रयास जो ससार का आधार है। वास्तव मे श्वास का अभिप्राय है ससार का सार या मूलतत्व।

आत्मा-कर्त्ता, स्वयम्

"वास, सस्कृत म आत्मा एसा शब्द है जिसका भविष्य बडा था। प्रारम्भ म इसका अथ था श्वास, फिर इसका अर्थ हुआ जीवन, कभी कभी शरीर के अथ म भी यह प्रयुक्त किया गया है। बहुत अधिक प्रयोग साराश या स्वय क अर्थ म हुआ है। वास्तव म यह सर्वनाम बन गया। फिर भी याकरण की इस श्रेणी म ही वह सीमित नहा था। उसका नवीन रूप उच्चतम दार्शनिक सक्षिप्त नाम म था। भारत म और सर्वत्र आत्मा का प्रयोग दार्शनिक तत्व को सक्षिप्त मे कहने म किया गया। इससे 'मैं' की ही अभिव्यक्ति नही होती थी 'अह वा भाव ही नही प्रकट होता था जो इस जीवन के परिवतनशील तत्वा मे प्रकट किया जाता है। नही, इसस उसकी अभिव्यक्ति होती थी जा 'अह से मैं' स परे है जाने है। वह कुछ समय के लिये 'अह' को आधार देता था फिर कुछ समय बाद मानवीय अहकार स उसकी शृखलाओ और बधना से अपने को मुक्त कर लेता था और पुन शुद्ध आत्मा, (स्वय) हो जाता था।

आत्मा, दूसरी भाषाओ के उन शब्दा से भिन्न है जिनका प्रारम्भ मे अर्थ था श्वास, फिर उनका अथ हो गया, जीवन, भावना और आत्मा (आत्मतत्व परमतत्व) उसका श्वास का अर्थ बहुत पहले ही समाप्त हो गया था और जब उसक पार्थिव अथ को छोड दिया गया और सर्वनाम के रूप म भी उसका प्रयोग पूर्ण हो चुका तब वह सक्षिप्त हो गया। यूनान क तत्सम शब्दो से अधिक 'एनीमा' या 'एनायस (लेटिन म)

से अधिक और सस्कृत मे 'असु' या प्राण से भी अधिक सक्षिप्त हो गया। उपनिषदो मे प्राण श्वास या भावना का विश्वास, अस्तित्व के सच्चे सिद्धान्त के रूप मे, दार्शनिक ज्ञान की निम्नतर कक्षा मे था, आत्मा या स्वय मे विश्वास की अपेक्षा। जैसा हमारे साथ होता है 'स्वय' (आत्मा) 'अहं' से आगे बढ़ जाता है। इसी प्रकार हिन्दुओं मे भी आत्मा, प्राण से आगे बढ़ गया और अन्त मे उसे अपने मे विलीन कर लिया।

इस प्रकार बाद के युग मे प्राचीन भारतीय दार्शनिको ने अनन्त की खोज की जो उनको आश्रय देता था, जीवनाधार था, अन्तरतम था जो 'अहं से बहुत परे था।

आत्मा बाह्य तत्व

अब हम यह देखें कि उन्होंने बाह्य जगत मे अनन्त की खोज के लिये कैसे प्रयत्न किये।

कुछ समय तक कवि और मनीषी 'एक' मे विश्रान्ति पाते थे जिसे वे एक ईश्वर कहते थे किन्तु जो अब भी पुल्लिङ्ग था, कर्त्ता था और कुछ पुरातन धर्म सम्बन्धी था। वह वास्तव मे एक दैवत्व पूर्ण 'अहं' था अभी तक वह दैवत्वपूर्ण 'स्वय' नही था। अकस्मात हमे नये प्रकार के पद मिलते हैं। हम एक नये ससार मे घूमते जान पडते हैं। वह सब कुछ जो नाटकीय था, पुराणवादी था, प्रत्येक नाम और रूप छोड दिया जाता है। केवल वह 'एक' रह जाता है जिसका अस्तित्व है, नपुंसक लिङ्ग और अनन्त को ग्रहण करने की अन्तिम चेष्टा।

वैदिक कवि अब आकाश या ऊषा की महिमा नही गाते थे वे इन्द्र की शक्ति की पूजा नही करते थे या विश्वकर्मा और प्रजापति के गीत नही गाते थे। वे विचरण करते थे, अपने ही शब्दो के अनुसार ' जैसे धूमावृत और भाषण शिथिल '(ऋग्वेद १, ८२, ७) ' निहारेन प्रावृत जलय च असचिय उक्त सासह चरन्ति। 'दूसरा कवि कहता है (इविड ६, ६, ६)" वि ये कणा पातयत, विचक्षु विदूदम् ज्योति हृदये आहितम् यत् विये मन चरति दुराध्य किम् स्वित वक्ष्यामि किम् उनु मनिष्ये। मेरे कान विलीन हो गये, मेरी आँखें समाप्त हो गयी और प्रकाश भी विलीन हो गया जो हमारे हृदय मे रहता है। मेरा मन अपनी ऊची अभिलाषाओं के साथ तिरोहित हो गया। अब मैं क्या कहूं, क्या विचार करूं ?

पुनश्च, "मैं स्वय कुछ नही जानता, यहाँ उपस्थित विद्वान मनीषियो से मैं पूछता हूँ जो जानते हैं मैं अज्ञानी हू, जिससे मैं जान सकूं। जिसने छः लोक स्थापित किये क्या वही एक है जो अजन्मा के रूप मे अस्तित्व रखता है ? '

ये तूफान हैं जो उज्वल आकाश और नूतन वसन्त के पूर्वाभास है, य आगमन की सूचना देते हैं।

अन्त मे, उस एक का अस्तित्व (आत्मा का) दृढ़ता स माना जाता है जो स्वय पूर्ण है, किसी के आश्रय के बिना अस्तित्व रखता है। समस्त सृष्टि के प्राणियो के जन्म के पहले वह था। देवताओ क बहुत पहले वही एक था। वे देवता भी नही जानते हैं कि यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई।

कहा जाता है कि जब कुछ भी नही था, मृत्यु या अमरता के पहले, रात्रि और दिवस के अन्तर के पहले, वह एक था। वह बिना श्वास के श्वास लेता था। उसके बाद उसक अतिरिक्त और कोई नही हुआ है। उस समय घनाधकार था प्रत्येक वस्तु उदासी मे छिपी थी। सब समुद्र के समान था। प्रकाश नही था। तब वह बीजाकुर जो छिपा था, वही एक, ऊष्मा की शक्ति से प्रकट हुआ। इस प्रकार कवि सम्पूर्ण प्राणियो के प्रारम्भ का चिन्तन करता जाता है। वह एक अनेक कैसे हो गया ? अजन्मा *का जन्म कैसे हो गया ? उसका नामकरण केसे हुआ। वह अनन्त सान्त कैसे हो गया ?* अन्त म निम्न पक्तियाँ देता है —

"उसका रहस्य जानता है कौन ? किसने यहाँ घोषणा की ?
कहाँ से ? कहाँ स ? यह विविध सृष्टि निकली ?
देवता स्वय बाद में अस्तित्व मे आये—
कौन जानता है कहाँ से यह महान सृष्टि निकली ?
वह जिससे यह सब सृष्टि आया—
क्या उसकी इच्छा ने सृष्टि की या वह मात्र थी ?
परम पद प्राप्त ऋषि, द्रष्टा उच्चतम स्वग म विराजमान—
वह जानता है या कदाचित वह भी नही जानता है।"

ये विचार जो ऋग्वद की ऋचाओ म पहले मन्द प्रकाश, नक्षत्रो को रोशनी के समान हैं आगे चलकर अत्यन्त प्रकाश पूर्ण हो जाते हैं, विविध बन जाते हैं। अन्त मे इन विचारो का एक प्रकाश मण्डल बन जाता है आकाश-गङ्गा क समान। यह उपनिषदो मे प्राप्त है। उपनिषद अन्तिम काव्य रचनायें हैं जो वैदिक काल की हैं किन्तु उनका प्रभाव इन सीमाओ स बहुत आगे तक है।

उपनिषदों का दर्शन

आपको स्मरण होगा कि ऋचाओ के काल के बाद ब्राह्मण काल आया। ब्राह्मण ग्रथो म प्राचीन बलिदानो का विशद वर्णन है। ये गद्य म हैं।

ब्राह्मण ग्रथो के अन्त म हमे प्राय आरण्यक मिलते हैं जिसे वन भूमि मे तपोनिष्ठ ऋषियो की पुस्तक कहते हैं। आरण्यक उनके लिये हैं जिन्होने अपना घर त्याग दिया है और वन के एकान्त में निवास करते हैं।

आरण्यकों के अन्त में, उनमें सन्निहित, प्राचीनतम उपनिषद मिलते हैं जिसका शब्दार्थ है सच या अपने गुरु के निकट शिष्यों का सघ। उन उपनिषदों में वैदिक काल का सम्पूर्ण दर्शन एकत्र है।

इन उपनिषदों में एकत्र विचारों की सपदा की एक झलक देने के लिये मैं आपको बताता हूँ कि पहले मेरा इरादा यह था कि इन भाषणों में मैं केवल उपनिषदों के सिद्धान्तों का ही वर्णन करता। उनमें मुझे पर्याप्त सामग्री मिलती अब मैं केवल सक्षेप में ही इस थोड़े समय में उनका प्रारूप मात्र देता हूँ।

इन उपनिषदों में जिसे दार्शनिक प्रणाली कहा जा सकता है, वह नहीं है। वे ससार की भाषा में सत्य के लिये अनुमान हैं जो कभी-कभी पारस्परिक विरोधी हैं किन्तु सब की प्रगति एक ही ओर है। उपनिषदों का मूलमत्र है "अपने को जानो।" डेलफिक सन्देश से अधिक गम्भीर और गूढ़ अर्थ है इस मूलमत्र का। "अपने को जानो का अर्थ है अपनी सच्ची सत्ता को जानो जो तुम्हारे 'अह' में व्याप्त है। उसे खोजो, उच्चतम रूप में जानो अनन्त आत्मा, एक अद्वितीय जो ससार में व्याप्त है।

अनन्त की, अदृश्य की, अज्ञात की और दैवी सत्ता की यह अन्तिम खोज थी। वेद की सरलतम ऋचाओं में इसकी खोज प्रारम्भ हुई थी और उपनिषदों में इसकी समाप्ति हुई। जिसे बाद में वेदान्त कहा गया—वेद का अन्त या वेद का उच्चतम उद्देश्य।

इनसे कुछ उद्धरण मैं दे रहा हूँ जो भारतीय साहित्य में अद्वितीय हैं इतना ही नहीं, मैं तो कहूँगा कि विश्व के इतिहास में अद्वितीय है।

प्रजापति और इन्द्र

(छान्दोग्य उपनिषद्) ८,७-१२, यह इन्द्र की कथा है जो देवताओं में प्रमुख थे। विरोचन असुरों के प्रधान थे। वे प्रजापति से आदेश चाहते थे। निस्सदेह यह ऋग्वेद की ऋचाओं की तुलना में आधुनिक जान पड़ती है फिर भी आधुनिक तो है ही नहीं। यदि इसकी तुलना भारत के शेष साहित्य से की जाय। देवता और असुरों का विरोध गौण है किन्तु उनके चिह्न ऋग्वेद में विशेषत अन्तिम ग्रथ में जान पड़ने लगते हैं असुर प्रारम्भ में प्रकृति की कुछ शक्तियों का विशेषण था, विशेषत आकाश का। कुछ पदों में देव असुर का अनुवाद जीवित देवता करने की प्रवृत्ति कुछ लोगों की होती है। कुछ समय बाद असुर विशेषण का प्रयोग दुष्ट आत्मा के अर्थ में होने लगता है। फिर बहुवचन में दुष्ट आत्माओं के लिये होता है जो देवता प्रकाशपूर्ण, दयालु और साधु आत्माओं के विरुद्ध है। ब्राह्मण ग्रथों में यह भेद दृढ़ता से किया गया है और उसमें प्रत्येक बात का देव तथा असुरों के सग्राम से निर्माण किया गया है।

यह स्वाभाविक है कि इन्द्र देवताओ का प्रतिनिधित्व करें। विरोचन बाद के समय के हैं। यह नाम ऋचाओ म नही आया है। पहल पहल वह तैतिरीय ब्राह्मण १ ५, २, १ मे आता है वहाँ उनको प्रह्लद और कायधू का पुत्र कहा गया है। यहाँ प्रजापति का स्थान सर्वोच्च देवता का है। तैतिरीय ब्राह्मण मे उनको (१, ५, ९, १) इन्द्र का पिता भी कहा गया है।

इस कथा का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि किन अवस्थाओ मे होकर मनुष्य मे सत्य आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्रजापति प्रारम्भ मे अस्पष्ट ढग से कहते हैं कि चक्षु मे जो व्यक्ति दिखायी देता है वह आत्मा है। उनका अभिप्राय द्रष्टा स है। वह चक्षुओ से स्वतन्त्र है किन्तु उनक शिष्य उनको ठीक से नही समझ पात हैं। असुर यह समझत हैं कि आँख की पुतली मे जो छोटा शरीर शीशे म दिखायी देता है वही आत्मा है। देवता समझते हैं कि शीशा या जल म जो छाया है वह आत्मा है। विरोचन को तो इसस स ताष हो जाता है किन्तु इन्द्र का समाधान नही होता है। इन्द्र उसकी खोज करत हैं जो पहले इन्द्रिया के प्रभाव से मुक्त स्वप्न द्रष्टा है फिर स्वप्न भी नही देखता अचेतन है। इससे भी असन्तुष्ट होकर जो उन्हे सम्पूर्ण अभाव जान पडता है, इन्द्र अन्त म उसे देखत हैं जो आत्मा है जो इन्द्रियो का उपयोग तो करता है किन्तु उनसे भिन्न है, वास्तव मे जिसे चक्षु मे देखा गया—द्रष्टा के रूप मे जिसकी अनुचरित चक्षुओ मे हुइ या पुन, वह जो यह जानता है कि वह जाता है और मस्तिष्क दैवी चक्षु है उसका एक साधन है, यन्त्र है। यहाँ पर हमको सत्य की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मिलती है जिसे वन क निवासी ऋषियो ने दिया है। अनन्त की खोज म उन्होने इस उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति की थी।

सातवाँ खण्ड

प्रजापति ने कहा 'आत्मा जो पाप स मुक्त है, वह किसी की कामना नही करता है केवल उसकी कामना करता है जिसकी उस करनी चाहिये, किसी की कल्पना नही करता है केवल उसकी कल्पना करता है जिसकी उसे करनी चाहिये, उसी की खोज हमे करना चाहिये। हम उसी को समझने का चेष्टा करनी चाहिये। उस आत्मा की जिसने खोज की है और जिसने उसे समझा है वह सब लोगो को प्राप्त करता है और उसकी सब इच्छाये पूर्ण होती है। (१)

देव और असुर दोनो न ये शब्द सुने और कहा अच्छा, उस आत्मा की हम सब खोज करे जिसस यदि किसी ने उसे खोजा है तो सब लोग प्राप्त हुये हैं और सब इच्छाये पूर्ण हुई हैं।"

"यह कहकर इन्द्र देवताओ स दूर चले गये और विरोचन असुरो स दूर गये और दोनो एक दूसरे से वार्तालाप न करक, प्रजापति के पास गये, अपने हाथो मे

अग्नि की समिधा लिये हुये जैसी प्रथा है, गुरु के निकट जाने पर शिष्य ऐसे ही जाते हैं।" (२)

"वे वहाँ पर शिष्य की भाँति बत्तीस वर्ष रहे तब प्रजापति ने उनसे पूछा—तुम दोनो किस उद्देश्य से यहाँ रहे हो ?"

"उन्होंने उत्तर दिया,' आपका एक कथन दोहराया जा रहा है।

"आत्मा पाप से मुक्त है, वृद्धावस्था से मुक्त है, मृत्यु से मुक्त है क्षुधा पिपासा से मुक्त है, जो किसी की कामना नही करता है केवल वही कामना करता है जो उसे करना चाहिये, किसी की कल्पना नही करता है, केवल उसी की कल्पना करता है जो उसे करना चाहिये। हम दोनो ने यहाँ इसलिये निवास किया है कि हम उस आत्मा को चाहते हैं।' (३)

'प्रजापति ने उनसे कहा, जो आँख मे दिखायी देता है वही आत्मा है। मैंने यही कहा है। यह अमर है, निर्भय है, यही ब्रह्म है।" [१]

"उन्होंने प्रश्न किया, महोदय, जो जल मे देखा जाता है और जिसे शीशे मे देखा जाता है, वह कौन है ?'

"उन्होंने उत्तर दिया इन सबमे वह स्वय दिखायी देता है।' [२] (४)

आठवाँ खण्ड

"एक जल पात्र मे अपने (स्वय) को देखो और अपनी आत्मा का अर्थ जो न समझो तो आकर मुझसे बताओ।

"उन्होंने जल-पात्र मे देखा। तब प्रजापति ने उनसे कहा 'तुम क्या देखते हो ?'

'उन्होंने कहा हम दोनो इस प्रकार आत्मा को सम्पूर्ण देखते हैं एक चित्र जिसके नख और केश तक स्पष्ट हैं।' (१)

---

[१] भाष्यकार ने इसकी टीका ठीक की है। प्रजापति का अभिप्राय वह है व्यक्ति जो चक्षु मे दिखायी देता है वह देखने के कार्य का कर्त्ता है। उस ऋषि देखते हैं जब उनके चक्षु बन्द रहते हैं तब भी। उनके शिष्यो ने उन्हें ठीक नही समझा। वे उस व्यक्ति को सोचते हैं जो देखा जा रहा है उसे नहा जो देखता है। चक्षु मे दिखायी देने वाला उनके लिये एक छोटी छाया है और वे प्रश्न करते जाते हैं कि शीशा या जल मे दिखायी देने वाली छाया क्या आत्मा नही है।

[२] भाष्यकारो को इसे स्पष्ट करने मे बडी कठिनाई जान पडती है कि प्रजापति ने कुछ भी असत्य नही कहा। पुरुष या व्यक्ति से उनका अभिप्राय उच्चतम अर्थ मे व्यक्तिगत तत्व था। उनका दोष नहीं था कि उनके शिष्यो ने उस पुरुष का अर्थ मनुष्य या शरीर लगाया। प्रजापति का अभिप्राय कदापि यह नहा था।

"प्रजापति ने उनसे कहा, अच्छे वस्त्र पहनने के बाद भली भाँति अलकृत होकर और क्षौर कर्म के बाद पुन जलपात्र मे देखो ।"

"उन्होने अच्छे वस्त्र पहिनने के बाद, सब प्रकार स अलकृत होकर और क्षौर कर्म करवा कर जल पात्र मे देखा ।"

प्रजापति ने कहा "तुम क्या दखते हो ?" (२)

उन्होने कहा "जैसे हम हैं, सुन्दर वस्त्र पहिने हुये, अलकृत, और बाल बनवाये हुये, हम दोनो वहाँ हैं, महोदय ! सुवस्त्र सज्जित और स्वच्छ ।"

प्रजापति ने कहा "वही आत्मा है, यही अमर, निभय, ब्रह्म है ।"

तब दानो अपने हृदया म सन्तुष्टि प्राप्त कर चले गये ।

और प्रजापति ने उनको जाते दखकर कहा 'य दोनो जा रहे हैं, इन्होने न आत्मा की धारणा प्राप्त की और न उसे जान पाये और इनम स जो भी, दव या असुर इस सिद्धान्त का अनुगमन करेगा, नष्ट हो जायगा ।

"अब विरोचन अपने हृदय म में सन्तुष्ट होकर असुरा क पास गये और उनको इस सिद्धान्त की शिक्षा दी कि आत्मा (शरीर) की ही पूजा करनी चाहिये और आत्मा (शरीर) की सेवा ही करना चाहिये । और जो आत्मा की पूजा करता है, सेवा करता है दोनो लोक प्राप्त करता है, यह लोक और परलोक ।"

'इसीलिये अब भी उस मनुष्य को लोग असुर कहते हैं जो यहाँ दानपुण्य नही करता है, जिसमे श्रद्धा नही होती और जो बलि नही दता है, क्योकि यह असुरो का दशन है । वे मृतक शरीर को फूल, सुगन्धि और सुन्दर वस्त्रा से सजात हैं और सोचते हैं कि इस प्रकार वे परलोक म विजय प्राप्त करेंगे ।

नवाँ खण्ड

किन्तु इन्द्र, देवताओ के पास लौटने क पहले इस कठिनाई को समझ गये थे यह आत्मा (जल मे छाया) सुवस्त्र सज्जित है जैस शरीर, [१] स्वच्छ है ।

इसी प्रकार आत्मा भी अन्धी होगी यदि शरीर अन्धा है । लगडी होगी यदि शरीर लगडा है पगु होगी यदि शरीर पगु है । इसी प्रकार शरीर के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जायगी । इसलिये मैं इस सिद्धान्त म कोई भलाई नही देखता हूँ ।' (१)

"वे हाथ मे समिधा लेकर शिष्य की भाँति पुन प्रजापति क पास आये । प्रजा--

[१] भाष्यकार का कहना है कि इन्द्र और विरोचन दानो ने प्रजापति की बात ठीक स नही समझी थी फिर भी विरोचन शरीर को आत्मा समझने लगे और इन्द्र समझने लगे कि आत्मा शरीर की छाया थी ।

पति ने उनसे कहा "मघवा ! (इन्द्र) तुम विरोचन के साथ ही अपने हृदय म सन्तुष्ट होकर चले गये थे । अब तुम किस अभिप्राय से पुन आये हो ?"

'उन्होंने कहा, महाशय ! यह आत्मा (छाया) सुअलकृत और सुसज्जित होती है जब शरीर सुसज्जित और सुअलकृत होता है, स्वच्छ होता है जब शरीर स्वच्छ होता है । तब क्या वह अधी हो जायगी जब शरीर अधा होगा ? लगडो हो जायगी जब शरीर लगडा होगा और पगु हो जायगी जब शरीर पगु होगा और वास्तव मे जब शरीर नष्ट हो जायगा तब नष्ट हो जायगी ? इसलिये मैं इस दर्शन मे कोई भलाई नही देखता हूँ । मुझे यह भ्रम जाल सा लगता है ।' (२)

'प्रजापति ने कहा" मघवा ! वास्तविकता यही है । किन्तु मैं इसे (सत्य आत्मा को) तुम्हे और अधिक समझाऊँगा । मेरे साथ बत्तीस वर्ष और निवास करो तब इस ज्ञान के अधिकारी होगे ।

वे उनके साथ पुन बत्तीस वर्ष रहे और तब प्रजापति ने कहा —(३)

दसवाँ खन्ड

'जो स्वप्न मे परम आनन्द से विचरण करता है वही आत्मा है, वही अमर है, निर्भय है वही ब्रह्म है ।

"तब इन्द्र हृदय मे सन्तुष्ट होकर चले गये । किन्तु देवताओ के पास पहुँचने के पूर्व उनको यह कठिनाई जान पडी । यह ठीक है कि शरीर के अधे होने पर आत्मा अधी नही हो जाती है न लगडी हो जाती है जब शरीर लगडा होता है । यह भी ठीक है कि शरीर के दोषो के कारण आत्मा दूषित नही हो जाती है और शरीर पर आघात लगने से आत्मा को नही लगता है फिर भी यह उसी प्रकार है जैसे आत्मा को स्वप्नो म आघात किया गया और उसे भगा दिया गया । वह सचेतन भी हो जाता है कष्ट के कारण और आँसू बहाता है । इसलिये मैं इसम भी कोई भलाई नही देखता हूँ ।' (१)

'हाथ मे समिधा लेकर वे पुन शिष्य की भाति प्रजापति के पास गये । प्रजापति ने उनसे कहा "मघवा ! तुम अपने हृदय म सन्तुष्ट होकर चले गये थे । अब किस उद्देश्य स आये हो ?'

'उन्होने कहा' महोदय, यह ठीक है कि आत्मा अधा नही होती है यदि शरीर अधा हो जाता है । वह लगडो भी नही होती है जब शरीर लगडा हो जाता है । यह भी ठीक है कि शरीर के दूषित होने पर भो आत्मा दूषित नही हो जाती है और शरीर पर आघात होने पर आत्मा को आघात नही लगता और शरीर के लगडा होने पर आत्मा लगडी होती है फिर भी बात ऐसी लगती है कि स्वप्न म जैसे आत्मा को मारा गया हो, जैसे उसे भगा दिया गया हो । वह सचेतन भी हो जाता है । उस कष्टो का

इतना ही नहीं, हम देखेंगे कि वह खोज उनको और आगे ले गई। यह विचार कि ईश्वर पिता नहीं है फिर एक पिता के समान है और फिर पिता है वेद म बहुत पहले आ गया था। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र म जो अग्नि को सम्बोधित है हम पढ़ते हैं "हम पर दया करिये, जैसे पिता अपने पुत्र पर दया करता है" यही विचार बार-बार वैदिक मन्त्रा मे आया है। इसी प्रकार हम ऋग्वेद १,१०४,६ म पायेंगे" इन्द्र, हमारी (प्रार्थना) सुनिये एक पिता के समान।" ७,५४,२ म इन्द्र से कृपा करने की प्रार्थना की गई है जिस प्रकार पिता अपने पुत्रो पर कृपा करता है। पुन ऋग्वेद ८,२१,१४ मे हम पढते हैं "जब तुम घन गजन करते हो और मेघों को एकत्र करते हो तब तुम पिता के समान पुकारे जाते हो।" ऋग्वेद १०,३३,३ म "जैसे चूहे अपनी पूछ खाते हैं, कष्ट मुझे खा रह हैं मुझे तुम्हारे आराधक को, हे सर्व शक्तिमान भगवान, एक बार हे इन्द्र! मुझ पर दया करिये, पुत्र के लिये पिता के समान हो जाइये।' ऋग्वेद १०,६६, १० "जैसे पिता अपने पुत्र को अङ्क मे लेता है उसी प्रकार तुम उसे लेते हो।" ऋग्वेद ३,५३,२ "जैसे पुत्र अपने पिता का अचल पकडता है, मैं इस मधुर गीत द्वारा आपको पकडता हूँ।" वास्तव मे ऐसे देश बहुत ही कम हैं जो अपने भगवान या देवताओ को पिता का नाम नहीं देत हैं।

किन्तु यद्यपि प्राचीन आर्यों को अपने विश्वास के बाल्यकाल मे जैसा कि हमारे बाल्यकाल के विश्वास मे है, इससे सान्त्वना मिलती थी कि व भगवान को पिता कहते थे, फिर भी उन्होंने अनुभव किया कि यह भी मानवीय नाम है। सब मानवीय नामो की भाँति वह उस सम्बध मे तुलनात्मक रूप से कम अभिव्यक्ति करता है जो उसे करना चाहिये। हम अपने प्राचीन पूर्वजो से ईर्ष्या कर सकत हैं जैसे हम उस बालक से ईर्ष्या करत हैं जो इस विश्वास के साथ जीता है और मरता है कि वह एक मकान से दूसरे मकान को जा रहा है, एक पिता क पास स दूसरे पिता के यहाँ जाता है। किन्तु जैसे प्रत्येक बच्चा सयाना होने पर सीखता है कि उसका पिता भी एक बच्चा है, और जवान होने पर एक विचार छोडकर दूसरा ग्रहण करता है जो पहले पिता शब्द का अभिप्राय प्रकट करता था उसी प्रकार प्राचीन पूर्वजो ने भी सीखा। हम सबको भी सीखना है, कि पिता शब्द का विधेय बदलेगा यदि पिता शब्द को अब भी ईश्वर के लिये प्रयुक्त करना है। जहाँ तक वह मनुष्य के सम्बध मे प्रयुक्त है, वह ईश्वर के सम्बध मे प्रयुक्त होने योग्य नहीं है। जहाँ तक वह ईश्वर के सम्बध म प्रयुक्त है वह मनुष्य के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होने योग्य नहीं है। "पृथ्वी पर किसी को अपना पिता न कहो क्योंकि तुम्हारा पिता एक ही है जो स्वग मे है" मैथ २३, ६। तुलना जसे प्रारम्भ हुई थी वैस ही अस्वीकृति मे उसकी परिणति होती है। मनुष्य न अनन्त को जिस नाम से भी पुकारा हो, अग्नि, तूफान, वायु या स्वग, निश्चय ही पिता शब्द उन सबकी अपेक्षा

श्रेष्ठ है। उस अनन्त की उपस्थिति वह सर्वत्र अनुभव करता था। किन्तु पिता भी एक दुर्बल मानवीय नाम है। सम्भवतः सर्वोत्तम नाम वह है जो वैदिक कवियों ने दिया है। वह नाम भी उससे बहुत दूर है जिसकी धारणा व करते थे। वह उतनी ही दूर है जितना कि पश्चिम से पूर्व है।

प्रकृति के प्रत्येक भाग में प्राचीन आर्यों द्वारा अनन्त की खोज समझ लेने के बाद और उन्होंने जो नाम उनको दिये थे उनको भी समझ लेने के बाद, उसका प्रारम्भ हुआ था सरिता, पृथ्वी और पर्वतों से और समाप्ति हुआ स्वर्गीय पिता में—अब हम कुछ दूसरे विचारों के उद्गम पर विचार करते हैं जो प्रारम्भ में हमारी इन्द्रियों की अनुभूति से परे जान पड़ते हैं किन्तु जिनका मूल और उद्गम सान्त में है या प्राकृतिक ससार में है जिसकी हम उपेक्षा करते हैं, क्या ? इसका कारण बताना कठिन है। वह सर्वत्र है और अब भी राजमार्ग है जो हमें सान्त से अनन्त की ओर ले जाता है प्राकृतिक से अलौकिक की ओर ले जाता है और प्रकृति से प्रकृति के भगवान की ओर ले जाता है।

वेदों की धर्म-ध्वनि

इस चमत्कार पूर्ण ससार में अपने को रखने की कल्पना करके यह देखने का प्रयत्न हमने किया कि वे कौन से पदार्थ रहे होंगे जिन्होंने हमारे प्राचीन पूर्वजों को आश्चर्य चकित किया विमुग्ध किया और उनमें भय मिश्रित विस्मय का सचार किया। केवल देखने और आश्चर्य करने से किसने उनमें चेतना उत्पन्न की जागृति पैदा की जिससे वे अपने सम्मुख दृश्यों को देखकर गाने लगे, विचार करने लगे और गम्भीरतापूर्वक उन पर मनन करने लगे।

इसके बाद हमने अपने निष्कर्षों की वैदिक कवियों के मन्त्रों से तुलना की। उन मन्त्रों में धार्मिक विचारों का सकलन अपने प्राचीन रूप में सुरक्षित है कम से कम उस मानव वर्ग के लिये जिसमें हम हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि मानवी विचारों के प्रथम प्रभात और प्रशसा के प्रथम गीतों के बीच, जो शुद्ध छन्द में और अत्यन्त परिष्कृत भाषा में रचे गये एक बड़ा समय बीता होगा नहीं नहीं, अवश्य बीता था जो पीढ़ियों का सैकड़ों का नहीं, हजारों वर्षों का रहा रहेगा। फिर भी मानवीय विचारों का क्रम इस प्रकार चलता रहा कि एक बार मानवीय भाषा पर अधिकार पा लेने के बाद, वैदिक मन्त्रों की सतर्क समीक्षा ने हमें वही निष्कर्ष दिये जो आशातीत थे।

वही पदार्थ, जिनको हमने छाँट लिया था जो मस्तिष्क पर यह प्रभाव डाल सकते थे कि सम्मुख दृश्यमान पदार्थ से अधिक की भावना उत्पन्न हो सकती था, दृश्यमान से अधिक, श्रव्य से अधिक और अनुभव से अधिक की भावना उठ सकती थी,

वास्तव में, वेदो के अनुसार खिडकियाँ सिद्ध हुई जिनसे प्राचीन आर्यों ने प्रथम बार अनन्त को झाँका।

अनन्त की प्राचीनतम भावना

जब मैं अनन्तता कहता हू तो हम अन त को मात्रा-पूरक अर्थ मे ही नही लन है, जैसे अन त (अत्यधिक) छोटा या बडा। यद्यपि अनन्त की यह भावना साधारणतय प्रचलित है फिर भी यह बहुत खोखली और ओछी है। प्राचीन आर्यों के लिये अनन्त का रूप बदलता गया प्रत्येक सा त पदार्थ के रूप क साथ ही, जो उसका आधार थ या पृष्ट भूमि थी। मनुष्य की चेतनता म, जितना ही अधिक दृश्यमान, श्रव्य, या सान्त था उतना ही कम अदृश्य, अश्रा य या अन त था। इन्द्रिया की पहुँच जैस बदलती गयं वैसे ही यह स देह बदलता गया कि इनकी पहुँच के आगे क्या होगा?

उदाहरण के लिये एक सरिता या पर्वत की भावना म प्रभात या घन गर्जन और वायु की अपेक्षा कम अन त का पृष्ठभूमि की आवश्यकता होगी। ऊषा प्रत्येक प्रभात मे आती है किन्तु वह क्या है और कहाँ से आती है यह कोई नही बता सकत है। 'वायु अपनी इच्छानुसार बहती है। तुम केवल उसकी आवाज सुनते हो, यह नहं बता सकत हो कि वह कहाँ स आती है और कहाँ जाती है।' सरिता की बाढ से य पर्वत खण्ड टूटने से जो विनाश होता था उसे समझना सरल था, किन्तु यह समझन कठिन था कि तूफान आने के पूर्व वृक्षो को झुकाता कौन था और वह कान था जो घन गजन और तूफान म पर्वतों को हिला देता था और मकानो को विध्वस्त कर देता था

इसलिये तथा कथित अर्द्ध देवता जो सदैव अधिकाश मे इन्द्रियो द्वारा प्राप्य बन रहे, उस नाटकीय रूप को प्राय नही ही प्राप्त कर सके जो उनको दूसरे देवताओ स भिन्न रखता है। उन देवताओ म भी वे देवता जो नितान्त अदृश्यमान थे और जिनक प्रतिनिधि रूप प्रकृति मे कुछ नही था जैसे इन्द्र, वर्षा दाता रुद्र, घन-घोष करने वाल मारुत, तूफान के देवता, और वरुण भी, शीघ्र ही प्रकाशमान आकाश, ऊषा या सूर्य से अधिक व्यक्तिगत और धार्मिक रूप ग्रहण करते हैं। इनक साथ ही इन सत्ताओ क जो अनन्त या अलौकिक रूप है सरलता से मानवीय रूप ले लता है। उनको अनन्त नही पुकारा गया वरन् अजेय, सब रापी, सवज्ञ, सवशक्तिमान कहा गया और अन्त मे अनन्त ऐस सूक्ष्म नाम दिय गय। मैं कहता हूँ हम इसी की आशा थी। साथ ही मैं यह भी कहता हू कि यह आशा की प्रवृत्ति बहुत भयकर है।

विचार क नवीन स्वर की खोज करने म सर्वोत्तम यही है कि पहले से आशा न की जाय। क्वल तथ्य एकत्र किये जाय जो मिल उन्ह स्वीकार किया जाय और उन विचारो और तथ्यो को पचाया जाय।

अदित्य अनन्त

आरंभ आश्चर्य हुआ होगा जैसा मुझे हुआ था जब मुझे यह तथ्य ज्ञात हुआ कि वेद में एक देवता है जिसका नाम अनन्त या सीमाहीन है संस्कृत में उसे अदिति कहते हैं।

अदिति, दिति से निकला है निषेधात्मक विशेषण आ लगा है। दिति मूल धातु से निकला है जिसका अर्थ है बांधना। दिति का अर्थ बंधा हुआ। इसलिये अदिति का प्रारम्भिक अर्थ रहा होगा बन्धन हीन, मुक्त, शृंखला हीन अनन्त अनन्तता इसी धातु के ग्रीक में 'दा' है जिसका अर्थ है सिर के चारों ओर बांधना। दिति ग्रीक में 'दाम' और 'अदिति' 'अदाम' होगा।

यह कहा जा सकता है कि अदिति नाम का देवता जिसका अर्थ अनन्त है बहुत बाद में उत्पन्न हुआ। जो है उसे समझना अधिक बुद्धिमानी है उसकी कल्पना की अपेक्षा जो होना चाहिये। अनन्त की शुद्ध और सूक्ष्म भावना आधुनिक ज्ञात पड़ती इसलिये हमारे अनेक वैदिक विद्वान उस बात को सूक्ष्म रूप कहते मान लो सूर्य देवताओं के भी आदित्यों के पुत्रों के नाम के लिये आविष्कृत हुआ। अदिति के लिये अलग से मन्त्र नहीं हैं इसलिये उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि अदिति वैदिक कविता के बाद के काल में आयी।

द्यौस के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है जो ग्रीक शब्द ज्यास के समकक्ष है। यह अदिति से भी कम है आया।

किन्तु यह नया आविष्कार नहीं है। हम जानते हैं कि भारत में जब संस्कृत का एक शब्द भी नहीं बोला जाता था तब यह था या यूनान में ग्रीक के प्रचलन के पहले वह था। यह वास्तव में आर्यों का प्राचीनतम देवता है जिसका स्थान बाद को इन्द्र रुद्र, अग्नि और दूसरे शुद्ध भारतीय देवताओं ने लिया।

अदिति आधुनिक देवता नहीं

अदिति के सम्बन्ध में भी यही बात है। उसका नाम द्यौस, आकाश, पृथ्वी, विष्णु, सविता आदि आदिम कालीन देवताओं के साथ आता है। वह आदित्यों की काल्पनिक माता नहीं है वरन् सब देवताओं की माता है। इसे समझने के लिये हम उसके जन्म स्थान का पता लगाना चाहिये। अदिति नाम कैसे पड़ा, अनन्त सीमाहीन। प्रकृति में दृश्यमान कौन पदार्थ था जिसे प्रारम्भ में यह नाम दिया गया।

अदिति का प्राकृतिक प्रारम्भ

मेरा विश्वास है कि इसमें सन्देह नहीं है कि अदिति, अनन्त नाम ऊषा के प्राचीनतम नामों में हैं, या उसे और भी शुद्ध भाषा में कहें तो आकाश के उस अंश का नाम है जहाँ से प्रत्येक प्रभात में संसार का जीवन और प्रकाश प्रस्फुटित होता है। ऊषा को देखिये और कुछ क्षण के लिये अपनी नक्षत्र-विद्या भूल जाइये। मैं पूछता हूँ जब

रात्रि का घन पटल धीरे धीरे हटता है, वायु मन्द-मन्द और स्वच्छ चलने लगती है, प्रकाश का आगमन प्रारम्भ होता है, पता नहीं कहाँ से, तब क्या यह अनुभव नहीं होगा कि हमारे नेत्र, वहाँ तक देख सकते है जहाँ तक और फिर भी असफल अनन्त के नेत्रा मे ही देख रहे है ? प्राचीन द्रष्टाओ को ऊषा दूसरे लोक का स्वर्णिम द्वार खोलती दिखायी देती थी और जब ये द्वार सूर्य की विजय के उपलक्ष म खुल जात थ तब उनक मस्तिष्क सरल बालका की भाँति इस सान्त जगत के आग घुसते थे। प्रभात आता था और जाता था किन्तु उसके पीछे सदैव प्रकाश और अग्नि का समुद्र रह जाता था। जहाँ स वह आता था। क्या यह दृश्यमान अनन्त नही था ? और इससे अच्छा नाम और क्या दिया जा सकता था जो वैदिक कवियो न दिया, अदिति, अनन्त, सीमाहीन, सबसे आगे और सब स परे।

इस प्रकार हम देखत हैं कि वह देवता, जो हम इतना सूक्ष्म जान पडता था कि प्रकृति म उसके जन्म स्थान का कुछ पता नही लगता था और आधुनिक समझा जाता था कि हम उसे वेद मे न होने की बात कहते थे हिन्दू मस्तिष्क (१) का सर्वप्रथम सृजन था। बाद के युग म अनन्त अदिति आकाश मे समाविष्ट हो गया होगा, पृथ्वी के अर्थ मे भी प्रयुक्त होने लगा होगा किन्तु प्रारम्भ मे वह आकाश और पृथ्वी से बहुत परे था। हम मित्र और वरुण को, जो दिन और रात के प्रतिनिधि थे, सम्बोधित ऋचा (२) म पढ़त हैं 'ओ मित्र और वरुण तुम अपने रथ पर चढत हो जो सूर्योदय के प्रथम ऊषा काल म स्वर्ण मडित है और सूर्यास्त (३) के समय लोह दड सयुक्त है। वहाँ से तुम अदिति और दिति को दखते हो।" अर्थात् जो दूर है और जो निकट है, जो अनन्त है और जो सान्त है, जो मरणशाल है और जो अमर है।

दूसरा कवि ऊषा को अदिति (४) का मुख कहता है। इससे यह प्रकट होता है कि अदिति स्वय ऊषा नही है वरन् ऊषा के परे कुछ है।

---

(१) मैंने अपने ऋग्वेद सहिता के अनुवाद मे खड १, पृष्ठ २३०-२५१ मे अदिति के सम्बन्ध म विवरण सहित लिखा है। डा० अल्फ्रेड हिले ब्राद का एक उत्तम निबन्ध है "उबर द गोटिन अदित" १८७६। के पृष्ठ ११ मे इस शब्द का मूल 'दा' बताते हैं जिसका अर्थ बाधना किन्तु व अदिति को अक्षय के अथ में लेना अधिक पसन्द करते हैं और उसे सवव्यापी के अर्थ म लने से रोकते हैं।

(२) ऋग्वेद ५, ६२, ८।

(३) प्रभात के प्रकाश और सन्ध्या क प्रकाश का अन्तर दो रगो से व्यक्त किया गया है, सोना और लोहा।

(४) इबिड १, ११३, १८।

सूर्य और समस्त सूर्य देवता पूर्व से उत्पन्न होते हैं, इसलिये हम समझ सकते हैं कि अदिति को प्रकाशमान देवताओं की माता क्यों कहा गया, विवस्वत मित्र और वरुण की माता (ऋग्वेद १०,३६,३) अर्यमा और भग की और अन्त में सात या आठ आदित्यों की माता क्यों कहा गया। पूर्व से उत्पन्न होने वाले सभी सूर्य-देवता कहे जाते हैं।

सूर्य आदित्य कहलाता है (ऋग्वेद ८ १०१ ११) और 'महान असि सूर्य' 'आदित्य महान असि' कहा गया है। आदित्य भी कहा गया है (ऋग्वेद १० ८८ ११)।

इन पुत्रों के नामों के कारण हो, निस्सन्देह अदिति का स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया गया। वह माता है शक्तिशाली भयानक और सम्राट पद वाले उसके पुत्र हैं ऐसे भी पद हैं जिनमें अदिति को पुरुष देवता माना गया है। या एक सत्ता के रूप में समझा गया है।

अदिति का अधिक सम्बन्ध उषा से है किन्तु उसकी उपासना केवल प्रातःकाल ही नहीं मध्याह्न काल में भी की गयी है और सन्ध्या के समय भी की गयी है। (१)

अथर्ववेद में (१०,८ १६) जब हम पढ़ते हैं जहाँ से सूर्य उदय होता है और जहाँ वह अस्त होता है मैं विचार से वह प्राचीनतम है। उसके आगे कोई नहीं जाता है।' तब प्राचीनतम का अनुवाद हम अदिति कर सकते हैं। अदिति की शीघ्र ही पूजा होने लगती है, आदर दिया जाने लगता है। उससे प्रार्थना की जाती है कि वह अन्धकार को दूर हटावे और शत्रुओं को भगावे जो अन्धकार में विचरण करते हैं। इतना ही नहीं यह भी प्रार्थना की जाती है कि वह मनुष्य की प्रत्येक पाप से रक्षा करे जो उसने किया हो।

अन्धकार और पाप

ये दो विचार अन्धकार और पाप, जो हम अलग जान पड़ते हैं पुराने आर्यों के मस्तिष्क में निकट से सम्बन्धित थे। मैं कुछ उद्धरण यह स्पष्ट करने के लिये दे रहा हूँ कि प्रायः एक विचार, शत्रुओं का भय दूसरा भय पाप का सम्मुख लाता है जिसे हम अपना सबसे बड़ा शत्रु कह सकते हैं।

"ओ आदित्य गण। (२) हम बेड़ियों के मुख से बचाओ एक बन्धन युक्त चोर की भाँति ओ अदिति।' अदिति (३) दिन में हमारे पशुओं की रक्षा करे वह जो कभी धोखा नहीं देती रात्रि में हमारी रक्षा करे। वह निरन्तर पाप से हमारी रक्षा करती रहे (अंह सह पाप की चेतना से उत्पन्न कठवरोध चिन्ता)। और धीमान

(१) इबिड ५, ६९, ३।
(२) ऋग्वेद ८ ६७ १४।
(३) इबिड ८,१८ ६,७।

अदिति दिन में हमारी सहायता करे। वह कृपा कर हम पर सुख की वर्षा करें शत्रुओ को भगावे ।

पुन "अदिति, (१) मित्र और वरुण हमारे सब पाप क्षमा करे जो हमने किये हो। हम विस्तृत अभय प्रकाश मिले। ओ इन्द्र ! दीघ कालीन अधकार हमारे निकट न आवे। अदिति हमे निष्प्राण (२) करे।

अदिति की भावना स एक और विचार स्वाभाविक रूप से उठा है। हम जहाँ भी जात हैं, कि भविष्य जीवन की एक कल्पना, सर्य और दूसरे आकाशीय नक्षत्रो के (३) प्रतिदिन आने और जाने से उत्पन्न हुई। हम आज भी कहत हैं "उसका सूय अस्त हो गया। यह माना जाता था कि सूय का जन्म प्रात होता है और मृत्यु शाम को होती है। यदि उसे अधिक जीवन दिया जाता था तो केवल एक वष का। उसके बाद सूय की मृत्यु हो जाती थी। जैसा हम आज भी कहत हैं "पुराना वष मर गया।" उनका विश्वास यह भी था कि जो मर जात हैं वे पश्चिम को जात हैं।

अमरतत्व

इसके साथ ही एक विचार और उठा। प्रकाश पूर्व से आता है। इसलिये पूव दिशा अनेक प्राचीन राष्ट्रो क लिये देवताओ का निवास मानी गयी। जहाँ अमर सदेव निवास करत हैं। जब यह विचार एक बार उठा कि पुण्यात्मा मनुष्य देवताओ के साथ निवास करते हैं तब व भी पूर्व दिशा वासी माने गये।

इसी प्रकार के कुछ अथ म हम देखते हैं कि अदिति को अमर लोगो का जन्म स्थान कहा गया है। इसी भाव म एक वदिक कवि ने गाया है। महान अदिति के पास हम पुन कौन पहुँचायेगा, जिससे हम अपने पिता माता को देख सके ? क्या यह अमरत्व की एक सुदर सूचना नही है जो सरल है परन्तु पूणत स्वाभाविक है यदि आप देखें कि यह प्रगति कैसे हुई जो प्रतिदिन जीवन की घटनाओ द्वारा निर्देशित थी और जिसे भावनीय हृदय की उद्‌बुद्धता ने वाणी दी थी, जिसे दूसरा सहायक सुलभ नही था।

यही बडा पाठ हमे वेद सिखाते हैं। हमारे सारे विचारो, का प्रकटत अत्यन्त सूक्ष्म विचारो का भी, समारम्भ प्रतिदिन की होने वाली घटनाओ से हुआ जो हमारी इन्द्रियो के सम्मुख घटित होती थी, कुछ समय के लिये मनुष्य प्रकृति की इन प्रकारो से असावधान रह सकता है किन्तु वे बार-बार आती है, प्रतिदिन आती हैं प्रत्येक रात्रि को घटित होती है। अन्त मे उनकी ओर घ्यान देना ही पडता है। एक बार उन पर घ्यान

(१) इग्विड २,२७,१४।
(२) इग्विड १,१६८,२२।
(३) एच० स्पेंसर' 'सोशालाजी' १ पृष्ठ २२१।

देने से वे अपना आशय बराबर स्पष्ट करती जाती हैं। और जो पहले केवल सूर्योदय जान पड़ता था वह अन्त में अनन्त का दृश्यमान अवतरण बन जाता है। सूर्य का अस्त होना भी अमरत्व की पतली झलक देता है।

वेद म दूसरे धार्मिक विचार

अब हम उन विचारों में से एक और विचार की समीक्षा करें जो अत्यन्त सूक्ष्म और कृत्रिम जान पड़ता है, मानव विचार की अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था म उसे मानना कठिन जान पड़ता है किन्तु जो वेद के निर्णय के अनुसार मनुष्य के हृदय में उसके बौद्धिक विकास-स्तर पर सबसे पहले निकला था। मैं वेदों को उससे अधिक, कालीन नही मानना चाहता जितने वे वास्तव म हैं, मैं अच्छी तरह जानता हूँ उसके पूर्व का मध्यकालीन युग क्या था। उस पुरातन युग मे परत पर परत हैं, इतने कि उनका गिनना असम्भव हो जाता है। अन्त म हम मानवीय विचार के इस धीरे धीरे और बहु-कालीन विकास के सम्बन्ध म आश्चय मे डूब जाते हैं। जो आधुनिक जान पड़ता है उसी के पार्श्व म ऐसा भी है जो पुरातन और आदि कालीन लगता है। और यहाँ हम पुरातत्व शास्त्र से सबक सीखना चाहिये और प्रारम्भ से ही विचारों के परस्पर विरोधी कालों का सिलसिला तै नही कर लेना चाहिये। बहुत समय तक पुरातत्व शास्त्रियो ने सिखाया कि पहले पत्थर का युग था जब कि कासा या लोहे के अस्त्र नही मिलते थे। उसके बाद कासे का युग आया। कब्रों म कासा और पत्थर के हथियार मिलते हैं। लेकिन लोहे के नही। अन्त मे कहा जाता है कि लोहे का युग आया जब कि लोहे के हथियारो का प्रचलन था। लोहे के हथियारों ने पत्थर और कासे के हथियारो का स्थान पूर्णत ग्रहण कर लिया।

तीन कालो के इस सिद्धान्त मे जिसम उपकाल भी थे वास्तव मे बहुत कुछ सत्य है। किन्तु जब इसे पुरातत्व शास्त्र के पूर्वाग्रह रूप म स्वीकार कर लिया गया तो इससे बहुत समय तक दूसरे पूर्वाग्रहों की भाँति स्वतन्त्रता अध्ययन और समीक्षा मे बाधा पडी। अन्त मे यह पाया गया कि सिलसिलेवार या तत्कालीन धातु का प्रयोग स्थानीय परिस्थितियो पर निर्भर था और जहाँ खनिज पदार्थ, लोहा आदि सहज सुलभ रूप मे उपस्थित थे वहाँ लोहे के हथियार मिल सकते थे और मिले, पत्थर के हथियारों के साथ ही और कासे की कारीगरी के पहले भी।

हमे इससे सावधान रहना चाहिये और यह न मान लेना चाहिये कि क्रमशः बौद्धिक काल आये। ये सिद्धान्त पहले से स्थिर कर लेना ठीक नहीं है। वेदो म ऐसे विचार हैं जो अत्यन्त अच्छे और प्रारम्भिक जान पड़ते हैं जैसे पत्थर आदि के हथियार किन्तु उनके पार्श्व मे ही इतने सूक्ष्म और तीव्र बुद्धि के विचार हैं जो कासा और लोहे

के समान चमक रखते हैं। इससे क्या यह कहा जायगा कि उज्वल और सुन्दर विचार आधुनिक है अथिक आधुनिक है, भद्द ढग से काटे गये हथियारो की तरह दूसरे विचार उनकी तुलना मे कम हैं। ऐसा हो सकता है किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि कारीगर कौन है? उनका रचयिता कौन है? प्रत्येक काल मे प्रतिभा रही है। प्रतिभा पर समय या काल का बधन नहीं लग सकता है। उस मनुष्य के लिये, जो आत्म विश्वास रखता है और अपने चतुर्दिक ससार मे भी विश्वास रखता है, हजारो समीक्षाओ और अनुभूतियो की अपेक्षा केवल एक झलक अधिक पर्याप्त है। सच्चे दार्शनिक के लिये, प्रकृति का वातावरण, उसे दिये गये नाम, उसके प्रतिनिधि देवता, प्रभात के कोहरा के समान एक ही विचार मे सब विलीन हो जाते हैं और वह घोषणा करता है वेद का जो काव्यमय भाषा मे केवल एक है, यद्यपि कवि उसे अनेक नामो से पुकारते हैं। "एक सद्विप्रा बहुधा बदन्ति।"

इसमे सन्देह नही है और हम कह सकते हैं कि कवियो के अनेक नाम पहले आये होगे और फिर दार्शनिको ने उन्हे हटाया होगा। यह ठीक है किन्तु कवि युगो तक इन्द्र, वरुण, मित्र या अग्नि की आराधना मे मन्त्र लिखते रहे होगे और उसी समय भारत के दार्शनिक विरोध करते रहे होगे जैसे हेराक्लिटोज ने विरोध किया और व्यर्थ मे विरोध किया, देवताओ की अनेक कथाओ का, उनके नामो का और मन्दिरो का भी।

ऋत का विचार

यह प्राय कहा गया है कि आदिम कालीन लोगो मे ऋत के विचार का अभाव था। ग्रीक और लेटिन मे भी ऋत (नियम) का सामान्य' के समानार्थक शब्द पाना कठिन है। ड्यूक आफ आरगिल की एक पुस्तक का यह शीर्षक था। यह विचार, अपने पहले के अर्द्ध चेतन रूप मे वेद मे उतना ही प्राचीन है जितना कोई भी विचार। अचेतन सृष्टि की बात बहुत की गयी है। उसका अतिरजित वर्णन किया गया है।

फिर भी बहुत सा मानसिक कार्य हो रहा है उसे हम अचेतन कह सकते हैं— मानसिक कार्य जिसे अभी भाषा मे प्रकट नही किया जा सका है। इन्द्रियो हजारो अनुभूतियाँ प्राप्त करती रहती हैं। उनमे से अनेक पर ध्यान नहीं दिया जाता है और ऐसा जान पडता है स्मृति पटल से सदा के लिये उनको साफ कर दिया गया है। किन्तु वास्तव मे पूर्ण रूप से कुछ भी साफ नही किया जा सकता। शक्ति-सरक्षण का सिद्धान्त इसे अस्वीकार करता है। प्रत्येक अनुभूति अपना चिह्न छोड जाती है, बार बार आवृत्ति से ये चिह्न घने हो जाते हैं और अन्त मे धुधले चिह्नो के स्थान पर स्पष्ट रेखाएं बन जाती हैं और अन्त मे वही हमारे मानसिक जगत के सम्पूर्ण धरातल प्रकाश, छाया और सामान्य रूप का निर्णय करती है।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि जब प्रकृति के महान और प्रभावशाली दृश्यमय, मास प्रशंसा और आनन्द मानव मस्तिष्क में उत्पन्न कर रहे थे तब एक ही दृश्य के प्रति दिन घटित होने से, रात्रि और दिवस के अचूक आगमन में चन्द्रमा के प्रतिपल घटने बढ़ने से, ऋतुओं के परिवर्तन में और नक्षत्रों के गतिपूर्ण नृत्य में, एक भावना की वृद्धि हो रही थी विश्रान्ति की सुरक्षा की भावना जो पहले करल थी उसे व्यक्त करना कठिन था पर फ्रेंच या इटैलियन में अपना पर समझने की भावना कह सकते हैं। एक प्रकार की अचेतन अवस्था किन्तु जो धारणा का रूप लेने की क्षमता रखती थी जब अनेक अनुभूतियाँ समाविष्ट हुई एक ही भावना में और जब उनकी धारणा सम्भव हुई तब उनकी अभिव्यक्ति भाषा में हो सकी।

यूनान और रोम के पुराने दार्शनिकों में यह भावना अनेक प्रकार से व्यक्त हुई है। जब हेराक्लिटोज ने कहा था कि सूर्य या हेलिओज सीमा से बाहर नहीं जायगा तब उसका क्या अभिप्राय था? इसका अर्थ तो यही हुआ कि जो मार्ग सूर्य के लिये निश्चित किया गया है उससे हटेगा नहीं। और जब उसने कहा कि 'एरिनीज सत्य के समर्थक आश्रय दाता उसे जान लेंगे यदि वह मार्ग से हटेगा तब क्या अभिप्राय था? इससे अधिक स्पष्ट और कुछ नहीं हो सकता कि वह एक नियम को, ऋत को स्वीकार करता था जो प्रकृति के सम्पूर्ण क्रिया कलाप में व्याप्त है। उस नियम को 'हेलिओज' सूर्य या दूसरे प्रकाश देवताओं को मानना पड़ता है। यूनान के दर्शन में यह विचार बहुत प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ। जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है मैं समझता हूँ कि इसमें हम भाग्य या यूनानी मोयरा के बीजांकुर पा सकते हैं।

रोम के दार्शनिकों में अति प्राचीन और मौलिक विचारों के मिलने की आशा नहीं है फिर भी मैं सिसरो की एक प्रसिद्ध उक्ति उधृत करता हूँ जो हेराक्लिटोज के विचार का सच्चा उपयोग है। सिसरो का कहना है कि मनुष्यों को स्वर्गीय सत्ताओं पर केवल विचार और धारणा ही नहीं करनी है, उनको अपने जीवन में उतारना है। उस नियम व्यवस्था और क्रम से अपने जीवन को बनाना मुख्य अभिप्राय है। यह ठीक वही बात है जिसे वेद के कवियों ने अपनी सरल भाषा में व्यक्त करने का प्रयास किया है।

अब हम पुनः वही प्रश्न करते हैं जो हमने अनन्त के विचार के बीजांकुर खोजने में किया था। प्रकृति में नियम, व्यवस्था या क्रम के विचार का जन्म कहाँ हुआ? उसका प्रथम नाम क्या था? उसकी पहली सचेतन अभिव्यक्ति क्या थी?

मेरा विश्वास है कि वह संस्कृत का ऋत शब्द था। यह शब्द भारत की समस्त धार्मिक कविता का गम्भीर और मुख्य शब्द है, कर्त्ता सङ्गीत की टेक है यद्यपि ब्राह्मणों के प्राचीन धर्म पर लिखने वालों ने शायद ही इसे व्यक्त किया है।

सस्कृत ऋत

समस्त देवताओ को जो विशेषण दिये गये हैं वे ऋत से निकले हैं। उनका *अभिप्राय है दो विचारो को व्यक्त करना।* पहला विचार यह है कि देवताओ ने प्रकृति मे नियम, व्यवस्था स्थापित की और प्रकृति उनकी आज्ञा मानती है। दूसरा विचार यह है कि एक नैतिक नियम है जिस मनुष्य को मानना चाहिये। उस नैतिक नियम को तोडने पर देवता दड देते हैं। ऐसे विशेषण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इनसे प्राचीन भारत के धर्म का रहस्य खुलता है। देवताओ के केवल नाम और प्रकृति के दृश्यो से कुछ सम्बन्ध, *अधिक काम नही देते। किन्तु उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने मे अनेक* बाधाये हैं।

ऋत ऐसे शब्दो के मुख्य, गौण या सहायक अर्थ कभी-कभी एक ही मत्र मे मिलते हैं। कवि को स्वय उनका भेद न ज्ञात होगा। दूसरे भाष्यकार उसे शायद ही कर सके जो वह स्वय नही कर सका। जब हम नियम की बात करते हैं तब क्या *स्पष्टत समझते हैं कि उसका अर्थ क्या है? क्या हम यह आशा रखते हैं कि* आधुनिक दार्शनिको से प्राचीन कवि अधिक स्पष्ट और यथार्थ वक्ता एव विचारक थे।

इसमे सन्देह नही है कि अधिकांश स्थानों मे जहाँ ऋत आया है उसका अस्पष्ट और साधारण अर्थ नियम, व्यवस्था, पवित्र रीति या बलिदान बिना किसी विरोध के किया गया है किन्तु यदि हम वेदो के मन्त्रो के किसी भाषा को देखे और स्वय पूछें कि *इन बडे अर्थ वाले शब्दो के हम क्या अर्थ निश्चित रूप से लगा सकते हैं तो हमे अपनी* पुस्तक निराशा से बन्द कर देनी पडेगी। यदि अग्नि या दूसरा सूर्य कक्ष का देवता दैवी सत्य (ऋत) की प्रथम सतान कही जाती है तो इस भाषा का आशय क्या होगा? सौभाग्य से ऐसे पदो की पर्याप्त सख्या बची है जिनमे ऋत शब्द आया है और इससे हमे इस शब्द के क्रमिक विकास और अर्थ के जानने मे सहायता मिलती है।

इसमे सन्देह नही है कि *ऐसी प्राचीन इमारत के पुनर्गठन मे अनुमान की* आवश्यकता अनिवार्य है। मैं अपने विचार प्रस्तुत करता हूँ कि ऋत शब्द का मूल आधार क्या था? उसके ऊपर बाद के काल मे कैसी इमारत बना ये विचार अनुमान मात्र हैं और प्रथम प्रयास हैं।

ऋत का प्रारम्भिक अर्थ

मेरा विश्वास है कि ऋत का प्रयोग प्रारम्भ में सूर्य और समस्त आकाशीय पिण्डो की निश्चित गति को व्यक्त करने के लिये किया गया। वह ऋ क्रिया से बना है। इसका अर्थ हो सकता है जुडा हुआ, स्थिर किया हुआ गया हुआ, जाता हुआ, जाने का मार्ग। मैं दूसरा अर्थ ठीक मानता हूँ और दूसरे शब्द निरुक्ति मे इसका मूल पाता

हैं जिसका अथ है बाहर जाना। फिर उसका अथ होता है क्षय, नाश, मृत्यु, विनाश का स्थल गर्त और बाद मे अनृत, नरक की माता।

सूर्योदय से सूर्यास्त तक सूय का चलना यात्रा, यात्रा का मत्र, फिर ऊषा का उदय होना, रात्रि दिवस का क्रम, उनके अनेक प्रतिनिधि, यात्रा का ऐसा मत्र जिसमे रात्रि या दिवस बाधा नही डाल सक्ते, ये सब ऋत (सत्य) गतियाँ कही जायगी, इनको ऋत (अच्छा) कर्म कहा जायगा और ऋत पथ माना जायगा।

प्रतिदिन की गति या वह पथ जिस पर यात्रा होती थी इतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना कि प्रारभिक दिशा, आदेश जो उसका निर्णय करता था, वह बिन्दु जिससे यात्रा प्रारभ होती थी और जहाँ समाप्त होती थी। वैदिक कवियो के विचारो मे इसका प्रमुख स्थान था जब वे ऋत की बात कहते थे। इसलिये वे ऋत (सत्य) पथ की बात करते हैं। जिसका सीधा और सरल अर्थ सत्य प थ होता है, इसम स देह का स्थान नही है। किन्तु इसका निर्देशन वह अनातशील करती थी जिसे समझने के लिये ऋत नाम दिया गया था था।

✓ यदि आप स्मरण करें कि अदिति, निस्सीम, पहले पूर्व क अर्थ मे प्रयुक्त था जो प्रत्येक प्रभात मे आकाश से जहाँ से सूय प्रतिदिन अपनी यात्रा प्रारभ करता था, अनन्त दूरी का पट खोलता था, तब आश्चय नही होगा कि ऋत, वह स्थान या शक्ति जो सूर्य का पन्थ निर्देशन करती है वेद मे प्राय अदिति का स्थान ग्रहण करता है। हम देखते हैं कि सूर्य को ऋत का उज्वल मुख कहा गया है। इतना ही नही, ऐसी प्रार्थनायें मिलती हैं जिनमे महान ऋ को पृथ्वी और आकाश म अदिति के बाद दूसरा स्थान मिलता है। स्पष्टत ऋत का निवास पूर्व म है जहाँ पर, प्राचीन कथा के अनुसार, प्रकाश लाने वाले देवता प्रत्येक प्रभात म अधकार की गुफा भेदते माने जाते हैं, वह गुफा डाकू का निवास स्थान है। वहाँ से वे धेनुओं को निकालते हैं। जिसका अर्थ है दिन। प्रत्येक दिन को एक धेनु माना गया है। धीरे धीरे गुफा स जो अत्यन्त तिमिराच्छन्ना है, वे निकलती हैं और पृथ्वी तथा आकाश के विस्तार चरागाह म जाती हैं। जब यह उपमा और कल्पना बदल जाती है तब सूय को अपने घोडा की जीन लगाम लगाते माना गया है फिर वह ससार म अपनी यात्रा पर निकलता है। तब ऋत का वह स्थान कहा गया है। जहाँ घोडे खोल दिये जाते हैं। कही कही पर यह कहा गया है कि ऊषा ऋत के गभ म रहती है। इस सम्बन्ध म अनेक कथायें हैं। किस प्रकार ऊषा को मुक्ति प्राप्त की गयी या कैसे ऊषा ने इन्द्र आदि देवताओं की सहायता को ओर चुराये हुये पशुओ को पुन प्राप्त किया। या चुराये गय धन को फिर से लौटा लिया जो रात्रि क गहन अधकार गत म छिपा था।

सरमा की कथा

सबसे प्रसिद्ध कथा इन्द्र का है। उन्होने पहले सरमा को दिन की प्रथम किरण वेला मे यह पता लगाने के लिये भेजा कि धेनुयें (गाये) कहाँ छिपी हैं। जब सरमा ने धेनुओं का रंभाना सुना तो उसने इन्द्र से बताया। इन्द्र ने उन डाकुओं से युद्ध किया और उज्वल धेनुओं को वापस लिया। यह सरमा बाद का इन्द्र की कुतिया हुई। उसके पुत्रो के नाम मातृपक्षीय सरमेय हुये जिनको प्रोफेसर कुहन ने इरमियाज या इरमीज के समकक्ष बताया है। यह प्रथम सकेत था जो तुलनात्मक पुराण शास्त्रियो को और धर्मज्ञो को सत्य पथ दिखाता था। 'पथ ऋतस्य' बताता था। प्राचीन अर्थ धर्म शास्त्र मे गहनगतों मे सत्य पथ बताने वाला यह सकेत अत्यन्त महत्वपूर्ण था। यह सरमा, यह उषा की प्रथम सूचिका, कहते हैं, धेनुओं का पता लगा सकी। वह 'ऋत के पथ मे गयी, सत्य पथ पर पहुँच गयी या ऋत के पथ मे जाने से उसे पता लगा। एक कवि कहता है जब सरमा को चट्टान मिल गयी तो उसने उस पुराने मार्ग को एक विन्दु की ओर ले जाने वाला बनाया। क्षिप्र गामी पथो से उसने मार्ग प्रदर्शन किया। अविनाशी (धेनुआ दिवस) की ध्वनि वह जानती थी, वह पहले वहाँ गयी। (ऋग्वेद ३,३१,६)

पिछले पद मे उस पथ को जिस पर देवता और उनके साथी चलते थे, धेनुओ को वापस लेने के प्रयास मे (दिन के प्रकाश को) ऋत का पथ कहा गया है किन्तु दूसरे स्थान पर यह कहा गया है कि इन्द्र और उसके मित्रो ने वला डाकू को और उसकी गुफा को तोड फाड डाला और ऋतको प्राप्त किया, सत्य स्थान पाया।

उस सत्य, अचल, अनन्त स्थान का इसी प्रकार वर्णन है जहाँ से देवताओं ने स्वर्ग और पृथ्वी दृढता से स्थापित की होगी। वरुण का यह कहते हुये परिचय दिया गया है "मैंने ऋत के स्थान मे आकाश की स्थापना की" और बाद मे ऋत को सत्य की भाँति उन सबका आधार माना गया है जो दृष्टिगोचर होता है जिसका अस्तित्व है— सम्पूर्ण विश्व का आधार।

ऋत का पथ बार बार आता है उसका अनुगमन ऊषा करती है, या सूर्य करता है या दिन और रात करते हैं और उसका अनुवाद साधारण सत्य का पथ या सत्य पथ ही हो सकता है।

इस प्रकार हम ऊषा के सम्बन्ध मे पढ़ते हैं

"वह ऋत के पथ पर चलती है। सत्य पथ उसका है। जैसे वह पहले ही से उसे उस जानती थी। वह उसके बाहर कभी नही जाती हैं।"

"ऊषा का जन्म आकाश मे हुआ है। वह ऋत पथ मे प्रकट होती है। वह निकट

आती है और अपना वैभव प्रकट करती है। उसने दुष्ट आत्माओं को भगा दिया है और क्रूर अंधकार को हटा दिया है।

सूर्य के सम्बन्ध में कहा गया है —

'सावित्री देवता सत्य पथ पर चलता है। उसका सींग बहुत दूर तक फैला है। ऋत उनको भी पराजित करता है। जो अच्छे योद्धा हैं।''

जब सूर्योदय होता है तब ऋत को किरण आवृति कहा गया है। हेराक्लिटाज ने जो विचार व्यक्त किये है यह विचार उसी के समान है हेलाओज निश्चित पथ से बाहर नहीं जायगी'। ऋग्वेद की एक ऋचा में यही विचार व्यक्त है —

"सूर्य निश्चित स्थानों को क्षति नहीं पहुँचाता।" इस पथ को जिसे यहाँ ऋत कहा गया है दूसरे स्थलों पर विस्तृत कार्य जातु कहा गया है। और इस जातु को भी, ऋत की भाँति ही प्राय प्रभात के देवताओं मे स्थान मिला है।

स्पष्टत यह वही मार्ग है जिस पर रात्रि दिवस क्रम मे चलते है वह पथ प्रतिदिन बदलता है इसलिये हम अनेक पथों की बात सुनते है जिस पर रात्रि दिवस, अश्विनों और इसी प्रकार के देवता चलते हैं।

एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि इस पथ को जिसे साधारणतया ऋत पथ कहा गया है उसे प्राय वह पथ बताया गया है जिसे वरुण ने जो अति प्राचीन वैदिक देवताओं में से एक हैं सूर्य के चलने के लिये बनाया। (१,२४,८)

इस प्रकार हम समझना प्रारम्भ करते हैं कि जिस कई स्थलों पर वरुण का नियम कहा गया है उसे दूसरे स्थलों पर ऋत का नियम क्यों कहा गया है वास्तव मे वरुण को जो सर्व व्यापी आकाश के देवता हैं ऋत का पथ निश्चित करने वाला कैसे मान लिया गया। ऋत की स्वतन्त्र सत्ता मानी गयी है।

जब यह एक बार स्वीकार कर लिया गया कि देवताओं ने अंधकार के दैत्यों का पराजय किया और वे सरल सीधे पथ पर अर्थात् ऋत या सत्य के पथ पर चले तब एक ही कदम और बढ़ना था। उसके उपासक भी प्रार्थना करने लगे कि उनको भी उसी सत्य पथ पर चलाया जाय। इस प्रकार हम पढ़ते हैं कि हे इन्द्र हमें ऋत के पथ पर ले चलो। सब पापों से बचाकर, सत्य के पथ पर हमें प्रेरित करो।

या "ओ मित्र और वरुण तुम्हारे सत्य पथ पर चलने से हम समस्त पापों से पार होते हैं जैसे जलपोत से जल से पार होते हैं। वही देवता मित्र और वरुण महान् ऋत की प्रशंसा करते हैं। दूसरा कवि कहता है ' मैं ऋत के पथ पर अच्छी तरह चलता हूँ। पापी लोग ऋत के पथ पर कभी नहीं जाते।

ऋत, बलिदान

यदि हम स्मरण करें कि भारत में कितने प्राचीन बलिदान सूर्य की गति पर निर्भर थे प्रतिदिन सूर्योदय, मध्याह्न और सूर्यास्त के समय किस प्रकार बलिदान होते

थे, नवीन चन्द्र और पूर्णचन्द्र के लिये उपहार प्रस्तुत किये जाते थे, दूसरे बलिदान तीन ऋतुओं के बाद होते थे और सूर्य की वार्षिक या अर्द्ध वार्षिक गति के अनुसार होते थे। तब हम भली भाँति समझ सकते हैं कि बलिदान को ही ऋत पथ क्या कहा जाने लगा ?

अन्त में ऋत का अर्थ नियम साधारणतया प्रचलित हो गया। सरिताएँ, जिनका कुछ स्थलों पर ऋत का पथ अनुगमन करने वाली कहा गया है दूसरे मन्त्रों में वरुण के नियम को मानने वाली कही गयी है। ऋत के इस प्रकार अनेक अर्थ हैं जो कि हमारे अभिप्राय के लिये महत्वपूर्ण नहीं है। मुझे केवल इतना और कहना है कि जिस प्रकार ऋत का अर्थ सत्य उत्तम और श्रेष्ठ लिया गया उसी प्रकार अमृत का अर्थ असत्य, कलुषित और अधम किया गया।

ऋत का विकास

मैं नहीं जानता कि वेद में वर्णित ऋत का यह अर्थ स्पष्ट करने में मैं कितना सफल हुआ हूँ। किस प्रकार प्रारम्भ में उसका अर्थ था सूर्य की गति का स्थैर्य, प्रभात और सन्ध्या का, दिन रात का क्रम, किस प्रकार वह गति पूर्व में केन्द्रित हुई, स्वर्गीय पिण्डों के पथ में उसका विस्तार देखा गया, या दिन और रात के वैभव में उसे देखा गया और किस प्रकार वह सत्य पथ जिस पर देवता अन्धकार से प्रकाश लाये, बाद में वह ऋत पथ हो गया जिस पर मनुष्य को चलना है।

अपने बलिदान के कर्मों में और नैतिक आचरण में इसी ऋत पथ को अपनाना है। इन प्राचीन धारणाओं (के विकास) में हमें विचार की स्पष्टता और अत्यधिक बारीकी पाने की आशा नहीं करनी चाहिये। वह उस समय नहीं थी और न हो सकती थी। यदि हम कठोर विचार की अनेक श्रेणियों में उन काव्यमय कल्पनाओं को बलपूर्वक डालने का प्रयत्न करेंगे तो हम उनकी कल्पना के पंख तोड़ देंगे और उनकी आत्मा को कुचल डालेंगे। हमें केवल सूखी हड्डियाँ मिलेंगी, जिनमें मांस रक्त या जीवन बिलकुल न होगा।

अनुवाद की कठिनाई

इस प्रकार के समस्त विवादों में बड़ी कठिनाई यह है कि हम विचारों को प्राचीन रूप से आधुनिक रूप में लाना पड़ता है। इस क्रिया में कुछ अनर्थ अवश्यम्भावी है। वैदिक ऋत के समान हमारे पास सुन्दर और उपयुक्त शब्द नहीं है जिसमें पूर्ण क्षमता हो और जो विचार के सब पक्षों को भली भाँति प्रकट कर सके।

हम केवल यह कर सकते हैं कि यदि सम्भव हो तो विचार के मूल केन्द्र का पता लगावें और फिर उस केन्द्र से जो किरणें निकली हैं उनका अनुगमन करें। मैंने यही करने का प्रयत्न किया है और ऐसा करने में यदि मैंने प्राचीन को नवीन वस्त्र

पहनाया हैं, ऐसा जान पडता है तो मेरे लिये कोई दूसरा मार्ग नही था जब तक हम लोग सब एक मत होकर केवल सस्कृत ही नही वरन् वदिक सस्कृत न बोलें।

अङ्ग्रेजी के एक महान विद्वान और दार्शनिक ने अभी पुराने होत्रो के विश्वास (१) का अनुवाद किया है। (जेहोवा के व्यक्तिगत स्वरूप पर विश्वास)

"एक अनन्त शक्ति मे विश्वास, हम सब म नही, जो सत्य की विशिष्टता रखता है। इसके लिये दार्शनिक पर दोषारोपण किया गया है और कहा गया कि होत्रो म इतने सूक्ष्म, आधुनिक और शुद्ध अङ्ग्रेजो विचार (की अभिव्यक्ति) मिलनी असम्भव है, यह सत्य तो हो सकता है। किन्तु यदि वेद के प्राचीन कवि आज होते और उनको आधुनिक विचार करने पडते और आधुनिक भाषा बोलनी पडती, तो मैं कहूँगा कि "एक अनन्तशक्ति, हम नही, जो सत्य पथ पर ले जाती है" यह अनुवाद प्राचीन ऋत का वे भी देते।

क्या ऋत सर्वमान्य आर्य धारणा थी ?

एक बात और स्पष्ट करनी है। हमने देखा है कि वेद मे ऋत विचारो के अत्यन्त प्राचीन स्तर का है। अब प्रश्न यह है कि क्या ऋत केवल वैदिक धारणा थी। या द्यास, ज्योस या जुपिटर क समान समस्त आर्यो की धारणा थी ?

इसका उत्तर निश्चय पूर्वक देना कठिन है। लटिन और जर्मन म ऐसे शब्द मे जिनका मूल 'अर' 'ऋ' था किन्तु इसका यथेष्ट प्रमाण नही है कि वेद के ऋत की भांति ये धारणाये आकाश पिण्डो की दैनिक, पाक्षिक, मासिक और वार्षिक गतियो स प्रारम्भ हुई।

सस्कृत म ऋत क अतिरिक्त, हम ऋतु शब्द भी मिलता है जिसका प्रारम्भ में अर्थ था, वर्ष की क्रमिक गतियाँ। जेन्द म रतु भी ऐसा ही शब्द है किन्तु उसका अर्थ है न केवल व्यवस्था किन्तु व्यवस्था या नियम की आज्ञा देने वाला भी।

प्राय यह प्रयत्न किया गया है कि सस्कृत क ऋतु का और ऋत का (व्यवस्थित नियमित) आराधाय विधान क सम्बन्ध म और पुरातन बलिदानो क नियम म, लटिन क राइट क समान माना जाय, धार्मिक रस्मो क अनुसार और 'रिवस' का धार्मिक उत्सवो क रूप और विधि क समान माना जाय।

किन्तु लटिन म रि सस्कृत की 'ऋ' क समान नही है। वह वास्तव म 'आर' या 'रा' का मध्यित रूप है। इसलिये उसे लटिन में 'आर' 'एर' या 'उर' स प्रकट किया गया है। उदाहरण रि म।

---

(१) इसी प्रकार की विचार द्वारा क यादर, सरल म है जिसका अर्थ है आगे बढ़ना। मूल म द्वारा में धार्मिक बोधाद्दुर मिल है। ईवर मास्डजिद्द द्वारा भागा में पन-ग्रास (पुराउन) पृष्ट १२१

फिर भी लेटिन 'आरडो' को अपने मूल 'अर' या 'रि' स सम्बधित करने में कोई कठिनाई नही जान पडती है और बेनफे ने स्पष्ट किया है कि 'आरडो' 'आरडिनिम' सस्कृत के 'ऋतवान' के समान है। 'आर्डियर' का अर्थ है बुनना, प्रारम्भ म इसका अभिप्राय रहा होगा किसी भी वस्तु का सावधानी पूर्वक किया गया प्रबन्ध, व्यवस्था विशेषत तागे का।

लटिन के 'रेतस' मे 'ऋत' का निकटतम सम्बध पाया जा सकता है, विशेषत इसलिये कि लेटिन मे 'रेतस' प्रारम्भ मे नक्षत्रो की गति के सम्बध मे प्रयुक्त किया जाता था। इस प्रकार सिसरा, (रस्क, ५, २४, ६६,) म मोटस (स्टेलरम) कान्टेन्टे एत् 'रति' को वात करते हैं। (एन० डो० २, २७, ५६,) म 'आस्ट्रोरम' रति' ''इम्यूटेबिलस्क कसस'' कहते हैं। मैं इसस सहमत हूँ कि लेटिन का यह 'रेतस' सस्कृत क 'ऋत' क समकक्ष है, प्रारम्भ और अभिप्राय दोनो की दृष्टि से। अन्तर केवल यह या कि लेटिन मे वह एक धार्मिक धारणा के रूप मे निश्चित और विकसित नही हुआ जैसा कि वदिक 'ऋत में हुआ। किन्तु यद्यपि मेरी सम्मति यह है फिर भी मैं इसकी कठिनाइयो से छिपाना नही चाहता हूँ। 'रिता' यदि लेटिन मे सुरक्षित था तो वह 'आरटस,' 'एरटस' या 'उरटस रहा होगा, 'रेतस' नही, 'रिंतस' भी नही, जैसा कि 'इटोरस' मे है जिसका अर्थ है, अनिश्चित, व्यर्थ। मैं इस पूर्णत स्वीकार करता हूँ कि उच्चारण और ध्वनि क विचार से प्राफेसर कोहन का लेटिन के 'रेतस' को सस्कृत के 'ऋत के समकक्ष बताना ठीक है। वे उसे 'र' से निकला मानते हैं जिसका अय है देना जैसे कि लेटिन म मूल 'ड' स 'डेट्यू' 'रेडिट्य' निकलता है, उसी प्रकार मूल 'र' से 'रेटम' और 'इटारम है। प्राफेसर काहन के साय कठिनाई केवल शब्द की व्युत्पत्ति की है। 'रत' का अर्थ है दिया गया। इसका अथ यद्यपि दिया गया, स्वीकृत, निश्चित हो जाता है और जेन्द मे भी 'डेटो नियम, 'दा दा या 'धा' निकला है जिसके दोनो अय हैं देना और निश्चित करना फिर भी, जैसा कारसन का कहना है लटिन के 'रेटम्' के प्रारम्भ म इस अर्थ के होने क कोई चिह्न नही है।

लेटिन क'रेतस' को सस्कृत 'ऋत के समकक्ष मानने मे जो बाधायें हैं उन्हें दूर किया जा सकता है। लेटिन 'रेतिस' (उतराना) सस्कृत के मूल 'अर' स सम्बधित है जिसका अर्थ है खेना। सस्कृत क 'रुप' से लेटिन 'ग्रेसिलिस' सम्बधित है। तब यदि लेटिन का 'रेतस और सस्कृत का 'ऋत' एक ही शब्द है तो यह मान लेना तक सगत है कि उसका प्रयाग आकाशीय पिंडो की गति और निश्चित क्रम मे होता था और 'क्सिडरेटे और 'फटेम्लेटे' की भाँति वाद का उसका प्रचलन अविशिष्ट हो गया। ऐसी हालत म यह जानना रुचिकर होगा कि सस्कृत म ऋत का अर्थ, स्वर्गीय पिंडो की गति

से, कुछ समय बाद बढ कर, नैतिक व्यवस्था और सत्य हो गया और 'रेतस' का अर्थ जिसका ज्ञात नही था, लेटिन और जरमन मे व्यवस्था और विवेक हो गया। इसी भूल से और 'रेतस' से सम्बन्धित लेटिन 'रेशियो' है जिसका अर्थ है गिनना, निश्चित करना, जोडना, घटाना और विवेक रखना, गोथिक 'रथजो' है जो सख्या के अर्थ मे है, 'रथजन' सख्या लगाना, पुरानी जरमन 'राजा' वक्तृता के अर्थ मे और 'रेडजान' बोलने के अर्थ मे है। (१)

जेन्द मे ऋत आशा है

वैदिक ऋत के समकक्ष हम दूसरी आर्य भाषाओ मे, शब्द प्राप्त करने का व्यर्थ प्रयास करते हैं और दावे के साथ उसे शुद्ध नही कह सकते जैसा कि 'श्वास' और ज्यास के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है। आर्यों के पहली बार अलग होने के समय ने और आगे, हम दिखा सकते हैं कि यह शब्द और उसकी धारणा दोनो ईरानियो के भारतीयो से अलग होने से पहले विद्यमान थे। उस धर्म का वर्णन जन्दवेस्ता मे है। और वेद मे भारतीय आर्यों का साहित्य सुरक्षित है। यह बहुत पहले से ज्ञात है कि आर्यों की ये दो भाषाये, जो दक्षिण पूर्व की दिशा मे बढ़ी, बहुत समय तक एक साथ रही होगी उसके बाद वे अलग हुई और दूसरी शाखाये उत्तर पश्चिम की ओर बढ़ी। उनके शब्द और विचार एक समान थे। ऐसी समानता और कहीं नहीं मिलता है। विशेषत उनके धर्म और धार्मिक कार्यों मे प्रयुक्त विशेष शब्द हैं। वे शब्द सस्कृत और जन्द दोनो भाषाओ मे मिलते हैं। जन्द मे सस्कृत ऋत के समकक्ष आशा शब्द है। उच्चारण ध्वनि मे यह आशा शब्द ऋत से दूर जान पडता है कि [illegible] ऋत' वास्तव मे आरता है और सस्कृत [illegible] त का जन्द मे [illegible] हो जाना सभव जान पडता है।

अब तक जन्द मे आशा का अनुवाद पवित्रता किया गया है और आधुनिक पारसी उसे इसी अर्थ मे स्वीकार करते हैं। किन्तु यह शब्द का गौण विकास है, जैसा कि एक प्रख्यात फ्रेंच विद्वान श्री डरमस्टेटर ने स्पष्ट किया है। आशा का वही अर्थ [illegible] है जो वेद मे ऋत का लिया गया है। [illegible] [illegible] पहली बार अपना वास्तविक रूप प्राप्त करते हैं। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि [illegible], [illegible] की भाँति आशा का अनुवाद पवित्रता किया जा सकता है और उसका प्रयोग प्राय [illegible] विचार के सम्बन्ध मे किया गया है। यहाँ आशा का अभिप्राय है पवित्र विचार [illegible] और [illegible]। [illegible] का अर्थ [illegible] और [illegible] लिया गया है जिसमे [illegible] और [illegible] का विचार [illegible]। किन्तु [illegible] है

(१) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कारगन का [illegible] [illegible] [illegible] पृ० ४३३।

जिनसे प्रकट होता है कि जोरोस्टर ने भी ऋत या 'कासमाज' का अस्तित्व स्वीकार किया था।

उनका यह भी कहना है कि प्रभात, मध्याह्न और रात्रि कैसे आते जाते हैं। वे एक नियम के अनुसार आते जाते हैं जो उनके लिये निर्धारित किया गया है। वे सूर्य और चन्द्रमा की पूर्ण मित्रता की प्रशंसा करते हैं। उन्होंने प्रकृति के सामंजस्य की भी प्रशंसा की है। और प्रत्येक जन्म का चमत्कार, रात्रि में भी माता के लिये भोजन रहता है जो बच्चे को देती है, बताया है।

वेदों की भाँति ही अवेस्ता में भी सम्पूर्ण विश्व 'आशा' का अनुगमन करता है सारी सृष्टि आशा ने उत्पन्न की है। विश्वासी और आस्तिक लोग, पृथ्वी पर आशा की मंगल दृष्टि चाहते हैं, मृत्यु के बाद वे सर्वोच्च स्वर्ग में अरमज्द से मिलेंगे जो आशा का निवास-स्थान है। पवित्र उपासक की रक्षा करता है और संसार आशा के द्वारा फलता फूलता है और विकसित होता है। संसार का सबसे बड़ा नियम है आशा, और आस्तिक का सर्वोच्च आदर्श है 'आशावान बन जाना, पवित्रता पूर्ण आशा से परिपूर्ण हो जाना।

यह स्पष्ट करने के लिये इतना पर्याप्त है कि भारतीय और ईरानियों के एक दूसरे से अलग होने के पहले विश्व व्यवस्था या नियम का विश्वास था, यह विश्वास उनके प्राचीन धर्मों में एक समान था और इसलिये अवेस्ता की प्राचीनतम गाथा और वेद की अति प्राचीन ऋचा से भी अधिक प्राचीन था। यह विश्वास बाद के अनुमान का फल नहीं था और यह विश्वास उस समय भी नहीं आया जब अनेक देवताओं में और उनके एकतंत्र शासन में विश्वास समाप्त हो चुका था। वह विश्वास एक अन्तः-प्रवृत्ति था जो दक्षिणी आर्यों में और उनके धर्म में व्याप्त थी। उनके धर्म का वास्तविक रूप समझने के लिये, उषा की कहानियों, अग्नि, इन्द्र और रुद्र की प्रार्थनाओं की अपेक्षा इसे समझ लेना अधिक आवश्यक है।

इस पर विचार करिये कि ऋत में विश्वास कैसा क्या था संसार के एक नियम में आस्था कैसी थी? प्रारम्भ में चाहे वह विश्वास यही रहा हो कि सूर्य अपने मार्ग से विचलित नहीं होगा। यह अन्तर एक भ्रम और वास्तविक सत्य का था संयोग से अन्धानुसरण का और विवेक पूर्ण नियति का अन्तर था। आज भी कितनी आत्माएँ, जब सब ओर से निराश हो चुकती हैं, लड़कपन के उनके प्रिय विश्वास जब छूट जाते हैं मनुष्य में विश्वास विपाक्त हो जाता है जब स्वार्थ, छलछिद्र, और नीचता की प्रत्यक्ष विजय सत्य पथ छोड़ने की कहती है, जब यह दिखायी देने लगता है कि कम से कम इस संसार में सत्य और पवित्रता का पथ अपनाना उचित नहीं है, तब ऋत का विचार उनको शान्ति और सान्त्वना देता है। यह विश्वास उनको साहस

देता है कि विश्व का एक सत्य नियम है, यह नक्षत्रों की अविच्छिन्न गति से प्रकट होता हो या घाट से पुष्पों के सौरभ पटल और रंगों से प्रकट होता हो।

जितनी आत्माओं ने यह अनुभव किया है कि इस व्यवस्थित विश्व में रहना, इस संसार का होकर रहना और इस सुन्दर प्रकृति और उसके नियम में आस्था रखना कितना श्रेयस्कर है। जब सब ओर से निराशा दिखायी देती हो तब विश्वास का आधार, कुछ विश्वास करने योग्य और आस्था का केन्द्र मिल जाना कितनी बड़ी बात है। हम को ऋत का यह विश्वास और धारणा एवं संसार के नियम और व्यवस्था में यह आस्था भले ही कम महत्वपूर्ण जान पड़ती हो किन्तु पृथ्वी के प्राचीन निवासियों के लिये जिनको दूसरा कोई भी आश्रय नहीं था, यह सर्वस्व थी, उनके उज्वल प्राणियों से अधिक महत्वपूर्ण थी उनके देवताओं से भी अधिक श्रेयस्कर थी, अग्नि और इन्द्र से अच्छी थी, क्योंकि इसकी धारणा एक बार हो जाने पर और भली भांति बुद्धि-गम्य हो जाने पर इसे कोई भी छीन नहीं सकता था।

✓ हमने वेदों से जो सीखा है वह यह है कि भारत में हमारी जाति के पूर्वज केवल उन देवी शक्तियों पर ही विश्वास नहीं करते थे जो न्यूनाधिक उनकी इंद्रियों के सम्मुख प्रत्यक्ष थी सरिताएं, पर्वत, आकाश, सूर्य, वर्षा और घन-गर्जन वरन् उनकी इन्द्रियां ही उनको बताती थी, अनन्त की धारणा और नियम तथा व्यवस्था की अनुभूति ✓ जो उनके सम्मुख प्रत्यक्ष अवतरित थी, यही दो तत्व सब धर्मो मे प्रमुख हैं।

अनन्त की धारणा उनको प्रभात के पूर्व ऊषा के स्वर्णिम प्रकाश समुद्र से मिलती थी और नियम और व्यवस्था का अस्तित्व बाघ सूय की दैनन्दिन गति-विधि से होता था। ये दो धारणायें जिन पर कभी न कभी प्रत्येक मानव प्राणी को विचार करना पड़ेगा, पहले केवल साधारण प्रवृत्तियाँ थीं किन्तु उनकी प्रेरक शक्ति तब तक विश्राम नहीं ले सकती थी जब तक हमारी जाति के पूर्वजों के मस्तिष्क मे इस विचार की गहरी और अमिट छाप न छोड़ दे कि 'सब कुछ सत्य है, और उनमें यह आशा न उत्पन्न कर दे कि 'सब कुछ ठीक होगा, सत्य होगा, सत्य की विजय होगी।

छठवाँ भाषण

देववाद, अनेकवाद, एकदेववाद और नास्तिकवाद

क्या एकदेववाद धर्म का आदिम रूप है ?

यदि आप विचार करें कि वेद के प्रमुख देवताओं की उत्पत्ति और विकास कितना स्वाभाविक, बुद्धि गम्य और अवश्यम्भावी था तब आप मुझसे सहमत होंगे कि इस विवाद पर गम्भीर विवेचन उतना आवश्यक नहीं है कि मानव जाति ने एक देववाद से प्रारम्भ किया या अनेक देववाद से। कम से कम जहाँ तक भारतीयों का और इण्डो यूरोपियन लोगों का सम्बन्ध है, यह बहुत ही स्पष्ट है। (१)

मुझे सन्देह है कि यह प्रश्न शायद ही उठता यदि हमें यह एक दूसरे सिद्धान्त के रूप में उत्तराधिकार में न मिला होता जो मध्य युग में बहुत प्रचलित था, वह यह था कि धर्म की उत्पत्ति और समारम्भ आदिम अवतरण (इलहाम) से हुआ, उसे पूरा और सत्य धर्म ही कह सकते हैं जो अवतरित हुआ। इसलिये वह एकदेववाद ही था उस आदिम एकदेववाद को केवल यहूदियों ने सुरक्षित रखा। दूसरी जातियों ने उसे छोड़ दिया और अनेकदेववाद तथा मूर्तिपूजा को अपनाया। जिससे कुछ समय बाद वे पुनः निकल कर शुद्ध धार्मिक और दार्शनिक एकदेववाद में आ गये।

यह विचित्र तथ्य है। न जाने कितने समय में ये टूटे सिद्धान्त नष्ट होते हैं। इनका खंडन बारबार हुआ होगा। उत्तम धार्मिक और विद्वान लोगों ने स्वीकार किया होगा कि उनका आधार सुदृढ़ नहीं था फिर भी वे वहाँ मिलते हैं जहाँ उनके मिलने की सब से कम आशा है सन्दर्भ ग्रन्थों में पाठ्य पुस्तकों में। इस प्रकार यह अवांछनीय सामग्री घास छिटका दी जाती है और सर्वत्र उत्तम अन्न गेहूँ आदि के साथ मिलती है जो प्रायः गेहूँ को दबा देती है।

भाषा का विज्ञान और धर्म का विज्ञान

इस सम्बन्ध में भाषा का विज्ञान धर्म के विज्ञान के, अनेक अंशों में, समकक्ष है,

(१) आदिम एकदेववाद के पक्ष और विपक्ष में अनेक सम्मतियों के लिये, विशेषतः पिक्टेट, फ्लोडरर, रोरर रिवील और टाय की सम्मतियों के लिये देखिये म्योर की संस्कृत टेक्स्ट्स' भाग ५, ५४१२। मुझे आदिम एकदेववाद का समर्थक कहा गया है। इस सिद्धान्त को मैं किस रूप में समझता हूँ इसके लिये पृष्ठ २७३, पंक्ति ७ में देखिये।

अनेक मध्य कालीन और आधुनिक लेखको ने भी यह सिद्धान्त स्वीकार किया है कि भाषा की उत्पत्ति भी आत्मिक अवतरण (इलहाम) से हुई यद्यपि इसके लिये बाइबिल में और दूसरे ग्रन्थों में प्रमाण नहीं मिलता है। इसका निष्कर्ष यही था कि हीब्रो भाषा ही आदिम भाषा थी और उसका परिणाम यही हो सकता है कि समस्त भाषाय हीब्रो से निकली हैं। कितना पांडित्य इसमें लगाया गया है और कितनी चतुरता से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि ग्रीक, लेटिन, फ्रेंच और इंग्लिश सब भाषायें हीब्रो से निकली है फिर भी हीब्रो ने यह स्वीकार नहीं किया कि वह इन सब भ्रष्ट सन्तानो की माता है यद्यपि उस पर बहुत जोर डाला गया। इन प्रयत्नो की असफलता ने ही यह स्पष्ट कर दिया कि मानव भाषा की उत्पत्ति और विकास पर समस्त निष्पक्ष साक्षी और प्रमाण एकत्र करना परम आवश्यक है। भाषा के इस ऐतिहासिक अध्ययन से ससार की प्रमुख भाषाओं की उत्पत्ति क्रम का वर्गीकरण प्रारम्भ हुआ। इसमें हीब्रो को उसका उचित स्थान मिला। वह दूसरी सेमिटिक भाषाओं के पार्श्व में थी। भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का बिलकुल दूसरा रूप हो गया। मानवीय भाषाओं के वृहद् परिवार में मूल धातुओं का और मूल धारणाओं के विद्वानों ने इसी प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। उन्होंने पहले से ही यह स्वीकार नहीं कर लिया कि वे या तो यहूदी धर्म के भ्रष्ट रूप है या यहूदी धर्म के समान ही निकले है या उनका प्रारम्भ आदिम हुआ है अवतरण से। उन्होंने देखा कि उनका कर्त्तव्य यह है कि धार्मिक विचारों को समस्त प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री वे एकत्र करें जो अब भी संसार की पवित्र पुस्तकों में सुलभ है। धर्मशास्त्र में, परम्परा में और धार्मिक कृत्यों में मिलती है। वह सामग्री अनेक जातियों की भाषाओं में भी सुलभ है। इसके बाद उन्होंने समस्त एकत्र सामग्री का उत्पत्ति क्रम से वर्गीकरण किया है। और तब उन्होंने धर्म की उत्पत्ति के प्रश्न पर इस नयी भावना से विचार किया है। उन्होंने इस जानने की चेष्टा की है कि सब धर्मों का मूल, मौलिक धारणायें जो उनका आधार थी और सर्व प्रथम अनन्त की धारणा कैसे विकसित हुई होगी। पहले से ही उन्होंने कोई भी बात नहीं मान ली थी। एक ओर थी केवल इन्द्रियों से प्राप्त अनुभूति और दूसरी ओर था समस्त संसार जो हमे घेरे है।

इन दोनो विद्वानों में एक बात में और एकरूपता है। यह सर्व विदित है कि भाषा में विकास और प्रगति निरन्तर होती रहती है और जो भ्रम, अनावश्यक और काम में न आने योग्य तत्व होते हैं वे फेंक दिये जाते हैं। यह प्रत्येक विकास में अनिवार्य है। इसी प्रकार धर्म विज्ञान ने भी दिखाया है कि धर्म की प्रगति और विकास निरन्तर हुआ है उसका अस्तित्व ही इस पर निर्भर करता है कि घिसे पिटे विचार और अवांछनीय तत्व धर्म से निकाल दिये जायें। यह अत्यन्त आवश्यक है, जो अब भी सुन्दर है और जीवन पूर्ण है उसे कायम रखने के लिये और अच्छी तरह सुरक्षित रखने

के लिये यह परम आवश्यक है। इसके साथ ही नय तत्व ग्रहण करना भी आवश्यक है। ये तत्व उसी अक्षय श्रोत मे मिलेगे जहाँ से प्रत्यक धर्म की उत्पत्ति होती है। जा धर्म परिवत्तन ग्रहण नही कर सकता वह प्राचीन भापा के समान है जो कुछ समय तक अपनी सत्ता जमाये रहता है और अत म, लोकप्रिय भापाआ की अतर्धारा स बहा दी जाती है। लोकभापाय, जनता का आवाज हैं और जनता की आवाज प्राय भगवान की आवाज कही गयी है।

एक बात ओर है। अब कोई जन्मजात भापा की बात नही करता है। हम शायद ही इसका अर्थ भी समझ सक्त हो। ऐसा समय आयेगा जब धर्म की स्वय उत्पत्ति का विचार भी (इलहाम) इसी प्रकार लोगो की समझ मे न आयगा। मनुष्य सब कुछ अपने अध्यवस स करता है। सब बाधाओ पर उस स्वय विजय प्राप्त करना हैं, यह बात अब बहुत स्पष्ट हो गयी है। इसी प्रकार हम यह भी जानत हैं कि जब उसने अध्यवसाय किया है, ईमानदारी से परिश्रम किया है और जब उसने पृथ्वी को तोडा है तब उस कवल कुश कटक ही नही मिले हैं वरन ऐसा कुछ मिला है और पर्याप्त, जो उसका जीवनाधार है। हो सकता है कि उस अपने सपूर्ण जीवन मे केवल सकट ही मिले और वह कठिनाई स अपने पसीने की कमाई खा सके।

अब यह समझना सरल है कि यदि स्वग स सम्पूर्ण व्याकरण और शब्दकोष अकस्मात नीचे आ जाये तो वे भी उन प्राणियो क लिये व्यर्थ ही होगे जिन्होंने उनके लिये कुछ भी अध्यवसाय नही किया था और अपनी अनुभूतियो क अनुरूप स्वय धारणाये नही बनायी थीं। जिन्होंने यह भी नही समझा था कि एक धारणा का दूसरी धारणा स क्या सम्बन्ध है। उन्हे एक विदेशी भापा मिला होती और कोई भी विदेशी भापा कैसे सीख सकता है जब तक वह अपनी मातृभापा न जानता हो, न रखता हो। हम बाहर स नयी भापाये प्राप्त कर सक्त है। भापा और उसका बोध भीतर से अपने अन्तर स आना चाहिये। यही बात धर्म क सम्बन्ध म भी है। किसी मिशनरी से पूछिये कि वह ऐसे लोगो को ईसाई धर्म का गूढ़ता कैसे सिखायेगा जिनको धर्म क विचारो का कुछ भी ज्ञान नही है। जो यह भी नही जानते कि धर्म है क्या। वह केवल यही कर सकता है कि धर्म क उन बीजाकुरो को खोज जो निम्नकोटि के आदिम वासियो म भी पाये जाते हैं। यद्यपि वे गुप्त रहते हैं उनके ऊपर बहुत सा कूडा करकट एकत्र रहता है। उसे हटाकर, घास फूस साफ करके जो बीजाकुरो को दबाये है, उन्हे पनपने का अवसर देना है और तब प्रतीक्षा करनी है कि उसी भूमि से बीज, धर्म के बीजाकुर बढे, पनपे। उसके बाद उच्चकोटि के धर्म के बीज बोये जा सकते हैं।

ईश्वर का निषेध

यदि हम धर्म के अध्ययन मे इस भावना स लगे तब यह प्रश्न ही नही उठता

कि मनुष्य ने एकदेववाद से प्रारम्भ किया या अनेकदेववाद से। जब मनुष्य विचार की इस कोटि मे पहुँच गया कि वह किसी को वह चाहे एक हो या अनेक ईश्वर कह सकता है, तब उसने अपनी आधी यात्रा तै कर ली, उसने ईश्वर का विधेय प्राप्त कर लिया। अब उसे केवल उद्देश्य खोजना है जिन पर वह विधेय लागू होता है। हमे यह जानना है कि मनुष्य ने पहले देवत्व की धारणा बनायी। इसके बाद यह प्रश्न आता है कि उसने एक या अनेक का, इस देवत्व का या उसका विधेय कैसे बनाया। धर्म पर लिखने वाले विद्वानो (१) ने कहा है कि आदिम लोग प्रकृति के महान पदार्थों को देवता समझते थे जो उनके चतुर्दिक थे। वे यह भी कह सकते हैं कि आदिम लोग अपने मृतको की ममी बनाना जानते थे जब कि उनको मोम का ज्ञान ही नही थी, जिससे वे बनती हैं।

वेदों से प्राप्त नयी सामग्री

मैं उनमे नही हूँ जो यह विश्वास करते हैं कि वेदो मे इसकी और धर्म विज्ञान की दूसरी समस्याओ की कुंजी है। इससे बडी भूल और न होगी कि हम मान लें कि सब जातियो ने धार्मिक विकास मे ठीक वही रास्ता अपनाया जो भारत मे पाया जाता है। इसके विपरीत धर्म के क्षेत्र मे तुलनात्मक अध्ययन का महत्व यह है कि हम इसे देख सकें कि एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिये अनेक मार्ग कैसे अपनाये गये विभिन्न मार्गों से एक ही लक्ष्य तक कैसे पहुँचना सम्भव हुआ। मेरा कहना केवल यह है कि वेदो मे हम धार्मिक विकास की एक धारा पाते हैं वह धारा बहुत महत्व पूर्ण है। यदि हम उसका अध्ययन करे और पहले से बनी हुई कोई धारणा सामने न लावें तब यह प्रश्न कि क्या भारतीय आर्यों ने एकदेववाद से प्रारम्भ किया, शब्द के साधारण अर्थ मे कोई अर्थ नही रखता है।

देववाद

✓वैदिक भारतीयो मे प्राचीनतम धर्म को यदि हम कोई नाम देना चाहते हैं तो

(१) आदिम आर्यों की धार्मिक भावनायें चाहे जितनी दृढ रही हो उनका अलौकिक का विचार चाहे जितना जीवन्त रहा हो, और हम चाहे जितना उनको प्राकृतिक पदार्थों को देवत्व देता हुआ मानें जो उनके चतुर्दिक थे, यह अत्यन्त स्पष्ट है कि उनकी इन्द्रियों पर प्राकृतिक पदार्थों की जो छाप पडी वह और भी उसी मात्रा मे गहरी होती गयी जिस मात्रा मे वे पदार्थ बार बार आये और बाधक बने। परिणाम-स्वरूप आकाश पृथ्वी और सूर्य को देवता माना गया फिर भी उनको ऐसे नाम दिये गये जो उनकी बाल शक्ति प्रकट करते हैं। उनको वे नाम नही दिये गये जिनसे उनके देवत्व के गुण प्रकट होते जो गुण उनमे बताये जाते थे—जे० म्योर 'संस्कृत टैक्सटस भाग ५, पृष्ठ ४१४।

वह एक देववाद या बहु देववाद नही हो सकता है। वह केवल देववाद हो सकता है जिसका अर्थ है एक पदार्थ को पुजा और उसमे विश्वास, वह पदाथ अर्द्धदृश्यमान हो या अदृश्यमान, जिसमे उसने पहले पहल अनन्त और अदृश्य की उपस्थिति देखी। उनमे से प्रत्येक पदार्थ को, जैसा हमने देखा है, सान्त के ऊपर की कोटि मे रक्खा गया, प्रकृति के ऊपर माना गया, धारणा से परे समझा गया और अन्त मे उसे असुर कहा गया जिसका अथ है जीवित पदाथ, एक देवता, या प्रकाशमान तत्व माना गया, उसे अमर्त्य कहा गया, जो मरणशील नहो है और अन्त म अमर और अनन्त कहा गया। जिसे ईश्वर कह सकते हैं। उसम वे सब गुण बताये गये जो मानव मस्तिक अपने विकास क अनेक स्थानो मे सोच सकता था।

धार्मिक विचार का यह पहलू वेदो स अधिक और कहीं नही समझा जा सकता है। वास्तव म यदि वेद न होते ता हम उसके अस्तित्व का पता भी न जात होता।

सूर्य अपने प्राकृतिक रूप मे

उदाहरण के लिये हम सूर्य का लेत हैं और देखत हैं कि किस प्रकार प्राकृतिक पदार्थों को अलौकिक कहा गया और उनम दवत्व स्थापित किया गया। सूय के अनेक नाम हैं जैसे सूय, सावित्री, मित्र, पूपन, आदित्य आदि। इनम से प्रत्येक नाम स्वय क्रियात्मक व्यक्तित्व मे विकसित होता है और वदिक धर्म क अध्ययन म यह परम आवश्यक है कि एक को दूसरे से अलग रक्खा जाय। हमारे उद्देश्य के लिये यह दखना आवश्यक है कि वे सब एक श्रोत से कैसे निकले हैं। उनका अभिप्राय प्रारम्भ म एक हो पदार्थ का वणन करना था जिसम केवल अनेक दृष्टिकोणो से देखा गया था।

सूय के साधारण वणन, वे सूर्य, सावित्री, मित्र, पूपन या आदित्य किसी नाम से हो ऐसे हैं कि कोई भी जिसम प्रकृति को काव्यमय भावना स देखन की क्षमता है उह अच्छी तरह समझ सकता है। सूय का आकाश का पुत्र कहा गया है। ऊषा को उसकी स्त्री और कन्या दोना कहा गया है। ऊषा आकाश की पुत्री है इसलिये उस सूर्य को भगिनी भी कह सकत हैं। पुन इन्द्र का वणन है जिसम उसे सूय और ऊषा का जन्मदाता कहा गया है। दूसरे दृष्टिकोण से इन्ही प्रभावो को सूय का जन्मदाता कहा गया है यहाँ पर धार्मिक पुराणवाद और दुखान्त क विकास क लिये पर्याप्त सामग्री है किंतु अभी हमे इससे काम नहा है।

वेद मे, ग्रीक कविता की भाँति, कहा गया है कि सूय का एक रथ है जिसे एक या सात घोडे खीचते हैं। हारीत या उज्वल घोडे, ग्रीक के 'चेराइट' क समान हैं। उन देवताओ का मुख कहा गया है, और दूसरे देवताओ की चक्षु कहा गया है जैसे वरुण, मित्र और अग्नि। जब वह अपने घोडे खोलता है तब रात्रि फैलती है। यह सब सूय की कथा है। इस प्रकार की कथाए प्राय सर्वत्र हैं।

यद्यपि सूर्य को स्वयं प्राणसवित्री कहा गया है जिसका अर्थ है सूष्ना, (ईसाइयों के दार्शार्थ में नहीं) फिर भी सावित्री नाम से उनका स्वतंत्र और नाटकीय रूप हो जाता है।

सावित्री के रूप में उस स्वर्ण रथ पर खड़ा कहा गया है। पीले बाल स्वर्णिम, भुजायें, हाथ, आँखें, स्वर्णिम जिह्वा। उसके जबड़े लोहे के बताये गये हैं। वह सानरंग का कवच पहने है, वह धूलि से रहित मार्ग पर चलता है।

मित्र प्रारम्भ में सूर्य था, नये प्रकाश में और नये नाम से। वह मुख्यतः प्रभात का अरुण वर्ण प्रसन्न मुख स्वरूप है। या मित्र है। सूर्य और मित्र का एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है आधुनिक समय में भी रूस का मित्र (बीता हुआ) 'पस्टर सन' कहा जाता है। कभी-कभी कवि कहता है कि सावित्री मित्र है। वह मित्र का ही काम करता है। मित्र का वरुण के साथ पुकारा जाता है। दोनों एक ही रथ पर खड़े हैं जो सूर्योदय के समय स्वर्णिम होता है और सूर्यास्त में लोह की छड़ें धारण करता है।

पुनः सूर्य का दूसरा नाम विष्णु है वह भी पहले एक सूर्य का प्राणी था उसके तीन चरणों से यह स्पष्ट होता है। प्रातः मध्याह्न और सन्ध्या में उसकी स्थिति किन्तु उसका पार्थिवरूप बाद में समाप्त हो जाता है और दैवी कार्यों की सत्ता रह जाती है।

इसके विपरीत पूषन की स्थिति साधारण है। पहले उसे गड़रिया के दृष्टिकोण से माना गया था और वैदिक कवि की नकल में घोड़ों के स्थान में बकरियाँ वाहन हैं। उसका राजदंड बैल का अंकुश है। कटार स्वर्णिम (वाशि) है, उसकी बहिन या प्रेयसी सूर्य है। सूर्य या उषा को देवी माना गया है। प्रत्येक सूर्य देवता के समान उसे सर्व द्रष्टा कहा गया है।

आदित्य नाम बाद को बहुत प्रचलित हुआ। वह वेद में मुख्यतः अनेक सूर्य सम्बन्धी देवताओं के लिये है। मैं उन्हें सूर्य सम्बन्धी कहता हूँ क्योंकि यद्यपि प्रोफेसर राथ उनको केवल नैतिक धारणायें मानते हैं वे स्पष्टतः सूर्य के पूर्व नामों को और रूपों को जो वेद की ऋचाओं में हैं प्रकट करते हैं। इस प्रकार सूर्य आदित्य है सावित्री भी एक आदित्य है मित्र एक आदित्य है और जब आदित्य का प्रयोग अलग होता है तब, विशेषतः ऋग्वेद के बाद के अंशों में उसका अनुवाद सूर्य ही होता है।

यह सब समझ में आने वाली बात है। इस प्रकार के वर्णन दूसरे धर्मों में और धार्मिक कथाओं में भी मिलते हैं।

सूर्य एक अलौकिक शक्ति

दूसरे स्थलों में वैदिक कवियों का स्वर बदला है। सूर्य केवल प्रकाश पूर्ण देवता ही नहीं है जो आकाश में प्रतिदिन अपना काम पूर्ण करता है। उसे अधिक

महत्वपूर्ण कार्य करने वाला माना गया है। वास्तव मे उसे नियन्ता, शासक, स्थापक और ससार का सृष्टा कहा गया है।

हम वैदिक ऋचाओ का पग पग पर अनुसरण करके इस विकास का समझ सकते हैं। पहले सूय को केवल प्रकाश पिंड माना जाता था फिर उसे सृष्टा, शासक, ससार का उपहार-दाता और श्रेष्ठ देवत्व पूर्ण माना गया।

पहले चरण मे हम देखते है कि सूय का प्रकाश प्रात मनुष्य को जगा देता है और नवजीवन देता जान पडता है, केवल मनुष्यो को ही नही समस्त प्रकृति को, जो प्रभात मे हमे जगाता है और जो सम्पूर्ण प्रकृति को नवजीवन प्रदान करता है उसे शीघ्र ही प्रतिदिन जीवनदाता पुकारा जाता है।

दूसरे और दृढ चरण मे प्रतिदिन का प्रकाश और जीवनदाता सम्पूर्ण रूप से सबको प्रकाश और जीवन दाता हो जाता है।

जो आज प्रकाश और जीवन देता है वही है जिसने प्रारम्भ के दिनो मे प्रकाश और जीवन दिया था। प्रकाश से दिन का प्रारम्भ होता है इसलिये प्रकाश ही से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ और सूय केवल प्रकाश दाता या जीवन दाता ही नही है, सृष्टा भी है और जब सृष्टा है तब ससार का शासक भी है।

तीसरे चरण मे सूर्य घन अधकार को पूर करने वाला है और पृथ्वी का पोषण करने वाला भी है इसलिये सूय की धारणा सृष्टि मात्र के रक्षक और माता के रूप मे की गयी है।

चौथे चरण मे, सूय सब कुछ देखता है। 'सूर्यो यथा सर्व लोकस्य चक्षु'। क्या पुण्य है क्या पाप है, भला बुरा सब कुछ देखता है। तब यह कितना स्वाभाविक है कि पापो से कहा जाए कि सूय सब कुछ देखता है उसे भी जिसे मानवीय चक्षु नही देख सकते और निष्पाप आत्माओ को सान्त्वना दी जाय कि जब सब सहारे छूट जायें, सब लोग धोखा दे जाये तब भी सूय की पुकार करनी चाहिये कि वह उनके निष्पाप और निष्कलक होने को प्रमाणित करें।" मेरी आत्मा भगवान की प्रतीक्षा उनसे अधिक करती है जो प्रभात की प्रतीक्षा करते हैं' (साम सा, ३० ६)

अब हम कुछ पदो का विवेचन करें। इनमे से प्रत्येक अत्यन्त स्वाभाविक परिवर्तनो का इससे स्पष्टीकरण हो जायगा।

सूय का सावित्री नाम ही जीवनदाता अर्थ रखता है 'प्रसविता नाम ऋग्वेद ७, ६३, १ मे हम पढते हैं।

"सूय उदय होता है, सर्वद्रष्टा, आनन्द-वर्धक,
सब मानवो के लिये समान
मित्र, वरुण की चक्षु,

देवता, केचुल सा सब अधकार लपेटा ।'

पुन ७, ६३, ४ —

"प्रकाश पुज (सूय, नभमडल स निकला, विस्तृत प्रकाश,)
अपने पथ पर, दूर कर्म पर, ज्योतिमान आरुढ ।
जीवनदाता से प्रेरित सब मानव भी,
अपने कर्म माग पर जाय, अपन लक्ष्य स्थान पर पहुँचे ।

दूसरी ऋचाये (७, ३० २) हम पढते हैं कि सूय को प्रत्येक पदार्थ का रक्षक कहा गया है जो गतिमान हैं या स्थिर है जिसका अस्तित्व है ।

सूर्य को लोकस्य चक्षु 'कहा गया है वह सब कुछ देखता है । इसका प्रसग प्राय आया है । नक्षत्र सूय के सामने स भागते हैं जो सब कुछ देखता है जैस चोर भागते हैं । वह मनुष्यो म सत्य और असत्य देखता है जो समस्त ससार को देखता है वह मनुष्या के सब विचार जानता है ।

सूय सब कुछ दखता है और सब कुछ जानता है इसलिये उससे प्रार्थना की गयी है कि वह उसे भूल जाय और क्षमा कर दे जो केवल उसने ही देखा है और जाना है ।

इस प्रकार हम ४, ५४, ३ मे पढते हैं अविवेक स, दुबलता से, अभिमान से और मानवीय स्वभाव से स्वर्गीय आतिथेय के सम्मुख हमने जो कुछ भी किया है हे सवितार ! देवताओ और मनुष्यो के सामने हमे यहाँ निष्पाप करो ।' सूर्य से प्रार्थना की गयी है कि वह बीमारी और दु स्वप्न भगा दे । दूसरे देवताओ से भी प्रार्थना की गयी है कि वह मनुष्य को पाप मुक्त करे और अवद्य से सूर्योदय की वेला मे बचावे ।

जब एक बार और अनेक बार सूय को जीवनदाता कह कर पुकारा गया तब उसे समस्त चर और अचर का प्राणी और श्वास भी कहा गया है ।

और अन्त मे वह सब का निर्माता विश्वकर्मा हो जाता है जिसके द्वारा सब लोक एक दूसरे के निकट लाये गये हैं । वह प्रजापति कहलाता है जिसका अर्थ है मनुष्य और समस्त प्राणियो का स्वामी । एक कवि कहता है 'सावित्री ने पृथ्वी को रस्सो से बाधा है । उसने स्वग की स्थापना स्वय की है ।" उसे स्वग का रक्षक कहा गया है । ससार का प्रजापति बताया गया है । फिर भी वह लाल रग का ऐसा कवच धारण करता है जिसे स्वर्णिम-केश वाल सूर्य देवता का कहा जा सकता है ।

दूसरा कवि घोषणा करता है 'स्वग की रक्षा सूय करते हैं और पृथ्वी का रक्षक सत्य है । अन्त म सूय क सम्बन्ध मे व्यवहृत भाषा सर्वोत्तम कोटि का हो जाती । वह देवताओ का देवता कहा गया है । वह सब देवताओ का देवी नेता, अग्रगण्य है ।

६ ' सावित्री मे व्यक्तिगत और दैवी तत्व और अधिक विकसित हैं । इस हमने पिछले उद्धृत पदो मे देखा है । दूसरे पदो मे भी और स्पष्ट रूप से हम इसे देखेंगे ।

वल सावित्री सम्पूर्ण ससार पर राज्य करता है। उसके बनाये नियम कठोर हैं।

दूसरे देवता न केवल उसकी स्तुति करते हैं वरन् एक नेता के समान उसके पीछे चलते हैं। कुछ पदों में कहा गया है कि उसने दवताओ को अमरत्व प्रदान किया। और मनुष्यो के अनेक जन्म उसके वरदान हैं। इसका अर्थ यही हो सकता है कि देवताओ का अमरत्व और मानवा का जीवन सावित्री पर निभर था जो प्रकाशमान सूय ही था अन्त म इस नहो भूलना चाहिके कि वेद का सबस अधिक पवित्र मत्र गायत्री है जो सावित्री का सम्बोधित है। "हम सावित्री की गरिमा प्राप्त करें, वह हमारी बुद्धि जागृत कर।'

पुषन को भी प्राय गडरियो क सूय दवता स बडा पद मिलता है। एक स्थान पर उनको मत्य लागा से बडा कहा गया है और दवताओ के समान उनका वर्णन किया गया है। दूसरे स्थानो मे उनका समस्त चर और अचर का स्वामी कहा गया है। प्रत्येक सूय सम्बधी दवता की भाँति वह भी सब कुछ देखता है और सावित्री के समान मृतको की आत्माओ को पुण्यात्माओ के लोक मे ल जाता है।

यह सब जानत हैं कि मित्र और विष्णु को सर्वोत्तम पद दिया गया। मित्र, पृथ्वी और आकाश से बडे हैं।

वे समस्त दवताओ क समर्थक हैं। विष्णु समस्त ब्रह्माड का भरण पोषण करते हैं। वे सग्रामो मे इद्र के साथी है। उनकी महत्ता को कोई नही पा सकता है।

सूर्य एक गौण कोटि म

यदि हमे वेदो के काय के सम्बध मे और कुछ ज्ञान नही है तब हम, सूय की इतनी प्रशसा पढकर यह निष्कष निकालने लगेगे कि प्राचीन ब्राह्मण सूर्य को सर्वोपरि देवता मानते थे, उसकी स्तुति और पूजा करते थे, कई नामो से उसे पुकारते थे। इस अर्थ मे उन्हे एक ईश्वर को मानने वाला कहा जा सकता है। वास्तव मे वे एक देववादी थे। किन्तु यह तथ्य नही है, यह सत्य नही है। इस एक विकास मे निस्सदेह सूर्य ने एक उच्चतम देवता का पद प्राप्त किया फिर भी जो पद हमने उद्धृत किये हैं उनम सूय को सर्वोपरि मानने का ऐसा कोई भी दावा नही हैं जो दूसरे देवताओं की स्तुति मे किसी प्रकार समतुल्य न हो। इस अर्थ मे वह 'ज्यास' और 'जुपिटर' से भिन्न है। इसके अतिरिक्त वैदिक कवियो को एक क्षण के लिये भी सकोच नही होता है जब वे सूय देवता का दूसरे स्थल मे जल का पुत्र कहते हैं, ऊषा से उत्पन्न मानते हैं, दूसरे देवताओ के समकक्ष मानते हैं न कम न अधिक।

प्राचीन वैदिक धर्म को यह विशेषता है, जिसे मैंने एकदेववाद कहा है, कि उसमे एक के बाद दूसरे उच्चतम देवता का विश्वास है। इससे वह अनेक देववाद से पृथक है जिसम अनेक देवता एक उच्चतम दवता के आधीन हैं। और इससे दूसरे के

✓ बिना एक की आकांक्षा पूरी हो जाती है। वेद में एक के बाद दूसरे देवता की स्तुति की गयी है। उस समय जितने भी विशेषण देवता के हो सकते हैं वे सब उनके लिये गये हैं। कवि जब उसका वर्णन करता है तब ऐसा लगता है कि वह दूसरे देवता को जानता ही नहीं। किन्तु उसी ऋचा में दूसरे देवताओं का वर्णन है। वे भी वास्तव में देवत्व पूर्ण हैं स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं और श्रेष्ठ भी हैं। अकस्मात उपासक का दृष्टिकोण बदल जाता है। वही कवि जिसने सूर्य को केवल स्वर्ग और पृथ्वी का शासक कहा था, अब स्वर्ग और पृथ्वी को सूर्य का पिता और माता कहता है और सबका पिता माता मानता है।

धार्मिक विचार के इस पहलू पर अध्ययन कठिन हो सकता है किन्तु इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। इसका समझना अनिवार्य भी है।

हमें स्मरण होगा कि देवता की भावना, जैसी हम समझते हैं, अभी तक निश्चित नहीं हुई। वह भावना धीरे धीरे पूर्णता की ओर जा रही थी। कवियों ने सूर्य की सबसे बड़ी शक्ति मानी थी। किन्तु उन्होंने इसी प्रकार प्रकृति के दूसरे तत्वों के भी सबसे बड़ी शक्ति माना था। उनका उद्देश्य था पर्वत वृक्ष, सरिता पृथ्वी आकाश, घन, अग्नि आदि की स्तुति करना और उन शब्दों में जो बहुत श्रेष्ठ और महान के लिये प्रयुक्त होते हैं। इन सर्व श्रेष्ठ स्तुतियों से प्रत्येक देवता क्रमशः सर्वोच्च देवता होता गया। किन्तु यह कहना कि वे सब देवों का प्रतिनिधित्व करते थे मानसिक भ्रान्ति है। पहले पहल जब उन्होंने वह स्तुति की तब उनमें वह भावना या शब्द था ही नहीं। वे इस वातावरण में कुछ खोज रहे थे देख रहे थे जिसे उन्होंने बाद को देवत्वपूर्ण कहा। प्रारम्भ में उनको इसी से सन्तोष था कि वे अनेक पदार्थों का विधेय पाकर उसकी स्तुति करते थे और उच्चतम विशेषणों से उसे पुकारते थे। इसके बाद, नहीं, यह करते हुये, अनेक विधेय जो एक या अनेक पदार्थों के लिये थे एक स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार पहले पहल वे नाम और धारणाये मिली जिन्हें देवत्व पूर्ण कहा गया। पर्वत, सरिता आकाश सूर्य सबको जीवित और कार्यरत (असुर) कहा गया था अजर माना गया था जो कभी नष्ट नहीं होता है अमर्त्य माना गया था, प्रकाश पूर्ण देवता कहा गया था।

फिर इनमें से प्रत्येक विधेय कुछ समय बाद एक वर्ग का नाम हो जाता था जो केवल उनकी शक्ति ही प्रदर्शित नहीं करता था, केवल पतन और अंधकार से उनकी मुक्ति ही नहीं बताता था वरन् सब गुण बताता था जो उन नामों से प्रकट हो सकते थे। यह कहना कि अग्नि देवता वर्ग की है या उज्वल देवों के वर्ग की है इससे नितान्त भिन्न होगा कि अग्नि उज्जल है, प्रकाशमय है। यह कहना कि द्यास, आकाश, या सूर्य असुर हैं, अमर्त्य हैं तब इससे अधिक अर्थ रक्खेगा कि आकाश लुप्त नहीं होता या

वह सदा कायरत रहता है और गतिमान है। ये विधेय, जैसे असुर, अजर, देव, अनेक पदार्थों के एक समान विधेय हैं यदि प्रारम्भिक एक दववादी यही मानत हैं कि विधेय देवता की खोज होती है मिलता है और दवत्व का अभिप्राय स्वभावत एक ही है तब एम सिद्धान्त क सम्बध म कुछ कहा जा सकता है।

इस समय हम यह देखना है कि इस अभिप्राय की प्राप्ति कैसे हुई। कितने चरणों मे, कितने नामो स अनन्त की धारणा की गयी, अनाम और अज्ञात को नाम दिया गया और अन्त म अनन्त का लक्ष्य प्राप्त हुआ।

वेद म जिनको देव कहा गया है वे ग्रीक मे अनेक स्थलो पर वही नही है। ग्रीक लोग होमर क समय मे ही यह विचार करने लगे थ कि देवताओ की सख्या और स्वरूप कुछ भी हो कोई एक महान सत्ता अवश्य है उस ईश्वर कह या नियति। मनुष्य और दवताओ का एक भगवान होना ही चाहिये।

वेद के कुछ अशो में भी यह विचार आता है और हमारा अनुमान है कि यूनान, इटली, जरमनी या दूसर स्थानो की तरह भारत म भी एक क निये यह धार्मिक आकाँक्षा राज्य सत्ता क अनेक दववाद से पूरी हुई होगी। भारतीय मस्तिष्क शीघ्र ही आगे बढा और हम देखग कि अन्त म वह यहाँ तक पहुँचा कि उसन समस्त दवताओ को ही अस्वीकार कर दिया, द्योस को भी छोड दिया वरुण, इन्द्र या प्रजापति को भी नही माना। इस समय वैदिक देवताओ की व्युत्पत्ति पर विचार करते समय मुझे मुख्यत यह स्पष्ट करना है कि विभिन्न प्रारम्भ होत हुये भी यह स्वाभाविक है कि पहल व एक साथ ही विकसित हुए, एक दूसरे स उनका सम्बध नही था, प्रत्येक अपन क्षेत्र म पूर्ण था और उस समय समस्त मानसिक क्षितिज मे व्याप्त था उनके उपासको की दृष्टि उससे परिपूर्ण थी।

इसी मे वैदिक ऋचाओ का महत्व है और उनम मुख्य अभिरुचि इसी लिये है। आधुनिक भाषाए उन विचारो को भली भाँति प्रकट करना नितान्त असभव है। जब वैदिक कवि पर्वतो के प्राथना करत हैं कि व उनकी रक्षा कर, जब व सरिताओ स विनती करत हैं कि वे उनको जल दें, तब वे भले ही पवन और सरिताओ को देव कह फिर भी दव का अर्थ प्रकाशमन स अधिक होगा। और वह 'डिवाइन' शब्द से भी भली भाँति प्रकट नही किया जा सकता है। तब हम उस प्राचीन भाषा के साथ न्याय कैसे कर सकत हैं। उसका अनुवा", अस्पष्ट को स्पष्ट करने की चेष्टा, आधुनिक शब्दो म कैसे पूरी हो सकती है? वदिक कवियो के लिये वास्तव म पर्वत और सरिताये वैसी ही थी जैसी हमारे लिये हैं किन्तु उनकी धारणा उनको क्रियाशील मान कर अधिक थी क्योंकि वस्तु जिसकी धारणा एक नाम से की जाती थी उसे उस शक्ति से पूर्ण और प्रकट करने वाला माना जाता था जिसस मनुष्य परिचित थे। यदि वह क्रियाशील शक्ति नही थी

तो उनके मस्तिष्क में उसका कोई अस्तित्व नहीं था। उसमें उन्हें कोई रुचि नहीं थी। किन्तु प्रकृति के कुछ पदार्थों को क्रियाशील मानने में और व्यक्ति पूजा या देवपूजा या देव स्वरूप देने में पर्याप्त अन्तर था।

जब कवि सूर्य को रथ पर खड़ा मानते थे स्वर्ण कवच से आवृत, अपनी भुजायें फैलाये हुए तब भी वह मानस कवित्व पूर्ण अनुभूति से अधिक और कुछ नहीं थी जो प्रकृति के कुछ तत्वों के सम्बन्ध मे भी थी। उनको इससे अपनी गति का स्मरण हो आता था। जो हमारे लिये पद्य है वह उनके लिये गद्य था। जो हम कल्पना की उड़ान जान पड़ती है वह उनकी विवशता से उत्पन्न हुई पर वे अपने चतुर्दिक वातावरण को ठीक नाम नहीं दे सके थे। उनका अभिप्राय श्रोताओं को आश्चर्य में डालना या प्रसन्न करना कदापि नहीं था। यदि हम वशिष्ठ या विश्वामित्र से पूछ सकते या किसी प्राचीन वैदिक कवि से जान सकते कि क्या वे वास्तव में सूर्य को जिसे वे प्रतिदिन ज्योति पिंड के रूप में देखते थे, एक मनुष्य समझते हैं। जिसके हाथ पैर हैं, हृदय और फेफड़े हैं तो वे निश्चय ही हम पर हंसते। वे हम से कहते कि यद्यपि हम उनकी भाषा समझते हैं फिर भी हम उनके विचार नहीं समझते हैं।

सावित्री शब्द का अर्थ पहले उतना ही था जो शब्दार्थ था। वह 'सू' धातु से निकला है जिसका अर्थ है, उत्पन्न करना, जीवन देना। इसलिये जब सूर्य के लिये उसका प्रयोग किया गया तो उसका अर्थ इतना ही था कि सूर्य जीवन देता है और जमीन बनाता है। सूर्य के ये कार्य दृश्य थे। इससे अधिक और कोई अर्थ नहीं था। इसके बाद सावित्री, एक ओर पुराणों की कथाओं का आधार बना, प्रकाशपिंड का द्योतक हुआ और दूसरी ओर वह सूर्य के अनेक नामों के परम्परा में डूब गया।

सूर्य के सम्बन्ध में जो प्रगति हमने देखी है, वही प्रगति हम बार बार वैदिक काल के अधिकांश देवताओं के सम्बन्ध में देख सकते हैं।

यह बात सब के सम्बन्ध में नहीं है। अधः देवता कहे जाने वाले सरिता, पर्वत, मेघ, समुद्र, ऊषा रात्रि, वायु, आधी, आदि देवता के परम पद को नहीं पाते। अग्नि वरुण, इन्द्र, विष्णु, रुद्र, सोम, पार्जन्य और अन्य के लिये जो विशेषण प्रयुक्त हुये है वे विशेषण केवल सर्वसत्ता-सम्पन्न देवता के लिये ही हो सकते हैं।

आकाश, द्यौस के रूप में प्रकाशक

अब हम एक और देवता की उत्पत्ति और इतिहास पर विचार करें जो प्राचीनतम देवताओं में है, केवल वैदिक आर्यों का नहीं वरन् सम्पूर्ण आर्य जाति का था। मेरा अभिप्राय वैदिक द्यौस या ग्रीस ज्यास से है। कुछ विद्वान अब भी शंका करते हैं कि क्या यह देवता वैदिक काल में था। और निश्चय ही द्यौस का देवता के रूप में कोई

चिह्न नहीं है। इतना ही नही, पुल्लिंग सना मे उसका वर्णन नही है। द्यौस वहाँ स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त है और उसका अर्थ है आकाश।

वेद के विद्वानो ने जो खोज की है उससे मुझे आश्चर्य होता है कि वह देवता जो यूनान म ज्यास था, इटली मे जुपिटर था, एडा मे त्यार था, जर्मनी मे जिओ था और जिसे संस्कृत मे भी होना चाहिये था किन्तु नहीं था और फिर अकस्मात वेद की पुरानी ऋचाओ मे आ गया। वेद म द्यौस आया है। केवल पुल्लिंग मे ही नही वरन् पिता के साथ जैसे द्यौस पिता। यह लेटिन मे जुपिटर है। द्यौस पिता की यह खोज, *एक शक्तिशाली दूरबीन से स्वर्ग और आकाश मे स्थित एक महत्वपूर्ण नक्षत्र की खोज* के समान थी जिस गणना द्वारा हमने पहले ही जान लिया था और उसके ठीक स्थान का पता लगा लिया था।

फिर भी वेद म द्यौस एक *छुवता नक्षत्र* है। उसका अर्थ प्राय आकाश है। शुद्ध अर्थ होगा प्रकाशमान क्योकि उसका धातु 'दिव' है जिसका अर्थ है चमकना। ससार को प्रकाशित करने की इस शक्ति के कारण ही द्यौस नाम दिया गया। प्रकाशक कौन था ? शब्द से इसके आगे का अर्थ नही निकलता। वह असुर था, जीवित प्राणी। केवल इतना ही कहा गया है। इसके बाद द्यौस पौराणिक कथाओ का केन्द्र बन गया और साधारण भाषा मे वह समाप्त हो गया। जैसे सावित्री, जीवन दाता, आकाश के और नामो मे विलीन हो गया।

यह द्यौस उस समय प्रकाश के अर्थ म था जो आकाश को प्रकाशित करता है किन्तु प्रारम्भ से ही इसका महत्वपूर्ण स्थान देवताओ और दूसरी प्रकाशमान सत्ताओ मे था। यह विशिष्टता ग्रीक ज्यास और लेटिन जुपिटर मे पूर्ण हुई। वैदिक द्यौस मे भी हम यही प्रवृत्ति देख सकते हैं।

किन्तु इस प्रवृत्ति को रोकने के लिये दूसरी प्रवृत्ति थी जो प्रत्येक देवता के सम्बन्ध मे थी। यह प्रवृत्ति प्रत्येक देवता को उच्चतम स्वरूप देने की थी। द्यौस को प्राय पृथ्वी और अग्नि के साथ पुकारा गया है (ऋग्वेद ६, ५१, ५)

"द्यौस पिता, पृथ्वी दयालुमाता, अग्नि भ्राता देवसुर (प्रकाशमान) हम पर दया करो"

द्यौस को प्रथम स्थान मिला है। पुरानी स्तुतियो मे वह इसी प्रकार पुकारा गया है। उसे निरन्तर पिता कहा गया है (१, १९१, ६) "द्यौस पिता है, पृथ्वी माता है, सोम भाई है अदिति बहिन है पुन (ऋग्वेद ४, १, १०) "द्यौस पिता, सृष्टा द्यौस पिता पिता जनिता।"

प्राय द्यौस को अकेले न पुकार कर पृथ्वी के साथ पुकारा गया है। दोनो शब्दो-

को मिलाकर वेद मे एक दोहरे देवता की मान्यता है उस 'द्यावा पृथ्वी' स्वर्ग औ पृथ्वी कहा गया है।

वेद म अनेक पद हैं जिनमे पृथ्वी और स्वग को सर्वोच्च देवता माना गया है दूसरे देवता उनके पुत्र कहे गये हैं विशेषत वेद के दो लोकप्रिय देवता इन्द्र और अग्नि उनके पुत्र कहे गये हैं। उनके ही द्वारा ससार की सृष्टि हुई है। वे उसकी रक्षा करते हैं। वे अपनी शक्ति से सब की रक्षा करते हैं समस्त सृष्टि की।

जब स्वग और पृथ्वी के लिये समस्त विशेषण प्रयुक्त कर दिये गये जो उनक अमर, सर्व शक्तिमान और अनन्त होने के लिये किये जा सकते थे तब हम अकस्मात् एक ऐसे देवता को पाते हैं जो देवताओ के बीच मे कारीगर था। जिसने स्वर्ग और पृथ्वी की रचना की उसे द्यावा पृथ्वी कह या रोदसी कहे। अनेक स्थनो पर इन्द्र को स्वग और पृथ्वी का स्रष्टा और भर्ता कहा गया है। वही इन्द्र जिनको दूसरे स्थल पर द्यौस का पुत्र कहा गया है या स्वग और पृथ्वी का पुत्र माना गया है।

द्यौस और इन्द्र मे श्रेष्ठता के लिये प्रतिस्पर्धा

वास्तव मे हमे यहाँ पर पहली बार दो प्रसिद्ध देवताओ म, प्राचीन देवता और देवी, स्वग और पृथ्वी मे और अधिक आधुनिक और वैयक्तिक देवता इन्द्र मे, जा प्रारम्भ मे वर्षा-दाता कहे गये थे, जुपिटर प्लूवियस, एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा दिखायी देती है। इन्द्र को अपनी दैनन्दिन और वार्षिक गतियो के कारण, अधकार और पाप की शक्तियो पर विजय पाने के कारण रात्रि और शीत पर, विशेषत उन डाकुआ पर विजय पाने के कारण जो बादलो को चुरा ले जात थ, एक परमवीर का पद दिया गया था। इन्द्र विरोधी और तामस शक्तियो पर विद्युत और धन घाप स विजया हाते थे। इस इन्द्र क सम्बन्ध मे जो प्रारम्भ मे स्वग और पृथ्वी के पुत्र थे, कहा जाता है कि उनके जन्म के समय स्वर्ग और पृथ्वी कम्पित हुये। (१) फिर हम पढ़ते हैं (ऋग्वेद १ १३१, १) "इन्द्र के सम्मुख द्यौस झुक गया महान पृथ्वी इन्द्र के सम्मुख नतमस्तक हुई' ओ इन्द्र! तुम स्वग की चोटी को हिलाते हो। एस वर्णन वास्तव म सत्य हैं, पार्थिव दृष्टि से, जब धन गजन और तूफान के देवता के सम्बन्ध म इन्द्र प्रयुक्त किया जाता है जिसके सम्मुख "पृथ्वी कापगी स्वर्ग कंपित होंगे, सूर्य और चन्द्रमा अधकार मय हो जायेंगे नक्षत्र चमकना बन्द कर देंगे तब उनका नैतिक अर्थ लगाया जाता है। इससे इन्द्र का परमपद और श्रेष्ठता का भाव प्रकट किया जाता है। इस प्रकार एक कवि कहता है। इन्द्र की महत्ता स्वग स आगे है पृथ्वी और आकाश स आगे है। (२)

---

(१) लेक्चर्स आन सायंस आफ लग्वेज भाग २, ५४३७

(२) इबिड १, ६१ ८ अस्मद्दत एव प्रारिरिच। महित्वम् दिव पृथिव्य परि

दूसरा कवि कहता है।" इन्द्र स्वर्ग और पृथ्वी से बहुत बडे हैं। उसकी तुलना मे ये दोनो आधे हैं।"

इसके आगे इन देवताओ के पारस्परिक सम्बन्ध और स्थिति पर ध्यान की बात है, पिता पुत्र की, और अन्त मे यह स्वीकार करना पडेगा कि विजेता इन्द्र (पुत्र) अपने वज्र और विद्युत के धनुष बाण के कारण अपने पिता (आकाश) से बड़े थे, अपनी माता अचला पृथ्वी से बडे थे और दूसरे देवताओ से भी श्रेष्ठ थे। एक कवि कहता है "उनके देवता बूढा की तरह भगा दिये गये, इन्द्र सम्राट पद पर सुशोभित हुये।" इस प्रकार हम देखते हैं कि इन्द्र भी कैसे दूसरे परम श्रेष्ठ देवता हो गये।

एक और कवि कहता है "तुमसे आगे कोइ नही है। तुमसे बडा कोई नही है। तुम्हारे समान काइ नही है। वेद के अधिकांश मत्रो मे वह सर्व श्रेष्ठ देवता है। फिर भी उस सीमा तक नही कि हम उसको तुलना ज्याम' की स्थिति से कर सके। और दूसरे देवता सदैव उसके आधीन भी नही हैं। हम यह भी नही कह सकते कि वे सहयोगी है। कुछ स्थलो पर कुछ देवता परस्पर सम्बन्ध हैं और कुछ विपरीत इन्द्र दूसरो से बडे माने गये हैं फिर भी ये दूसरे देवता भी अपने समय मे श्रेष्ठ माने जाते रहे और जब उनसे वरदान देने की प्रार्थना की गयी है तब उनकी शक्ति और बुद्धिमत्ता को और बडा बनाने के लिये जो भाषा प्रयुक्त की गयी है वह अत्यन्त अतिशयोक्ति पूर्ण और समय है।

इन्द्र की स्तुति, प्रधान देवता के रूप मे

मैं इन्द्र की एक स्तुति का अनुवाद दे रहा हूँ और दूसरी वरुण की स्तुति है। इससे मेरा अभिप्राय यह स्पष्ट करने का है कि देववाद का अर्थ क्या है। उस धर्म मे देववाद का रूप क्या है जो प्रत्येक देवता को, स्तुति के समय उच्चतम गुणो से पूर्ण मानता है। इसमे अधिक काव्यमय होने की आशा न की जाय, अपने शब्दार्थ मे। उन प्राचीन कवियो के पास इतना समय नही था कि वे कविता के अलकार प्रदर्शन मे या शब्दो के चमत्कार मे लगते। वे जो कहना चाहते थे उसकी अभिव्यक्ति के लिये कठिन अध्यवसाय करते थे और उपयुक्त शब्द खोजते थे। इसलिये प्रत्येक आनन्दपूर्ण अभिव्यक्ति उनको सान्त्वना देती थी प्रत्येक मत्र और ऋचा, हम वह चाहे जितनी छोटी जान पडे, उनके लिये एक वीरता का कार्य थी। वास्तव मे वह उनका सच्चा त्याग और बलिदान था, उपयुक्त शब्द मे अन्तर की अनुभूति का वर्णन। उनका प्रत्येक शब्द वजन रखता है और हृदय पर एक छाप छोडता है। किन्तु जब हम आधुनिक भाषा मे उसके अनुवाद का प्रयास करते हैं तब निराश होकर उसे छोडने को होते हैं।

ऋग्वेद ४,१७ "हे इन्द्र तुम महान हो। स्वर्ग और पृथ्वी तुम्हारी अधीनता प्रसन्नता से स्वीकार करते हैं। जब तुमने अपनी शक्ति से वृत्र को मारा, तब उन धाराओं को मुक्त किया जिन्हें नाग खा गया था। (१)

"तुम्हारी गरिमा के जन्म से स्वर्ग कम्पित हुआ, पृथ्वी कांपी, अपने ही पुत्र के क्रोध के भय से। दृढ़ पर्वत नाचने लगे। मरुस्थल नम हो गये। जलधारा बहने लगी।' (२)

"उसने पर्वतों को तोड़ा शक्तिपूर्ण भयंकर वज्र से और अपनी शक्ति प्रदर्शित की। अपने वज्र से उसने वृत्र को मारा, जलधारा शीघ्र फूटी जब उसका मुख्य अवरोधक मार डाला गया।' (३)

'तुम्हारा पिता, द्यौस, बलवान कहा जाता था। उसने इन्द्र को बनाया था, सब कारीगरों में वह चतुर था। उसने एक प्रतिभाशाली को जन्म दिया था जिसका वज्र अच्छा है जो पृथ्वी की भांति अपने स्थान से नहीं हटेगा। (४)

'इन्द्र की स्तुति अनेक करते हैं, वही पृथ्वी को चलाते हैं। वह मनुष्यों के सम्राट हैं। सब प्राणी उनमें आनन्द पाते हैं। एक वही सत्य है। शक्तिमान देवता के वरदान की प्रशंसा करते हुये। (५)

सोम समस्त उसका था। उस महामहिम का सब कुछ था। अत्यन्त आनन्द, परमानन्द। तुम सदैव धन के कोषाध्यक्ष थे। हे इन्द्र सबको अपना भाग देते हो।'(६)

हे इन्द्र। जब तुम उत्पन्न हुये, सब भयभीत हुये। तुम, हे वीर! अपने वज्र से उस नाग को काटते हो जो निम्नगामी जलधारा के बीच में पड़ा था। (७)

इन्द्र की स्तुति करो। सदा घातक निर्भीक महान, वन्द्य, अनन्त और वास्तविक वीर वज्रधारी इन्द्र जिन्होंने वृत्र को मारा, लूट का धन जीता। वह धन देते हैं। वह धनाढ्य और उदार है।' (८)

'वह दैत्यों को हटा देता है जो एकत्र हुये हैं। वही एक संग्राम में शक्तिमान प्रसिद्ध है। लूटा हुआ धन वह घर लाता है। उनसे हम मित्रता करें और उनके प्रिय बनें।' (९)

'वह विजेता और मारक प्रसिद्ध है। युद्ध में वह पशुओं को ले जाता है, जब इन्द्र गम्भीरता से कोप करते हैं तब जो दृढ़ है वह भी कांपता है और भय खाता है।" (१०)

"इन्द्र ने पशुओं को जीता। उसने स्वर्ण और अश्व जीते। वह बलवान सब दुर्ग जीतता है। इससे वह शक्तिशाली है। अपने मनुष्यों को वह कोष बाँटता है और धन एकत्र करता है।' (११)

"इन्द्र अपनी माता या पिता को जिन्होंने जन्म दिया कितना मानते हैं ?

इन्द्र अपनी शक्ति एक क्षण मे प्रकट करते हैं, प्रबल झंझा वेग के समान, गरजते हुये मेघो के साथ।' (१२)

"वह घर वाले को बिना घर का बना देता है। वह बलवान धूलि को उद्वेलित कर मेघ बनाता है। वह सब कुछ तोड़ता है। द्यौस के समान वह वज्र चलाता है। क्या वह गायक को धन देगा ?" (१३)

"उसने सूर्य का रथ चक्र चलाया फिर उसने एतसा को आगे बढ़ने से रोका। घूमकर उसने उसे रात्रि के कृष्ण घन अंधकार मे फेंक दिया, इस आकाश के जन्म स्थान मे।" (१४)

"जैसे कूप से जल निकाला जाता है, उसी प्रकार हम कवि जो धेनु अश्व, धन (लूट) स्त्री, की कामना करते हैं अपने को इन्द्र के निकट लावे। वह हमारे मित्र हो। बलवान इन्द्र जो हमे स्त्री देते हैं और जो कभी अपनी सहायता से निराश नहीं करते हैं। (१५)

"तुम हमारे रक्षक बनो, तुम हमारे मित्र हो। हम पर दया दृष्टि करो। बलि देने वालो को तुम शान्ति देते हो। तुम मित्र, पिता और उत्तम पिता हो जो स्वतन्त्रता देता है और प्रार्थी को जीवन देता है। (१६)

"तुम उन सब के मित्र और रक्षक बनो जो तुम्हारी मित्रता चाहते हैं। हे इन्द्र ! जब तुम्हारी स्तुति हो *जाय तब उनको जीवन दो जो तुम्हारी महिमा गाते हैं।* हम एक साथ तुम्हारे लिये बलि देते हैं, तुम्हारी महिमा गाते हैं।" (१७)

"इन्द्र की स्तुति बलवान के रूप मे की जाती है। वह एक है और अनेक-अजेय शत्रुओं का नाश करता है। न तो देवता और न मनुष्य उसके बाधक बन सकते हैं जिसकी रक्षा मे यह कवि गायक, उसका मित्र, खड़ा है। (१८)

"सर्व शक्तिमान इन्द्र मनुष्यों के रक्षक और भर्त्ता, अजेय यह सब हमारे लिये सत्य करें। तुम सब पीढ़ियो के सम्राट हो कवि की महान गरिमा हमे प्रदान करो। (१९)

वरुण की स्तुति, प्रधान देवता के रूप मे

दूसरी स्तुति वरुण को सम्बोधित है (ऋग्वेद २, २८) —

"यह *संसार बुद्धिमान सम्राट आदित्य का है। वह अपनी शक्ति से सब प्राणियों* पर विजय पावे। मैं एक स्तुति उस देवता की खोजता हूं जो बलिदान के लिये *अत्यन्त* महिमामय है, प्रचुर दाता वरुण।' (१)

"हे वरुण ! हम सेवा मे धन्य हों। सदैव तुम्हारा ध्यान और स्तुति करें दिन-दिन तुम्हें नमन करें। दान की अग्नि के समान, विभावरी ऊषा के आगमन के समय।" (२)

' हे वरुण ! हमारे मार्ग दर्शक हम तुम्हारे सान्निध्य में रहें । तुम्हारे साथ अनेक वीर हैं । तुम्हारी प्रशंसा दूर दूर तक है । तुम अदिति के अजय पुत्र हो । हे देवता हमको अपने मित्र के रूप में स्वीकार करो (३)

"आदित्य, शासक ने इन सरिताओं को भेजा । वे वरुण के नियम पर चलती हैं । वे थकती नहीं, वे समाप्त नहीं होती । पक्षियों के समान वे शीघ्र सर्वत्र उड़ती है ।" (४)

' मेरे पाप, एक शृंखला की भाँति तोड़ दो । हे वरुण ! हम तुम्हारे नियम की बड़ी दृढ़ कर देंगे । जब तक मैं अपने गीत की रचना करता हूँ, काव्य का ताना बाना जोड़ता हूँ तब तक तागा न कटने दो । समय से पूर्व कारीगर का रूप न टूटने दो ' (५)

"हे वरुण ! यह भय मुझसे दूर हटा दो । तुम सत्य पथ के सम्राट हो । मुझ पर दया करो । एक बछड़े की रस्सी की भाँति मेरा पाप मुझसे दूर हटा दो । मैं तुमसे विलग होकर एक क्षण मात्र का भी स्वामी नहीं हूँ । (६)

"वरुण ! हम पर आघात न करो । वे अस्त्र तो पापियों के लिये हैं । हमें वह न जाना पड़े जहाँ प्रकाश नष्ट हो गया है । हमारे शत्रुओं को छिन्न भिन्न कर दो जिससे हम जीवित रहें ।" (७)

' हे वरुण ! हमने पहले भी तुम्हारी स्तुति की है । अब भी करते हैं और आगे भी करेंगे ! हे शक्तिमान ! हे अजेय वीर सब नियम और विधान जो अचल हैं तुम पर आश्रित हैं जैसे वे एक चट्टान पर स्थापित हों ।' (८)

"हे सम्राट अपने किये अपराधों से मुझे दूर हटा दो और मुझे दूसरों के किये हुये अपराधों का फल न भोगना पड़े । अनेक ऊषायें अभी प्रकट नहीं हुई हैं । मुझे वरदान दो कि मैं उनमें रहूँ हे वरुण ।" (९)

' हे वरुण ! वह मेरा साथी हो या मित्र जिसने मेरी निद्रावस्था में जब मैं काँप रहा था, मेरे विरुद्ध भयपूर्ण बातें की, वह चोर हो या भेड़िया जो मुझ पर आघात करना चाहता है, उन सबसे मेरी रक्षा करो । (१०)

एक ग्रीक का कवि ज्यास की स्तुति में इससे अधिक नहीं कह सकता था फिर भी मैं अन्य ऋचाओं का उद्धरण दे सकता हूँ जिनमें ऐसी ही और इससे भी अधिक जोरदार भाषा प्रयुक्त की गयी है । अग्नि, मित्र सोम और दूसरे देवताओं की प्रशंसा में ऐसी ही बात कही गयी है ।

देववाद, धर्म का भाषा सम्बन्धी काल

यह देववाद का स्वरूप है, धार्मिक विचार का एक रूप जिससे हमारा प्रथम बार परिचय वेद के द्वारा हुआ । दूसरे धर्मों में भी यह विचार धारा रही होगी । इसमें सन्देह नहीं है कि दूसरे धर्म भी विचार की इस सरणि पर आये होंगे । प्राचीन

सस्कृत साहित्य क इतिहास म जो मैंने १८५९ म प्रकाशित किया था, मैंने धम के इस देववाद स्वरूप पर ध्यान आकर्षित किया है। पृष्ठ ५३२ मे मैंने लिखा है कि जब ये व्यक्तिगत देवता पुकारे जात हैं इनकी स्तुति की जाती है तब इनको दूसरो की शक्ति से सीमित नही माना जाता है या पद म छोटा या बडा भी नही कहा जाता है। प्रत्येक दवता स्रोता के लिये समान रूप से महत्वपूर्ण है।

उस समय उसे वास्तविक दवता माना जाता है, प्रधान और सम्पूर्ण प्रमुख सम्पन्न यद्यपि आवश्यकतावश ऐसी सीमाये हैं जो हमारे विचार से एक देवता के सम्बन्ध म अनेक देवताओ के सयुक्त गुणो के सामने होती हैं। दूसरे सब कवि की दृष्टि स ओझल हो जाते हैं और जो उस की कामना पूर्ण करेगा वह पूर्ण प्रकाश से साधक के सामने होता है। "हे दवगण! तुमम छोटा कोई नही है, कोई भी बच्चा नही है। तुम सब वास्तव म महान हो।' यह भावना वेद के समस्त काव्य म भरी है यद्यपि मनुवैवस्वत की भाति और स्थलों पर स्पष्टता से प्रकट नही की गई है। मनुवैवस्वत ने इसे सबसे अधिक स्पष्ट किया है। यद्यपि दवताओ को प्राय स्पष्ट रूप स छोटा और बडा भी कहा गया है युवक और वृद्ध भी बताया गया है (ऋग्वेद १, २७, १३) फिर भी यह एक प्रयास मात्र है जो दवी शक्तियो को पूर्ण व्यापक विर्नाति दने क लिये है और किसी भी स्थल पर यह नही कहा गया है कि एक देवता दूसरे का या दूसरा का दास था।

इस नही मान लेना चाहिये कि जिस मैं दववाद कहता हूँ जिसस मैं उस साधारण अर्थ म बहुदेववाद से भिन्न रख सकू, कवल भारत मे ही प्रचलित था। हम उसके चिह्न यूनान, इटली और जरमनी म भी पाते हैं। हम इस उस काल म विशेष रूप से पाते हैं जब स्वतन्त्र जातियो को मिलकर राष्ट्रो का निर्माण किया गया था। यह, यदि मैं ऐसा कह सकू तो प्रान्ति थी जो साम्राज्यवाद के पहल थी, एक साम्राज्यवादी धर्म के रूप के स्थान मे जातीय रूप म थी। वह सकते हैं कि यह धम का भाषा पर आधारित विकास काल था। यह उसका समय था। जैसे किसी भाषा क पूर्व उसकी ग्राम्य भाषाये, स्थानीय भाषाये होती हैं जिन्हे बाद का जन साधारण की भाषा कहा जाता है, उसी प्रकार धर्मों क सम्बन्ध म भी कहा जा सकता है। वे प्रत्येक परिवार के कान से निकलते हैं। जब परिवारो को मिलाकर जातियाँ बन जाती हैं तो एक कोना, एक स्थल गाँव की वेदी बन जाता है। जब अनेक जातियाँ मिलकर एक राज्य बन जाती हैं तो विभिन्न वेदियाँ मन्दिर बन जाती हैं या सब लोगो का पवित्र पूजा गृह बन जाती हैं। इस प्रक्रिया में स्वाभाविकता है। इसलिये यह सर्वव्यापी है। दूसरे स्थलो पर हम उसे इतना स्पष्ट नहीं दखते जितना कि वेद म। वहाँ इसकी उत्पत्ति और विकास का क्रमागत इतिहास मिलता है।

विभिन्न देवताओं की श्रेष्ठता

कुछ उदाहरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। (१)

दूसरे मण्डल की प्रथम ऋचा में अग्नि को विश्व का शासक कहा गया है, मनुष्यों का स्वामी, बुद्धिमान राजा, पिता, भाई, पुत्र, मनुष्यों का मित्र कहा गया है। इतना ही नहीं दूसरे देवताओं के सब नाम और गुण अग्नि के बताये गये हैं। यह ऋचा कुछ आधुनिक काल की है इसमें सन्देह नहीं है फिर भी यद्यपि अग्नि का पद बहुत ऊँचा बताया गया है परन्तु दूसरे देवताओं की निन्दा या उनके देवत्व का कम मूल्यांकन करने की कोई भी बात नहीं है।

इन्द्र के सम्बन्ध में जो कहा जा सकता था उसे हम उनकी स्तुति में देख चुके हैं। ऋचाओं में और ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी उन्हें बलिष्ठतम, परम वीर कहा गया है और दसवीं पुस्तक की एक ऋचा में कहा गया है कि इन्द्र सबसे बड़े हैं।

दूसरे देवता सोम के लिये कहा गया है कि वे महान ही उत्पन्न हुए व सब पर विजय पाते हैं। उन्हें संसार का राजा कहा गया है। वह मनुष्यों का जीवन बढ़ाने की शक्ति रखते हैं। एक स्थान पर कहा गया है कि उनके ही द्वारा मनुष्य का जीवन है और वही अमरत्व देते हैं। उन्हें स्वर्ग का, पृथ्वी का, मनुष्यों का और देवताओं का भी सम्राट कहा गया है।

यदि हम वरुण की स्तुति पढ़ें तो वहाँ भी देखेंगे कि कवि के लिये वह सर्वश्रेष्ठ और सर्व शक्तिमान देवता है।

मनुष्यों की भाषा में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है जो वरुण की स्तुति में उन्हें सर्वश्रेष्ठ और परम देवत्व पूर्ण व्यक्त करने में एक कवि ने कहा है 'तुम सब के स्वामी हो, स्वर्ग और पृथ्वी के (१, २५, २०) या (११ २१, १०) में "तुम सब के राजा हो, जो मनुष्य हैं उनके और जो देवता हैं उनके भी सम्राट हो।' वरुण को केवल प्रकृति का ही स्वामी नहीं कहा गया है। वह प्रकृति का नियम और क्रम भी जानते हैं। वे उसके विधायक हैं। यह गुण उनके धृत व्रत विशेषण से प्रकट होता है। व्रत या प्रकृति के नियम तोड़े नहीं जा सकते हैं। वे वरुण पर निर्भर हैं। जिस प्रकार एक शिला पर अत्यन्त दृढ़।

इसलिये वरुण बारह मासों को जानते हैं और तेरहवें मास को भी जानते हैं। वे वायु का मार्ग जानते हैं, पक्षियों की वायु में गति जानते हैं, समुद्र में जलपोतों की गति जानते हैं। वे प्रकृति के सब आश्चर्यजनक कार्यों को जानते हैं। वे केवल भूतकाल

---

(१) हिस्ट्री आफ एनशेंट संस्कृत लिटरेचर' में ५ ५३२ में और म्योर की 'संस्कृत टेक्सटस'।

भाग ४ ५ ११३ भाग ५ ६८ में इसका विशेष वर्णन है।

को ही नही दखते हैं वरन वे भविष्य द्रष्टा भी हैं। इससे भी अधिक, वरुण विश्व की नतिक व्यवस्था भी देखते हैं। इस प्रकार एक स्तुति मे कवि इस आत्म स्वीकारोक्ति स प्रारम्भ करता है कि उसने वरुण के नियमो का उल्लघन किया है उसने उनक नियमा को तोडकर अपराध किया है। वह उनसे क्षमा-याचना करता है। वह उनसे कहता है कि मानवीय दुबलता के कारण अपराध हुआ है। वह पाप का फल मृत्यु को नहा मानता है। वह देवता को प्राथना से प्रसन्न करने की आशा रखता है जिस प्रकार एक घोडे को नम्र शब्दो से वश मे किया जाता है अन्त म वह कहता है। 'नेक हो जाइय। आइये हम पुन एक दूसरे से बात करें।' इने पढकर साम म दिये गय य शब्द कौन भूल सकता है 'क्योकि वह हमारा रूप, बनावट जानता है। उस याद है कि हम घूलि हैं, घूलि स बन हैं।'

यह वरुण भी सर्वश्रेष्ठ नही है और न वह अद्वितीय है। उनका वणन सदव किसी दूसरे क साथ है। मित्र के साथ उनक वणन मे यह नही कहा जा सकता कि वरुण मित्र से वडे हैं या मित्र वरुण से।

मैं इसी का देववाद कहता हूँ। एक देवता की पूजा जिस स्पष्ट रूप से दूसरे दवताओ को नही माना गया है और इस बहुदववाद से भी भिन्न समझना चाहिय जिसमे अनेक देवताओ की उपासना की जाती है जा सब मिला कर एक दव-समूह बनात हैं। वे एक परम देवता के शासन मे होत हैं।

देववाद का आगे का विकास

अब हम यह देखें कि इस वैदिक दववाद का आगे चलकर कैसा विकास हुआ। सबस पहल हम यह पता लगता है कि इनम स अनक देवता जो एक ही श्रोत स निकल थे कुछ समय तक अकेल चलने के बाद, सबके साथ चलन की प्रवृत्ति रखत हैं। द्यौस आकाश था, सर्वव्यापी था। सावित्री सूर्य था जा प्रकाश ओर जीवन दता था। विष्णु तान पग स आकाश पार करत थे। इन्द्र आकाश म वर्षा-दाता के रूप म प्रकट हुए थ। रुद्र और मारुत आकाश क झझा और घन गर्जन म दिखाइ दत थे। वात और वायु, हवा थी अग्नि प्रकाश देती थी, ऊष्मा देती थी, जहाँ भी उन्हें दखा जाता था, अन्धकार से प्रकट हाउ हुए प्रभात म या अधकार मे डूबत हुए सध्या काल म। दूसरे छोटे देवताओ के सम्बन्ध में भी यही बात है।

इसीलिये यह हुआ कि जो विशेषण एक देवता के लिये प्रयुक्त हाते थे वही दूसरे दवता क लिये भी प्रयुक्त हात थ। एक ही विशेषण अनेक दवताओ के हैं। एक ही प्रकार की कथायें विभिन्न देवताओ क सम्बन्ध म कही जाती हैं।

केवल सूय मडलीय देवताओं क लिये ही नहीं, इन्द्र, मारुत आदि क लिय भा

द्यौस-पुन का प्रयोग हुआ है और आकाश को पृथ्वी का पति माना जाता था इसलिये पृथ्वी सब देवताओं की माता हो सकती थी।

जब सूर्य प्रकट होता था तब उसे केवल प्रकाशक ही नहीं कहा जाता था। उसे स्वर्ग और पृथ्वी का रहस्य खोलने वाला माना जाता था। इसके बाद एक छोटे चरण से हम उस स्थिति म पहुँचते थे जब सूय को स्वग और पृथ्वी को लौटा लाने वाला या हमारे लिये उनका स्रष्टा कहा जाता था। इसी उपलब्धि को इन्द्र को भी बताया गया है, वरुण भी यही करते थे, अग्नि का भी यही कार्य था, जो सूय की ज्योति है। विष्णु भी स्वर्ग और पृथ्वी के स्रष्टा कहे गये है जो ससार को अपन तीन पग से नापन हैं।

एक दूसरे दृष्टिकोण से अग्नि को सूय को लौटा लाने वाला कहा गया है। यही कार्य इन्द्र, वरुण और विष्णु भी करते है।

यद्यपि अधकार और बादलो से युद्ध करने वाल मुख्यत इन्द्र है फिर भी द्यौस को वज्र चलाने वाला कहा गया है। अग्नि अधकार के राक्षसो का नाश करती है। विष्णु मारुत और पाजन्य सब दैनिक और वार्षिक सग्राम मे भाग लेत हैं।

प्राचीन कवि यह सब देखते थ जानत थे, जानत थे जिस प्रकार हम जानते हैं। और व यहाँ तक आगे बढकर घोषणा करते थे कि एक देवता दूसरे देवता के समान ही है।

इस प्रकार अग्नि को इन्द्र और विष्णु कहा गया है। सावित्री, पूपन, रुद्र, अदिति कहा गया है। इतना ही नही उनको सब देवता कहा गया है अथर्ववेद की एक ऋचा म हम पढ़ते हैं (१३, ३, १३)

सध्या समय अग्नि, वरुण हो जाता है। प्रभात मे सूर्योदय के समय वह मित्र होता है। सावित्री होकर वह आकाश म चलता है। इन्द्र होकर वही आकाश को मध्य मे उष्ण करता है।

सूय को इन्द्र और अग्नि के रूप म ही माना गया है। सावित्री मित्र और पूपन है।

इन्द्र वरुण हैं। द्यौस पाजन्य और इन्द्र के समान हैं। निससदेह स्वत त्र देवताओं की सख्या कम करने के लिये ब्राह्मणो का यह कहना बहुत ही आवश्यक था किन्तु इतना करने के बाद भी व एक देववाद स अब भी बहुत दूर थ।

प्राचीन कवियो न दूसरा उपाय और निकाला जो वद म विचित्र है। व दो देवताओं का एक नाम म पुकारने लगे। (१) दो देवताओं के नाम जिनके कुछ काय

(१) एक ही नाम म दो देवताओं की कुछ आवश्यक सूची यह है—अग्नि सोम्ब इन्द्र वायु इन्द्र अग्नि इन्द्र-बृहस्पति इन्द्र-वरुण, इन्द्र-विष्णु, इन्द्र सोमो पाजन्य बाता मित्र-वरुणो सोम पूषानी सोम रुद्रौ।

एक समान थे, एक मिश्रित नाम मे लिये गये और उसे दो वचन मे कहा गया। इस मिश्रित नाम से एक नया देवता बन गया। इस प्रकार ऐसी ऋचायें हैं जिनम मित्र और वरुण की अलग स्तुति है और फिर एक दवता, मित्र-वरुणौ, के मिश्रित एक नाम से स्तुति है। इतना ही नही, कभी कभी उनको दो मित्र और दो वरुण कहा गया है।

तीसरा उपाय यह था कि समस्त देवताओ का एक नाम से पुकारा जाय। इस प्रकार विश्वदवा की स्तुति होन लगी और सबको एक साथ बलि दी जाने लगी, एक सामुहिक रूप मे, दवताओ क समूह क लिय।

अन्त मे दूसरा उपाय अपनाया गया जो हम सबसे अधिक स्वाभाविक जान पडता है। एक देवता की भावना का अनेक दवताओ के अस्तित्व के साथ सामञ्जस्य किया गया। यह ग्रीक और रामन लागो ने भी किया था। उन्होने सब देवताओ क ऊपर एक देवता को श्रेष्ठ माना था। इस प्रकार एक पूर्ण सत्ताधारी देवता का भावना को पुष्ट किया था। इससे पूर्व प्रचलित परम्परा से सम्बन्ध भी टूटा था और प्रकृति म देवासत्ता के व्यक्तिगत स्वरूपो क लिय दी गयी बलि और पूजा भी बनी रही थी। उनके एपालन, और एथेना या पासेडन और ह्रडस, ज्यास क पार्श्व मे बने रह थे। यदि यह सत्य है जैसा प्राय कहा गया है कि दवताओ म श्रेष्ठ राजा पद का प्रचलन उन्हीं लागो म था जिनका शासन प्रबन्ध राजा की प्रथा म था तब हमारा तक यह है कि भारत मे प्राचीन काल मे देवताओ का राजा न होने स यह परिणाम निकलता है कि स्वदेश मे राजा शाही का शासन नही था। (१)

एक दववाद का प्रवृत्ति

वैदिक आर्यों न भी यह प्रयास किया कि अपने दवताओ म एक को श्रेष्ठता स्थापित करे किन्तु उनको इसम यूनान या दूसरे देशो की भांति उतनी सफलता नही मिली।

हमने यह देख लिया है कि कुछ देवता जैसे सावित्री, (सूर्य) वरुण और जल को न केवल ससार को प्रकाशित और उज्वल करने वाला माना जाता था वरन् उनको स्वर्ग और पृथ्वी का अवतरण करने वाला माना जाता था, उनका मापक और अन्त म उनका सृष्टा माना जाता था। उनको केवल विश्व-चक्षु ही नही कहा गया जो

(१) अरिस्टटेलिस पालिटिका २७ और इसलिये सब लाग कहत हैं कि देवताओ का भी एक राजा था। इसका कारण यह था कि उनक स्वय राजा थे पहल या अब भी। क्योकि मनुष्य ही दवताओ की सृष्टि अपन स्वरूप का देखकर करत है। केवल अपने स्वरूप क ही अनुसार नहीं वरन् अपने जीवन क्रम क अनुसार।

सब कुछ देखते थे, विश्व-व्याप्त, सब में समाहित, विश्व-वेदा, सब कुछ जानने वाले और विश्व-कर्मा, सब के सृष्टा भी कहा गया। प्रजापति, मनुष्यों का स्वामी माना गया और ये दो विशेषण कुछ समय बाद नये देवताओं के नाम हो गये। विश्व-कर्मा और प्रजापति की कुछ स्तुतियाँ हैं जिनमें कुछ चिह्न पाए हैं जिनसे उनके बारे में कुछ पता लगता है उनमें से कुछ को पढ़कर साम की भाषा याद आती है और यह धारणा बनने लगती है कि प्रजापति या विश्व कर्मा एक देवता की भावना से उनकी एक देववाद की आकांक्षा पूरी हो गई होगी और इससे भारत के प्राचीन आर्यों की धार्मिक भावना के विकास का अंतिम लक्ष्य प्राप्त हो गया होगा किन्तु, जैसा हम देखेंगे, यह हुआ नहीं।

विश्वकर्मा, सबके निर्माता

मैं ऋग्वेद के कुछ उद्धरण देता हूँ, जो बाद के समय की ऋचाओं के कहे जाते हैं। इनमें एक ईश्वर की भावना, संसार के सृष्टा और निर्माता की भावना बहुत ही स्पष्ट है। सबसे पहले विश्वकर्मा की स्तुति के कुछ अंश —'कौन सा स्थान था, क्या आधार था और किस स्रोत से सर्वदर्शी विश्वकर्मा ने, पृथ्वी की सृष्टि कर, अपनी शक्ति से स्वर्ग प्रदर्शित किया ?' "वह एक देवता है, जिसके नेत्र सर्वत्र हैं जिसका मुख, भुजायें, पद सर्वत्र हैं उसने स्वर्ग और पृथ्वी की रचना कर अपने बाहुओं से और अपने पंखों से सब को एकत्र किया।

"वह कौन सा वन था, कौन सा वृक्ष था, हे बुद्धिमानों! बताओ जिससे उन्होंने स्वर्ग और पृथ्वी काट कर निकाले। अपनी बुद्धि से खोज कर बताओ वह किस स्थान पर खड़ा था जब अनेक लोकों को सहारा दिये था। (४)

"आज हम युद्ध में अपनी रक्षा के लिये सब के स्वामी विश्वकर्मा की स्तुति करें वे सबके निर्माता है। वे हमारी बुद्धि को प्रेरणा देते हैं। वे हमारी समस्त बलि स्वीकार करें। वे सब के लिये वरदानी हैं और हमारी रक्षा के लिये पुण्य करते हैं।' विश्वकर्मा की एक और स्तुति में कहा गया है —(ऋग्वेद १०, ८२) (७)

"वह हमारे पिता हैं जिन्होंने जन्म दिया वे नियामक हैं जो नियम जानते हैं। वे संसार और सब लोकों के ज्ञाता हैं। उन्होंने देवताओं को नाम दिये। दूसरे प्राणी उनसे ही वरदान माँगते हैं। (३)

'आकाश से परे, पृथ्वी के आगे देवताओं और असुरों के भी आगे पहले बीजांकुर क्या थे जिन्हें जल ने वहन किया, जिसमें समस्त देवता दिखाई दिये ?' (५)

'जल ने पहले वह बीजांकुर वहन किया जिसमें सब देवता एकत्र हुए। वह एक जिसमें सब प्राणियों का आश्रय था अजन्मा की गोद में रक्खा गया।' (६)

"तुम कभी नहीं जान सकोगे कि किसने इन समस्त वस्तुओं की सृष्टि की।

उसके और तुम्हारे बीच मे कुछ और ही अन्तराय है। घनाधकार से आवृत और लड-खडाती आवाज मे कवि गण आगे चलते हैं, जीवन का आनन्द लेते हुए।' (७)

प्रजापति समस्त प्राणियों के स्वामी

हमे अब एक दूसरे देवता पर विचार करना है। सब प्राणियो के स्वामी प्रजा-पति, अनेक बातो म विश्वकर्मा के समान हैं जो सबके निर्माता हैं। फिर भी उनका व्यक्तित्व विश्वकर्मा स बडा है (शतपथ ब्राह्मण ८, २, १, १०) प्रजापति वै विश्व-कर्मा] विशेषत *ब्राह्मण ग्रन्थों मे, वेद की कुछ ऋचाओ मे प्रजापति सावित्री के* विशेषण के रूप मे आया है। "स्वग का आधार, ससार का प्रजापति, ऋषि अपना तेजस्वी कवच धारण करता है। अपने तेज से अनन्त आकाश को परिपूर्ण करता है। सावित्री परमानन्द की सृष्टि करता है। (ऋग्वेद ४, ५३, २)

सन्तान के लिय भी उनकी स्तुति की गई है। ऋग्वेद १०, १२१ म एक ऋचा है, उसम उनको ससार का स्रष्टा कहा गया है। सब देवताओ म प्रमुख उनको हिरण्य-गर्भ भी कहा गया है, स्वर्णित्रि बीजाकुर या स्वर्णाभि अण्डा। "प्रारम्भ म हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ। वह समस्त सृष्टि का स्वामी था। उसने आकाश और पृथ्वी की स्थापना की। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा समर्पित करे ?" (१)

"जो जीवनी की स्वास देता है शक्ति देता है। जिसकी आना समस्त देवता मानते हैं। जिसकी छाया अमरत्व है, जिसकी छाया मृत्यु है। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा समर्पित करे ?' (२)

"जो अपनी शक्ति स जीवधारियो क और सुप्त प्राणियो के सम्राट का पद प्राप्त कर चुका है। जो पथ और मानव सब पर शासन करता है। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा समर्पित करें ? (३)

"जिसकी शक्ति से हिमाच्छादित पर्वत (दृढ) हैं, समुद्र और सरिता (प्रवा-हित) हैं जिसकी दो भुजाये ये लोक हैं। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा समर्पित करे ?" (४)

'जिसके *द्वारा यह आकाश उज्वल है,* पृथ्वी दृढ है। जिसने स्वग की रचना की है सर्वोच्च स्वग की। जिसने आकाश के विस्तार को नापा है। किस देवता के लिये *लिये हम अपनी बलि और पूजा समर्पित करें ?"* (५)

"जिसकी इच्छा स स्वग और पृथ्वी दृढ़ खडे हैं, कपित हो रहे हैं जिसे देखते हैं, जिस पर सूर्योदय का प्रकाश पडता है। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा अर्पित करे ?' (६)

'*जब महान जल सर्वत्र भर गया,* बीजाकुर बचाये हुए, *अग्नि दीपित* करते

हुए, वहाँ से वह उत्पन्न हुआ जो देवताओं का प्राण है। किस देवता के लिये अपनी बलि और पूजा हम अर्पित करें ?' (७)

जिसने अपनी शक्ति मे उस जल को भी देखा उससे अग्नि की सृष्टि की जो सब देवताओ के ऊपर देवता है। किस देवता के लिये हम अपनी बलि और पूजा अर्पित करे ?" (८)

'वह हमे आघात न पहुँचाये जो पृथ्वी का स्रष्टा है जो ऋत है जिसने स्वर्ग की रचना की है। जिसने महान और शक्ति पूर्ण जल की सृष्टि की है। किस देवता के लिये हम अपना बलि और पूजा समर्पित करे। (९)

"हे प्रजापति ! दूसरा कोई भी देवता सृष्टि के सब प्राणियो का आलिङ्गन नही करता है। तुम्हे बलि देते समय हम जो चाहते हैं वह हम प्राप्त हो। हम प्रचुर धन धान्य के स्वामी हो। (१०)

वैदिक कवियो के मन मे ऐसे विचार उठ रहे थे। हम यह सोच सकते थे कि उनके प्राचीन धर्म का विकास स्वाभाविक रूप से एक ईश्वरवाद की ओर होगा, एक व्यक्तिगत और प्रमुख देवता के लिये होगा और इस प्रकार भारत मे भी सर्वोत्तम स्वरूप की प्राप्ति होगी जिसके लिये मनुष्य प्रयत्न करता है अनन्त को एक उच्चतम रूप देने का—जब सब नाम और स्वरूप काम नही देते।

ऋग्वेद मे ऐसी ऋचायें कम हैं जिनका मैंने उद्धरण दिया है। वे सब ऋचाये दूसरे ब्राह्मण काल म भी किसी निश्चित और दृढ विचार की ओर नही ले जाती हैं। ब्राह्मण ग्रथो मे प्रजापति निस्सन्देह जीवित प्राणियो के स्वामी और देवता तथा असुरो के स्वामी हैं (तैतिरीय ब्राह्मण १ ४ १ १) उनका अधिक महत्वपूर्ण पद मिला है किन्तु वहाँ भी उनका पौराणिक और धार्मिक रूप प्राय बिखर जाता है। उदाहरण के लिये (सकायन ब्राह्मण ६ १ म्योर भाग ४, ५ ३४०) अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और ऊषा के पिता के रूप मे वे आते हैं। अपनी पुत्री से प्रेम करते हैं, जो प्रारम्भ मे ऊषा थी सूर्य उसका पीछा करते हैं। इस कथा से प्रजापति के उपासको को बहुत बाधाओ का सामना करना पडा।

ब्राह्मण ग्रन्थो के कुछ भाग पढने पर कभी-कभी यह भावना पैदा होती है कि प्रजापति मे एक देवता को सर्वश्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति तृप्ति हो गई। वे सबके स्वामी थे। उनके तेज के सम्मुख दूसरे देवता तिरोहित हो जायँगे। हम पढते हैं —"प्रारम्भ मे प्रजापति ही थे। प्रजापति ही भर्त्ता एव सब के आश्रय दाता हैं (शतपथ ब्राह्मण ११ २, ४, १ म्योर ५ २०) प्रजापति ने प्राणियो को जन्म दिया। अपने उच्च श्वास से देवताओ की सृष्टि की। उन्होने अपनी निम्न श्वास से मनुष्यो को जन्म दिया। इसके बाद उन्होने मृत्यु बनाई जो सब प्राणियो का अन्त करेगी, सर्वग्रासी मृत्यु। प्रजा-

ाति का अध भाग मरणशील था और आधा अमरणशील, अमर। जो मत्य था उससे उनको मृत्यु का भय था। (शतपथ ब्राह्मण १०, १, ३, १)

वास्तविक्ता की प्रवृत्ति

हम यहाँ देखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के लेखक जानते थे कि प्रजापति में कुछ मरणशील तत्व था। एक दूसरे पद में वे यहाँ तक कहते हैं कि वह छिन भिन्न हो गया और सब देवता उससे दूर चले गये। केवल मन्यु रह गये (शतपथ ब्राह्मण ६, १, ६, म्यार भाग ४५ ३८०)

यही हुआ भी यद्यपि दूसरे अर्थ में। उनके उपासकों के अभिप्राय से भिन्न। हिंदू मस्तिष्क का बलिष्ठ विकास हो चुका था और दिन दिन बलिष्ठ होता जाता था। अनन्त की खोज में, कुछ समय तक उसे पर्वतों और सरिताओं की शरण लेने में तृप्ति मिली थी। वह उनसे रक्षा की प्राथना करता था। उनके अनन्त वैभव के गीत वह गाता था। यद्यपि वह जानता था कि वे केवल उसके प्रतीक थे जिनकी खोज वह कर रहा था। हमारे आय पूर्वज यह जान गये थे। वे आकाश सूय और ऊषा को देखते थे। उनमे उनको एक जीवित शक्ति की अभिव्यक्ति दिखाई देती थी जो उनकी इंद्रियों से आधी छिपी थी और आधी प्रकट हुई थी वे इंद्रिया सदैव सम्मुख उपस्थित और इंद्रिय-ग्राह्य अनुभूतियों के आगे की धारणा करती रहती थीं।

वे इसके भी आगे गये। प्रकाशपूर्ण आकाश में वे एक प्रकाश दाता को देखते थे, सब को समावृत करने वाले वायु मण्डल में वह एक आलिङ्गन कर्ता को देखते थे घन के वज्र घोष में और प्रचंड झंझा में वे एक गर्जनकारी की भयानक आघावक की उपस्थिति का अनुमान करते थे। वर्षा से उन्होंने इन्द्र की सृष्टि की, वर्षादाता की।

इन अन्तिम चरणों के साथ ही पहली प्रतिक्रिया भी आई। पहला सन्देह उत्पन्न हुआ। अब तक प्राचीन आय उपासकों के विचारों के लिये कुछ दृश्यमान और प्रत्यक्ष था जिस पर वे आधारित थे। निस्सन्देह वे अपनी धार्मिक आकांक्षाओं में इस सीमा से आगे भी बढ जाते थे जो प्रत्यक्ष अनुभूति के बहुत आगे था फिर भी किसी को जिस वे अपने देवता कहते थे उनके अस्तित्व पर या इन्द्रिय गम्य बोध के आधार पर कभी सन्देह नहीं हुआ। पर्वत और सरितायें सम्मुख थीं जो स्वय अपनी कथा कहती थीं यदि उनकी प्रशंसा में अतिशयोक्ति होती थी तो उसे कम किया जा सकता था। इनके अस्तित्व का ही अस्वीकार करना कठिन था। यही बात आकाश सूय और ऊषा के सम्बन्ध में भी थी। वे प्रत्यक्ष थे। यद्यपि उनमें अधिक कल्पना और अभिव्यक्ति थी फिर भी मानव मस्तिष्क का निर्माण ऐसा हुआ है कि वह वास्तविक्ता के बिना केवल अनुभूति और कल्पना या अभिव्यक्ति को ग्रहण नहीं करता है। किन्तु जब हम तीसरे वर्ग के

देवताओं की बात करते हैं जो केवल अप्रत्यक्ष ही नहीं थे, अदृश्यमान भी थे तब बात बिल्कुल दूसरी हो जाती है। इन्द्र, वर्षा-दाता, रुद्र, घन-गर्जन करने वाले मानव मस्तिष्क की ही सृष्टि हैं। जो प्राप्त होता था वह वर्षा और घन गर्जन था। किन्तु प्रकृति में ऐसा कुछ भी नहीं था जिसे प्रत्यक्ष भगवान कहा जा सके। वर्षा और घन घोष को दैवी नहीं कहा जा सकता। वे उस सत्ता के कार्य कहे जा सकते थे जो कभी भी प्रत्यक्ष रूप से प्रकट नहीं हुई।

मनुष्य ने उसके कार्य देखे। बात इतनी ही थी। कोई भी आकाश, सूर्य या ऊषा को दिखाकर उन्हें इसका प्रमाण नहीं मानता था कि इन्द्र और रुद्र का अस्तित्व है, प्रारम्भिक अर्थ और रूप में। यह वैसा ही अन्तर है जैसे इतिहास के दूर के काल में मानव जीवन और अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये एक मनुष्य की खोपडी या पत्थर का टुकडा दिखाया जा सके। यह हमने पहले देखा कि इन्द्र को, केवल इसलिये कि प्रकृति में उनकी तरह का कुछ नहीं था जिससे वे सम्बद्ध थे, कुछ भी दृश्य तत्व नहीं था जो उनके उपासकों के मस्तिष्क के विकास को रोक सके, दूसरे देवताओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ पद दिया गया। उनको व्यक्तिगत नाटकीय और पौराणिक धार्मिक रूप दिया गया।

किसी भी वैदिक देवता से अधिक इन्द्र के युद्धों का वर्णन अंकित है। उनके सम्बन्ध में अनेक कहानियाँ कही जाती हैं। इससे हमें यह समझने में सहायता मिलती है कि इन्द्र ने कैसे द्यौस को भी स्थान च्युत कर दिया। प्राचीन कवियों ने यही किया कि भारतीय 'ज्यास' को भी अपने श्रेष्ठ पद से हटा दिया। किन्तु एक बड़ा आमूल परिवर्तन आने को था।

इसी देवता को, जो एक समय अन्य देवताओं को अपने स्थान से हटा चुका था, जिसे अनेक लोग, श्रेष्ठतम न सही, कम से कम सर्वाधिक लोक प्रिय वैदिक देवता मानते थे, पहले सन्देह की दृष्टि से देखा गया और उनके अस्तित्व पर ही शंका प्रकट की गयी।

इन्द्र पर विश्वास, इन्द्र पर सन्देह

यह विचित्र बात जान पड़ती है कि इन्द्र के लिये, दूसरे किसी देवता से अधिक विश्वास और श्रद्धा की आवश्यकता वैदिक ऋचाओं में जान पड़ती है "भयंकर इन्द्र जब वज्र चलाते हैं तब लोग उनपर विश्वास करते हैं" (ऋग्वेद १ ५५, ५) पुनः "उनके इस महान और शक्ति पूर्ण कार्य को देखो और इन्द्र की शक्ति में विश्वास करो" "हे इन्द्र! हमारे निकटतम सम्बन्धियों को कष्ट न दो क्योंकि हम तुम्हारी महती शक्ति में विश्वास करते हैं।" "सूर्य और चन्द्रमा नियमित क्रम से चलते हैं जिससे हमारा विश्वास बना रहे, हे इन्द्र।" ऐसे निवेदन धार्मिक तर्क ऐसे जान पड़ते

है। उस पुरातन काल मे ऐसे तर्कों का मिलना कठिन था। किन्तु मनुष्य के मस्तिष्क के इतिहास मे भी हम यह सीखना है कि प्रत्येक नयी वस्तु पुरानी है और पुरानी बातें नयी हैं। इस पर विचार करिये कि ससार और मनुष्यो के विचार एक साथ कैसे रहते हैं। प्रथम बार यहाँ श्रद्धा शब्द का प्रयोग हुआ है यह लेटिन का 'क्रेडो' शब्द है। अग्रेजी के क्रीड शब्द मे वह अब भी चलता है। रोमन लोग जहाँ क्रेडिटम कहते थ, वहाँ ब्राह्मण श्राद्धितम् कहते थ। यह शब्द और यह विचार आर्य परिवार के अलग होने क पहले थे और सस्कृत के सस्कृत होने के पहले और लेटिन क लेटिन होने के पहल (इस रूप म) थ। उस पुरातन काल म भी लोगो का उस पर केवल विश्वास था जिसे न उनकी इन्द्रिया ग्रहण कर सकती थी और न विवेक से उसकी धारणा हो सकती थी। वे केवल विश्वास कर लेते थ। कवल विश्वास ही नहीं कर लेते थे, वास्तव में उन्होंने एक शब्द विश्वास के लिये बनाया था। इसका यह अर्थ है कि वे जो करते थे उसके सम्बन्ध म सचेत थे। इस विश्वास की मानसिक क्रिया को वे श्रद्धा कहते थे।

मैं इस एक साथ घटित होने वाली बात का अधिक विवरण नहीं देना चाहता। (१) मैं आपका ध्यान केवल इस ओर आकर्षित करता हूँ कि इस एक शब्द ने आल्पस पहाडो के आगे, काकेशस से परे हिमालय पर्वत तक कितना निस्सीम और विशाल ससार खाल दिया।

फिर भी पहले इसी देवता, इन्द्र क सम्बन्ध मे उनके उपासको में सन्देह उत्पन्न हुआ जिस पर और देवताओ के पहल उनका विश्वास करना पडा था और दूसरे देवताओ को मान लिया गया था। इस प्रकार हम पढ़ते हैं "इन्द्र की स्तुति करो यदि तुम्हें धन चाहिये। सच्ची स्तुति करो यदि उनका अस्तित्व सच्चा है।' दूसरा कहता है" कोई इन्द्र नहीं है। उसे किसने देखा है? हम किसकी स्तुति करें?" इस ऋचा मे कवि बिलकुल घूम गया है, स्वय इन्द्र होकर कहता है "ओ उपासक! मैं यहाँ हूँ। मुझे यहाँ देखो। अपनी शक्ति स मैं समस्त सृष्टि पर विजय पाता हूँ।' पुन हम दूसरी ऋचा मे पढ़ते हैं "उस भयकर क लिये लोग पूछते हैं कि वह कहाँ है और उसके लिय कहते हैं कि वह नहीं है। वह अपन शत्रुओ का धन छीन लेता है जैसे जुए म दाँव। उस पर विश्वास करो। हे मनुष्यो! वह इन्द्र है। (२)

---

(१) श्रद्धा म श्रत् का मूल अर्थ मेरी समझ म स्पष्ट नहीं है। मैं बेनफे स सहमत हूँ कि श्रत् श्रु स सबधित है जिसका अर्थ है सुनना। मूल मे अर्थ था—किसी वस्तु को सुनो—देखो—के समान सत्य मानना।

(२) ऋग्वेद—११, १२, ५ यमृस्म पृच्छन्ति कुहस इति घोरम्, उतइम आहुः न ईशा अस्ति इति एवम् स अर्च्य पुष्प विज इव आ मिनाति श्रद् अस्मै धत्ता सः जनस्य इन्द्र।

जब इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन देवता द्यौस का स्थान इन्द्र ने ले लिया फिर इन्द्र को भी नहीं माना गया और प्रजापति का त्याग कर दिया गया। एक ऋषि कहता है कि सब देवता नाम मात्र हैं, तब हम कल्पना कर सकते हैं कि धार्मिक विचार की वह धारा जो पर्वत और सरिताओं में विश्वास से उत्पन्न हुई थी फिर आकाश और सूर्य की प्रशंसा की ओर गयी थी और वह ये देवताओं की पूजा में लगी थी वर्षा लाता और घन गर्जन करने वाले देवताओं का अपना समस्त भाग पूरा कर चुकी। भारत में भी हम उसी दुर्घटना की आशंका कर सकते थे जो एड्डा के कवियों ने आइसलैंड में कही थी देवताओं की ऊषा पूर्व प्रकाश संसार विनाश के पहले आती है। ऐसा जान पड़ता था कि हम उस अवस्था में आ गये जब देववाद एक ओर संगठित अनेक देववाद होने में असफल होकर और दूसरी ओर पूर्णतः एक देववाद होने में भी विफल होकर अनिवार्यतः नास्तिकवाद में समाप्त होगा जिसमें समस्त देवताओं को अस्वीकार किया जायगा।

सच्चे और भद्दे नास्तिकवाद का अन्तर

ऐसा ही हुआ। फिर भी नास्तिकवाद भारतीय धम का अन्तिम रूप नहीं है। कुछ समय तक ऐसा अवश्य प्रतीत होता था बौद्ध धर्म के कुछ स्वरूपों में। भारत के धर्म के लिये नास्तिकवाद (अथीइज्म) शब्द ही अनुपयुक्त है। प्राचीन हिन्दुओं में होमर के सगीतनो की और एलियाटिक दार्शनिकों की बाते नहीं थी। उनके नास्तिकवाद को, जैसा वह था, अदेववाद कहना ठीक होगा जिसमे पुराने देवताओ को नहीं माना गया था। जिस पर एक बार विश्वास किया गया था उसे अस्वीकार किया गया था और उस पर आगे ईमानदारी से विश्वास नहीं किया जा सकता था। इसे धम का विनाश कदापि नहीं कह सकते हैं। यह तो सब धर्मों का मूल सिद्धान्त है। प्राचीन आर्य प्रारम्भ से ही इसका अनुभव करते थे प्रारम्भ में बाद के काल से अधिक कि इस दृश्य से परे आगे कुछ है, अनन्त, देवी सत्ता या उसे जब जो चाहे कहे। वे उसे प्राप्त करने की उसकी धारणा की चेष्टा करते थे। जैसा हम कहते हैं, वे उसको एक नाम के बाद दूसरा नाम देते थे। वे सोचते थे कि उन्होंने उसे पर्वतो और सरिताओं में प्राप्त कर लिया है। ऊषा में, सूर्य में, आकाश में, स्वर्ग में उसे प्राप्त कर लिया है स्वर्ग के पिता को। प्रत्येक नाम के बाद नेति कहा गया। वे जिसकी आकांक्षा करते थे वह पर्वतों के समान था, सरिताओं के समान था, ऊषा के समान था, आकाश के समान था पिता के समान था किन्तु वही पर्वत नहीं था, सरिता नहीं था ऊषा नहीं था, आकाश नहीं था, पिता भी नहीं था। वह इन सब में का कुछ था और इससे भी अधिक था। वह इन सबके परे था।

असुर और देव ऐसे नामों से भी उनकी तृप्ति नहीं हुई थी। वे कहते थे, कि

देव और असुर होंगे किन्तु हम और अधिक चाहते हैं, हम इससे उच्चतर शब्द चाहते हैं, उच्चतर और श्रेष्ठतर विचार चाहते हैं। उन्होंने उज्वल देवताओं को त्याग दिया इसलिये नहीं कि वे कम विश्वास करते थे या कम की आकांक्षा करते थे वरन् इसलिये कि उज्वल देवताओं से अधिक की और अधिक की आकांक्षा रखते थे और अधिक पर विश्वास जमाना चाहते थे।

उनके मस्तिष्क में एक और विचार काम कर रहा था। निराशा की ध्वनि तो नूतन जन्म की अग्रदूतिका मात्र थी।

' *ऐसा ही सदैव हुआ है और ऐसा ही होगा।* एक नास्तिकवाद ऐसा होता है जो जन्म भर रहता है, मृत्यु पर्यन्त रहता है, मृत्यु ही बन जाता है। दूसरा नास्तिकवाद ऐसा है जो सच्चे विश्वास का जीवनाधार है। यह वह शक्ति है जो हमें अपने उत्तम क्षणों में उसे त्याग देने को कहती है जो अब सत्य नहीं है। यह वह तत्परता है जो कम पूर्ण वरे, वह पहने चाहे जितना प्रिय और पवित्र रहा हो, अधिक पूर्ण द्वारा त्याग करने की प्रेरणा देता है।

संसार उसको चाहे जितना विरोध करे। यह वास्तविक आत्म समर्पण है। सच्चा आत्म-त्याग है, सत्य में पक्का विश्वास है और परम सत्य यही है।

ऐसे नास्तिकवाद के न होने पर धर्म बहुत पहले ही भयानक प्रवचना बन गया होता। इस प्रकार के नास्तिकवाद के न होने पर कोई भी धर्म सुधार और पुनर्जागरण सम्भव न होता। हम सब के लिये ऐसे नास्तिकवाद के बिना नया जीवन असम्भव है।

अब हम धर्म के इतिहास को देखें। सब देशों में और सब काल में कितने लोगों को नास्तिक कहा गया है इसलिये नहीं कि वे दृश्य और सान्त के आगे किसी और का अस्तित्व अस्वीकार करते थे या वे घोषणा करते थे कि यह संसार जैसा है इसकी व्याख्या बिना एक कारण के, बिना किसी उद्देश्य के या बिना एक ईश्वर के की जा सकती है वरन् प्रायः इसलिये कि वे प्रचलित देवता की मान्यता में मतभेद रखते थे और उससे भी श्रेष्ठतर की, उच्चतर की, भगवान की भावना की आकांक्षा रखते थे जो उन्होंने अपने लड़कपन में प्राप्त की थी।

ब्राह्मणों की दृष्टि में बुद्ध नास्तिक थे। बौद्ध दर्शन के कुछ विद्यालय और विद्वान निस्सन्देह नास्तिक थे। किन्तु गौतम शाक्य मुनि बुद्ध स्वयं नास्तिक थे, इसमें सन्देह है और लोकप्रिय देवताओं को न मानने से उनको नास्तिक नहीं कहा जा सकता है। (१)

(१) रूपनाथ शिला लेख में (इ० पू० २२१) अशोक ने इस पर गर्व किया है कि उन्होंने उन देवताओं को हटा दिया है जो जम्बू द्वीप में सत्य माने जाते थे। देखिये जी० बुहलर 'तीन नये आदेश, अशोक के' (बम्बई १८७७) ५ २८।

एथोनियन जजा की दृष्टि म सुकरात नास्तिक था । किन्तु वास्तव मे उन्होंने यूनान क देवताओ को भी अस्वीकार नही किया था । वे केवल यह चाहते थे कि हेर्मोस्टाज और एफ्रोडाइट से उच्चतर और वास्तव म देवत्व से परिपूर्ण म विश्वास करने का उनका दावा मान लिया जाय जो उनका अधिकार था ।

यहूदियो की दृष्टि मे जो कोई भी अपने को इश्वर का पुत्र कहता था वह नास्तिक था, धम निन्दक था, वह ईश्वर की अवहेलना करता था ।

और जो कोइ भी अपने पूर्वजो के ईश्वर को पूजता था, 'उस नये रूप मे' वह अधार्मिक था । ईसाई लोगो का नाम ही यूनान और रोम वालो मे 'एथीस्ट' (नास्तिक) था । ईसाई लोगो म भी अभद्र भाषा का प्रयोग एकदम समाप्त नही हो गया । एथनेशियर की दृष्टि म 'एरियन शैतान थे । वे ईसा के विरोधी थे, पागल थे, यहूदी अनेक देववादी, नास्तिक थे । (१) हम आश्चय नही करना चाहिये कि एरियस ने भी उदारता का *दृष्टिकोण नही अपनाया । फिर भी एथनेशियस और एरियस दोनो, अपने* ढङ्ग से, देवता के उच्चतम आदश की प्राप्ति क लिये प्रयत्न कर रहे थे । एरियस को भय था कि जेनटाइल की ओर अथनेशियस को भय था कि यहूदियो को भूलें सत्य और गरिमा क पथ स विचलित न कर दे ।

इतना ही नही, बाद के काल म भी अभिव्यक्ति की विचारहीनता धार्मिक विवाद म चलती रही है । सोलहवी शताब्दी म सरवेटस ने कालविन को अधार्मिक और नास्तिक कहा था । कालविन सरवेटस को मृत्यु दण्ड क योग्य समझते थ (१५८३) क्योकि ईश्वर का विचार उनस भिन्न था ।

अगली शताब्दी म, केवल एक उदाहरण पर्याप्त है जिस पर पुन विचार हुआ है वानिनि को जिह्वा काट दने का दण्ड दिया गया था और उसे जीवित जला दने की आज्ञा दी गइ थी (१६१८ ई०) क्योकि जैसा उसके जज न कहा वह नास्तिक था यद्यपि उनके लोग उन धार्मिक दन्त कथाकार कहते थ । इधर क कुछ लखको ने जिनका ज्ञान अधिक होना चाहिय था प्रेमाण का समर्थन किया है जिन्होने वानिनि को धिक्कारा था । यह परम उपयुक्त होगा कि हम यह भी जान लें कि उस नास्तिक ने ईश्वर के सम्बन्ध म कहा क्या था । उन्होने लिखा है 'आप मुझसे पूछते हैं कि ईश्वर क्या है । यदि मैं यह जानता तो स्वय भगवान होता क्योकि कोई भी भगवान को नही जानता है । केवल भगवान ही अपने को जानता है । यद्यपि हम उसे एक प्रकार स उसके कार्यों

---

(१) डा० स्टनले ने ईस्टर्न चर्च के पृष्ठ २८० म उद्धृत किया है । एथनेशियस ने एरियस और एरियन का पुन ज्ञ विभूषण समाप्त किया है, "शैतान ईसा क विरोधी पागल यहूदी अनेक देववादी नास्तिक कुत्ते भेडिये, शेर, खरगोश, गिरगिट, मछली, कुत्ते, कीडे, गिद्ध ।'

में खोज सकते हैं जैसे बादलो मे सूर्य को फिर भी इस प्रकार से हम उसकी और अच्छी धारणा नही कर सकते हैं। फिर भी हम कहना चाहिये कि वह अधिकतम नेकी, प्रथम सत्ता, सम्पूर्ण, न्याय मूर्ति, दयालु, शान्त, वरदानी, सृष्टा, रक्षक, सर्वव्यापी सर्वज्ञ, सब शक्ति मान, पिता, सम्राट, स्वामी, वरमाता, शासक, आदि मध्य और अन्त, अनन्त, जीवनदाता लेखक, दृष्टा, निर्माता और सबका कल्याणकारी है।

जिस मनुष्य ने यह लिखा था उसे जीवित जला दिया गया। विचारो का सम्भ्रम इतना था कि सत्रहवी शताब्दी मे नास्तिकवाद का सच्चा अर्थ ज्ञात नही था। १६६६ मे एडिनबरा मे पार्लमेंट ने कानून बनाया (मैकाले हिस्ट्री आफ इग्लैंड भाग २२। कनिङ्घम हिस्ट्री आफ चर्च आफ स्काटलैंड भाग २ ४, ३१३) उसके द्वारा डीस्ट की सम्मतियाँ जो नास्तिकता की मानी गयी थी अनियमित बतायी गयी। स्पिनोजा ऐसे दार्शनिक को और आर्कबिशप टिलाटसन को नास्तिक घोषित किया गया यद्यपि उनको जीवित नही जलाया गया।

अठारहवी शताब्दी भी ऐसे कलको से खाली नही है। उस समय भी अनेक लोगो को नास्तिक कहा जाता था, इसलिये नही कि वे ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करने का स्वप्न भी देखते थे वरन् इसलिये कि वे ईश्वर सम्बन्धी विचार को शुद्ध करना चाहते थे। जिन विचारो को वे मानवीय अतिशयोक्ति और भूल मानते थे उनको ठीक करना चाहते थे।

अपने समय मे भी हम भली भाँति जानते हैं कि नास्तिकवाद का क्या अर्थ है और हम उसका कितना हलकेपन से और विचारहीन प्रयोग करते हैं। यह समुचित है कि जो भी स्वयं ईमानदार होना चाहे, अपने साथ स्वयं ईमानदारी बरते और दूसरो के साथ भी निष्पक्ष निर्भीक व्यवहार करे, वह चाहे साधारण जन हो या पादरी, उसे सदैव स्मरण रखना चाहिये कि वे लोग कैसे थे जिनको, उसके पहले नास्तिक, ईश्वर निन्दक और दन्त कथाकार कहा गया है।

हमारे जीवन मे ऐसे क्षण आते हैं जब वे लोग जो भगवान के सम्बन्ध मे अत्यन्त लगन से सोचते हैं, भगवान की खोज मे लीन रहते हैं यह सोचते हैं कि भगवान ने उनको छोड दिया है। वे अपने से भी प्रश्न करने का साहस नही करते कि हमारा विश्वास क्या अब भी ईश्वर पर हैं ? या नही है ?

उनको निराश नही होना चाहिये। और हमे उन पर कठोर होकर निर्णय नही देना चाहिये। उनकी निराशा अनेक विश्वासो से अच्छी हो सकती है।

अन्त मे हम एक महान आत्मा के शब्द उद्धृत करते हैं। उनकी अभी मृत्यु हुई है। उनकी पवित्रता और ईमानदारी मे कभी सन्देह नही किया गया।

वे कहते हैं "ईश्वर एक बडा शब्द है। जो इसे समझता है और इसका अनुभव करता है वह उन पर निर्णय देते समय, नम्रता बरतेगा और न्याय करेगा, उनके साथ

जो इसे स्वीकार करते हैं कि वे इतना साहस नहीं रखते हैं कि यह कह सकें।" हमें ईश्वर में विश्वास है।

अब मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि जो मैंने अभी कहा है उसके सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न की जायगी, उसे गलत ढङ्ग से समझा जायगा और उसका गलत अर्थ भी निकाला जायगा। मैं जानता हूँ कि मुझ पर यह दोषारोपण होगा कि मैंने नास्तिकवाद का समर्थन किया है उसे महत्व दिया है। और यह भी कहा जायगा कि मैंने नास्तिकवाद को वह अंतिम और उच्चतम पद दिया है जो मनुष्य धार्मिक विचार के विकास में प्राप्त कर सकता है। ऐसा ही होने दीजिये। यदि यहाँ उपस्थित लोगों में थोड़े से भी ऐसे हैं जो यह समझते हैं कि ईमानदारी से नास्तिकवाद का मेरा अर्थ क्या है, यह जानते हैं कि नास्तिकवाद भद्दी नास्तिकता से कितना भिन्न है, इतना ही नहीं, बेईमानी से बरतने वाले आस्तिकवाद से भी भिन्न है, तब मुझे सन्तोष होगा क्योंकि मैं जानता हूँ कि इस भेद को समझने से हमें कठिन परिस्थिति में भी सहायता मिलेगी। इससे हम यह सीखेंगे कि जब पुरानी पत्तियाँ सुन्दर वसन्त में लहलहाती उत्तम पत्तियाँ, पतझड़ में गिर जाती हैं और सब कुछ शीत में सिकुड़ा सा जान पड़ता है, सब कुछ जमा हुआ और मृतक सा लगता है अपने अन्दर और चतुर्दिक, तब प्रत्येक सच्चे और उष्ण हृदय के लिये नवीन वसन्त आता है और आना चाहिये। इससे हम यह सीखेंगे कि ईमानदारी से किया गया सन्देह ईमानदारी से पूर्ण विश्वास का गम्भीर स्रोत है। इसे वही पा सकता है जिसने खोया है।

भारतीय मस्तिष्क ने इस स्थल पर आकर इसको कैसे सुलझाया किस प्रकार इससे संघर्ष किया धार्मिक समस्याओं में सबसे बड़ी और अंतिम इस समस्या को कैसे हल किया, किस प्रकार दूसरे लैकून की भाँति नास्तिकवाद की केंचुल उतार फेंकी, यह अगले और अंतिम भाषण में देखेंगे।

सातवा भापण

दर्शन और धर्म

देवताओं का विसर्जन

भारत निवामी आर्यों को जब यह विश्वास हो गया कि उनके समस्त देवना नाम मात्र को थे तब हम अनुमान लगा सकते है कि व निराश और क्षुब्ध हो गये होंगे उनसे, जिनकी उपासना उन्होंने युगो तक की थी। उनको धोखा दिया गया था या स्वय उन्होंने धोखा खाया था जब उनको यह पता लगा कि उनके पुराने देवता इन्द्र अग्नि, वरुण नाम मात्र को थे और कुछ नही तब उन पर वही प्रभाव पड सकता था जो यूनान वालो पर पडा था जब उन्होने अपने सामने अपने देवो के पुराने मन्दिर गिरते देखे थे या जब जरमन लोगो ने अपने पुराने पवित्र आक वृक्ष गिराये जाते देखे थे। तब न तो अपालो आये और न ओडिन प्रकट हुये जो इस विनाश और ध्वस का बदला लेते। किन्तु यहाँ परिणाम नितान्त दूसरा था जिसकी हम आशा करते थे, अनुमान लगाते थे, वह नहीं था। ग्रीक, जरमन और रोमन लागो के देवता, हम जानते हैं, जब उनका कार्य समाप्त हो गया तब या तो नितान्त विलीन हो गये या यदि उनका अस्तित्व पूर्णत समाप्त नही हुआ तो उनका शैतान का पद दिया गया, उनको दुष्ट आत्मा कहा गया। उसी समय ईसाई धर्म सामने था जो हृदय की आकाक्षाओ को पूरा करने का दावा करता था। हृदय की उन आकाक्षाओ का पूर्ण दमन तो कभी हो ही नही सकता है।

भारतवर्ष मे ऐसा कोई धर्म आने वाला नहीं था बाहर से किसी धर्म के आने का आवश्यकता भी नही थी। जिसे ब्राह्मण लोग, अपने देवताओ को छोडने के बाद स्वीकार करते। इसलिये सब कुछ छोडकर नवीन पथ अपनाने के स्थान पर वे अपने ही पथ पर आगे बढते गये। यूनानी, रोमन और जरमन लोगो का उदाहरण उन्होंने नही अपनाया। उनका यह विश्वास था कि वे इससे सत्य की प्राप्ति करेंगे। यदि वे मार्ग मे रुके नहीं, शिथिल होकर गिर न पडे तो वे उसकी खोज करते हुये बढते जायगे जो उनके मस्तिष्क मे प्रथम बार आया था जब इन्द्रियों की अनुभूति प्रारम्भ हुई थी किन्तु जिसकी प्राप्ति पूर्णत और दृढता से नही हुई थी। और न उसकी धारणा ठीक से हुई थी, न ठीक से नामकरण हुआ था।

उन्होंने पुराने नामो को छोड दिया किन्तु उस पर विश्वास को नही छोडा जिसको वे कोई नाम देना चाहते थे। पुराने देवताओं की वर्दियाँ हटाने के बाद उन्होंने

गिरी हुई ईटो से एक नई वेदी बनाई अनात भगवान की, जो अनाम या फिर भी सर्व-व्यापी था। जिसे अब वे पर्वतो और सरिताओ म नही दखते थ, आकाश और सूय म, वर्षा और घन-गर्जन मे, नही देखते थे फिर भी उसे उनम व्याप्त देखते थे, हा सकता है, उस अपने अधिक निकट देखते थे जो चतुर्दिक समाविष्ट था। अब वह वरुण के समान भी नही था जो सबको घेरे था, सबको आलिङ्गन किये था। अब वह अधिक निकट और घनिष्ठ था। उसे वे अपने हृदय का स्पन्दन, प्राण कहते थे, सभवत अब उसकी वाणी अधिक मुखरित नही थी। केवल हल्की आवाज थी।

दैवी अवतरणों का उद्देश्य

पहले हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि वेद के कवियो ने यह नही कहा कि मित्र, वरुण और अग्नि केवल नाम थे। उन्होंने कहा—"(ऋग्वेद १, १६४, ४६ इन्द्रम मित्रम वरुणम् अग्निम् आतु अथो दिव्य स सुपर्ण गरुण, एकम् सद् विप्रा बहुधा वदति अग्निम् यमम् मातरिश्वानम् आज) वे मित्र, वरुण और अग्नि के विषय मे कहते हैं। फिर वह स्वर्गीय गरुड है। वह जो एक है उसी का कविगण अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं वे यम, अग्नि और मातरिश्वा की बातें कहते हैं। यहाँ हम तीन बाते देखते हैं। पहली—कवियो, मनीषियो और ऋषियो को कभी इस पर सन्देह नही था कि वास्तव मे कुछ सत्य या जिसके अग्नि इन्द्र और वरुण आदि केवल नाम थे।

दूसरी बात यह थी कि वह वास्तविक सत्य जो उन्ह ज्ञात था, एक था केवल एक तीसरी बात यह थी कि उस एक को पुलिङ्ग नही कहना चाहिय जैसे प्रजापति और दूसरे देवता। उसे नपुंसक लिङ्ग मानना चाहिये।

नपुंसक लिङ्ग के नाम पुल्लिङ्ग और स्त्री लिङ्ग के नामो से श्रेष्ठ अब यह हमारे कानो को खटकने वाली बात है। हम देवताओ के लिये नपुंसक लिङ्ग के नाम सहन नही कर सकते। हम नपुंसक लिङ्ग मे केवल पार्थिव मृतक या अवैयक्तिक को लेते हैं। प्राचीन भाषा म यह बात नही थी, प्राचीन विचारो मे भी नही थी। अनेक आधुनिक भाषाओ मे भी यह बात नही है। इसके विपरीत नपुंसक लिङ्ग को प्राचीन ऋषि वहाँ प्रयुक्त करते थे जहाँ अभिव्यक्ति का उद्देश्य न पुल्लिङ्ग हो और न स्त्रीलिङ्ग। उसे दुर्बल मानवीय स्वभाव से उतना ही दूर रखना था जितना कि असमर्थ मानवीय भाषा भली भाँति प्रकट कर सकती। ऐसा कुछ जो पुल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग से श्रेष्ठतर हो उससे नीचा न हो। व लिङ्ग रहित सत्ता के नाम दना चाहते थ जो निष्प्राण नही थी या जैसा कुछ लोग अन्तर्विरोध को बिना समझे कह देते हैं, अवैयक्तिक ईश्वर था।

ऐसे भी दूसरे पद हैं जिनमे यद्यपि कवि एक ईश्वर की बात कहते हैं जिसके अनेक नाम हैं, फिर भी ईश्वर को पुल्लिङ्ग माना गया है।

सूर्य की प्रार्थना में (ऋग्वेद १०, ११४, ५) एक ऋचा है "सुपर्णम विप्रः कवय वचोभि एकम् सन्तम् बहुधा कल्पयन्ति।" "बुद्धिमान कवि अपने शब्दों से उस पक्षी की अभिव्यक्ति करते हैं जो एक है, अनेक प्रकार से उसका वर्णन करते हैं।" हमारे लिये यह शुद्ध पौराणिक गाथा है।

कम पौराणिक गाथा के रूप में किन्तु पुरातन शास्त्र की शैली में सर्वोत्तम सत्ता की, निम्नलिखित ऋचा के रूप में अभिव्यक्ति हुई है (ऋग्वेद १, १६४, ४) क ददर्श प्रथमम् जायमानम् अस्थानवन्तम् यत् अनस्था विभर्ति, भूम्य आसुह आत्मा क्व स्वित, क विद्वासम् उपगात प्रष्टुम एतत्।" किसने उसको देखा जब वह पहले उत्पन्न हुआ ? जब उसने जिसके हड्डी नहीं है उसे उत्पन्न किया जिसके हड्डी है। संसार की श्वास, रक्त और आत्मा कहाँ थी ? कौन इसे मांगने किसी से गया जो इसे जानता था। इनमें क्या प्रत्येक शब्द गूढार्थ पूर्ण है। 'वह जिसकी हड्डी नहीं है।' का अर्थ है "जिसका कोई रूप नहीं है।' 'वह जिसकी हड्डी है' का अर्थ है 'जिसका रूप है, संस्कृति है। संसार का रक्त और श्वास का अभिप्राय है अनात या अदृश्यमान शक्ति की अभिव्यक्ति का प्रयास जो संसार का आधार है। वास्तव में श्वास का अभिप्राय है संसार का सार या मूलतत्व।

आत्मा-कर्त्ता, स्वयम्

श्वास, संस्कृत में आत्मा ऐसा शब्द है जिसका भविष्य बड़ा था। प्रारम्भ में इसका अर्थ था श्वास, फिर इसका अर्थ हुआ जीवन, कभी कभी शरीर के अर्थ में भी यह प्रयुक्त किया गया है। बहुत अधिक प्रयोग साराश या स्वयं के अर्थ में हुआ है। वास्तव में यह सर्वनाम बन गया। फिर भी व्याकरण की इस श्रेणी में ही वह सीमित नहीं था। उसका नवीन रूप उच्चतम दार्शनिक संक्षिप्त नाम में था। भारत में और सर्वत्र आत्मा का प्रयोग दार्शनिक तत्व को संक्षिप्त में कहने में किया गया। इससे 'मैं' की ही अभिव्यक्ति नहीं होती थी 'अहं' का भाव ही नहीं प्रकट होता था जो इस जीवन के परिवर्तनशील तत्वों में प्रकट किया जाता है। नहीं, इससे उसकी अभिव्यक्ति होती थी जो 'अहं' से 'मैं' से परे है आगे है। वह कुछ समय के लिये 'अहं' को आधार देता था फिर कुछ समय बाद मानवीय अहंकार से उसकी श्रृंखलाओं और बंधनों से अपने को मुक्त कर लेता था और पुनः शुद्ध आत्मा, (स्वयं) हो जाता था।

आत्मा, दूसरी भाषाओं के उन शब्दों से भिन्न है जिनका प्रारम्भ में अर्थ था श्वास, फिर उनका अर्थ हो गया, जीवन, भावना और आत्मा (आत्मतत्व, परमतत्व) उसका श्वास का अर्थ बहुत पहले ही समाप्त हो गया था और जब उसके पार्थिव अर्थ को छोड़ दिया गया और सर्वनाम के रूप में भी उसका प्रयोग पूर्ण हो चुका तब वह संक्षिप्त हो गया। यूनान के तत्सम शब्दों से अधिक 'एनीमा' या 'एनायस' (लटिन में)

से अधिक और संस्कृत में 'असु' या प्राण से भी अधिक संक्षिप्त हो गया। उपनिषदों में प्राण श्वास या भावना का विश्वास, अस्तित्व के सच्चे सिद्धान्त के रूप में, दार्शनिक ज्ञान की निम्नतर कक्षा में था, आत्मा या स्वयं में विश्वास की अपेक्षा। जैसा हमारे साथ होता है 'स्वयं (आत्मा) 'अहं' से आगे बढ़ जाता है। इसी प्रकार हिन्दुओं में भी आत्मा, प्राण से आगे बढ़ गया और अन्त में उसे अपने में विलीन कर लिया।

इस प्रकार बाद के युग में प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने अनन्त की खोज की जो उनका आश्रय देता था, जीवनाधार था, अन्तरतम था जो 'अहं' से बहुत परे था।

आत्मा नाम तत्व

अब हम यह देखें कि उन्होंने बाह्य जगत में अनन्त की खोज के लिये कैसे प्रयत्न किये।

कुछ समय तक कवि और मनीषी 'एक' में विश्रान्ति पाते थे जिसे वे एक ईश्वर कहते थे किन्तु जो अब भी पुल्लिङ्ग था, कर्त्ता था और कुछ पुरातन धर्म सम्बन्धी था। वह वास्तव में एक देवत्व पूर्ण 'अहं' था अभी तक वह देवत्वपूर्ण 'स्वयं' नहीं था। अकस्मात् हम नये प्रकार के पद मिलते हैं। हम एक नये संसार में घूमते जान पड़ते हैं। वह सब कुछ जो नाटकीय था, पुराणवादी था, प्रत्येक नाम और रूप छोड़ दिया जाता है। केवल वह 'एक' रह जाता है जिसका अस्तित्व है, नपुंसक लिङ्ग और अनन्त को ग्रहण करने की अन्तिम चेष्टा।

वैदिक कवि अब आकाश या ऊषा की महिमा नहीं गाते थे, वे इन्द्र की शक्ति की पूजा नहीं करते थे या विश्वकर्मा और प्रजापति के गीत नहीं गाते थे। वे विचरण करते थे, अपने ही शब्दों के अनुसार 'जैसे धूमावृत और भाषण शिथिल "(ऋग्वेद १, ८४, ७)' निहारेन प्रावृत जल्पय च असुतिप उक्त सासह चरन्ति। 'दूसरा कवि कहता है (इबिड ६, ९, ६)" वि मे कर्णा पतयतः, विचक्षु विइदम् ज्योति हृदये आहितम् यत् वि मे मनः चरति दुराध्य किम् स्वित वक्ष्यामि किम् उनु मनिष्ये। मेरे कान विलान हो गये, मेरी आखें समाप्त हो गयी, और प्रकाश भी विलीन हो गया जो हमारे हृदय में रहता है। मेरा मन अपनी ऊंची अभिलाषाओं के साथ विरोहित हो गया। अब मैं क्या कहूं, क्या विचार करूं?

पुनश्च, "मैं स्वयं कुछ नहीं जानता, यहाँ उपस्थित विद्वान मनीषियों से मैं पूंछता हूँ जो जानते हैं मैं अज्ञानी हूँ, जिससे मैं जान सकूं। जिसने छः लोक स्थापित किये क्या वही एक है जो अजन्मा के रूप में अस्तित्व रखता है?"

ये तूफान हैं जो उज्वल आकाश और नूतन वसन्त के पूर्वाभास हैं, ये आगमन की सूचना देते हैं।

अन्त मे, उस एक का अस्तित्व (आत्मा का) दृढता स माना जाता है जो स्वय पूर्ण है, किसी के आश्रय के बिना अस्तित्व रखता है। समस्त सृष्टि के प्राणियो के जन्म के पहले वह था। देवताओ के बहुत पहले वही एक था। वे देवता भी नही जानते हैं कि यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई।

कहा जाता है कि जब कुछ भी नही था, मृत्यु या अमरता के पहले, रात्रि और दिवस के अन्तर के पहले, वह एक था। वह बिना श्वास के श्वास लेता था। उसके बाद उसके अतिरिक्त और कोई नही हुआ है। उस समय घनान्धकार था प्रत्येक वस्तु उदासी मे छिपी थी। सब समुद्र के समान था। प्रकाश नही था। तब वह बीजाकुर जो छिपा था, वही एक, ऊष्मा की शक्ति से प्रकट हुआ। इस प्रकार कवि सम्पूर्ण प्राणियो के प्रारम्भ का चिन्तन करता जाता है। वह एक अनेक कैसे हो गया ? अजन्मा का जन्म कैसे हो गया ? उसका नामकरण कैसे हुआ। वह अनन्त सान्त कैसे हो गया ? अन्त मे निम्न पंक्तियाँ देता है —

"उसका रहस्य जानता है कौन ? किसने यहा घोषणा की ?'
कहाँ से ? कहाँ से ? यह विविध सृष्टि निकली ?
देवता स्वय बाद मे अस्तित्व मे आये—
कौन जानता है कहाँ स यह महान सृष्टि निकली ?
वह जिसस यह सब सृष्टि आयी—
क्या उसकी इच्छा ने सृष्टि की या वह मान थी ?
परम पद प्राप्त ऋषि द्रष्टा उच्चतम स्वर्ग मे विराजमान—
वह जानता है या कदाचित वह भी नही जानता है।

ये विचार जो ऋग्वेद की ऋचाओ मे पहले मन्द प्रकाश, नक्षत्रो की रोशनी के समान हैं आगे चलकर अत्यन्त प्रकाश पूर्ण हो जाते हैं, विविध बन जाते हैं। अन्त मे इन विचारो का एक प्रकाश मण्डल बन जाता है, आकाश गङ्गा के समान। यह उपनिषदो मे प्राप्त है। उपनिषद अन्तिम काव्य रचनाये हैं जो वैदिक काल की हैं किन्तु उनका प्रभाव इन सीमाओ से बहुत आगे तक है।

उपनिषदो का दशन

आपको स्मरण होगा कि ऋचाओ के काल के बाद ब्राह्मण काल आया। ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्राचीन बलिदानो का विशद वर्णन है। ये गद्य मे हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थो के अन्त में हमे प्राय आरण्यक मिलते हैं जिस वन भूमि म तपोनिष्ठ ऋषियो की पुस्तक कहते हैं। आरण्यक उनके लिये हैं जिन्होने अपना घर त्याग दिया है और वन के एकान्त मे निवास करते हैं।

आरण्यकों के अन्त में, उनमें सन्निहित, प्राचीनतम उपनिषद मिलते हैं जिसका शब्दार्थ है सत्र या अपने गुरु के निकट शिष्यों का सत्र। उन उपनिषदों में वैदिक काल का सम्पूर्ण दर्शन एकत्र है।

इन उपनिषदों में एकत्र विचारों की संपदा की एक झलक देने के लिये मैं आपको बताता हूँ कि पहले मेरा इरादा यह था कि इन भाषणों में मैं केवल उपनिषदों के सिद्धान्तों का ही वर्णन करता। उनमें मुझे पर्याप्त सामग्री मिलती अब मैं केवल संक्षेप में ही इस थोड़े समय में उनका प्रारूप मात्र देता हूँ।

इन उपनिषदों में जिसे दार्शनिक प्रणाली कहा जा सकता है, वह नहीं है। वे संसार की भाषा में सत्य के लिये अनुमान हैं जो कभी कभी पारस्परिक विरोधी हैं किन्तु सब की प्रगति एक ही ओर है। उपनिषदों का मूलमन्त्र है "अपने को जानो।" डेलफिक सन्देश से अधिक गम्भीर और गूढ़ अर्थ है इस मूलमन्त्र का। "अपने को जानो का अर्थ है अपनी सच्ची सत्ता को जानो जो तुम्हारे 'अहं' में व्याप्त है। उसे खोजो, उच्चतम रूप में जानो अनन्त आत्मा, एक अद्वितीय जो संसार में व्याप्त है।

अनन्त की, अदृश्य की, अज्ञात की और दैवी सत्ता की यह अन्तिम खोज थी। वेद की सरलतम ऋचाओं में इसकी खोज प्रारम्भ हुई थी और उपनिषदों में इसकी समाप्ति हुई। जिसे बाद में वेदान्त कहा गया—वेद का अन्त या वेद का उच्चतम उद्देश्य।

इनसे कुछ उद्धरण मैं दे रहा हूँ जो भारतीय साहित्य में अद्वितीय हैं इतना ही नहीं, मैं तो कहूँगा कि विश्व के इतिहास में अद्वितीय है।

प्रजापति और इन्द्र

(छान्दोग्य उपनिषद्) ८ ७-१२ यह इन्द्र की कथा है जो देवताओं में प्रमुख थे। विरोचन असुरों के प्रधान थे। वे प्रजापति से आदेश चाहते थे। निस्सन्देह यह ऋग्वेद की ऋचाओं की तुलना में आधुनिक जान पड़ती है फिर भी आधुनिक तो है ही नहीं। यदि इसकी तुलना भारत के शेष साहित्य से की जाय। देवता और असुरों का विरोध गौण है किन्तु उनके चिह्न ऋग्वेद में विशेषतः अन्तिम ग्रंथ में जान पड़ने लगते हैं, असुर प्रारम्भ में प्रकृति की कुछ शक्तियों का विशेषण था, विशेषतः आकाश का। कुछ पदों में देव असुर का अनुवाद जीवित देवता करने की प्रवृत्ति कुछ लोगों की होती है। कुछ समय बाद असुर विशेषण का प्रयोग दुष्ट आत्मा के अर्थ में होने लगता है। फिर बहुवचन में दुष्ट आत्माओं के लिये होता है जो देवता प्रकाशपूर्ण, दयालु और साधु आत्माओं के विरुद्ध है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह भेद दृढ़ता से किया गया है और उसमें उत्पन्न बातें का देव तथा असुरों के संग्राम से निर्माण किया गया है।

यह स्वाभाविक है कि इन्द्र देवताओं का प्रतिनिधित्व करें। विरोचन बाद के समय के हैं। यह नाम ऋचाओं में नहीं आया है। पहले पहल वह तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ५, २, १ में आता है वहाँ उनको प्रह्लाद और कायधू का पुत्र कहा गया है। यहाँ प्रजापति का स्थान सर्वोच्च देवता का है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उनको (१ ५ ६, १) इन्द्र का पिता भी कहा गया है।

इस कथा का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि किन अवस्थाओं में होकर मनुष्य में सत्य आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्रजापति प्रारम्भ में अस्पष्ट ढंग से कहते हैं कि चक्षु में जो व्यक्ति दिखायी देता है वह आत्मा है। उनका अभिप्राय द्रष्टा से है। वह चक्षुओं से स्वतन्त्र है किन्तु उनके शिष्य उनसे ठीक से नहीं समझ पाते हैं। असुर यह समझते हैं कि आँख की पुतली में जो छोटा शरीर शीशे में दिखायी देता है वही आत्मा है। देवता समझते हैं कि शीशा या जल में जो छाया है वह आत्मा है। विरोचन को तो इससे सन्तोष हो जाता है किन्तु इन्द्र का समाधान नहीं होता है। इन्द्र उसकी खोज करते हैं जो पहले इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त स्वप्न द्रष्टा है फिर स्वप्न भी नहीं देखता अचेतन है। इससे भी असन्तुष्ट होकर जो उन्हें सम्पूर्ण अभाव जान पड़ता है, इन्द्र अन्त में उसे देखते हैं जो आत्मा है जो इन्द्रियों का उपयोग तो करता है किन्तु उनसे भिन्न है, वास्तव में जिसे चक्षु में देखा गया—द्रष्टा के रूप में जिसकी अनुवर्तित चक्षुओं में हुई या पुनः, वह जो यह जानता है कि वह ज्ञाता है और मस्तिष्क दैवी चक्षु है उसका एक साधन है, यन्त्र है। यहाँ पर हमको सत्य की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मिलती है जिसे वन के निवासी ऋषियों ने दिया है। अनन्त की खोज में उन्होंने इस उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति की थी।

सातवाँ खण्ड

प्रजापति ने कहा 'आत्मा जो पाप से मुक्त है, वह किसी की कामना नहीं करता है केवल उसकी कामना करता है जिसकी उसे करनी चाहिये, किसी की कल्पना नहीं करता है केवल उसकी कल्पना करता है जिसकी उसे करनी चाहिये, उसी की खोज हमें करना चाहिये। हम उसी को समझने की चेष्टा करनी चाहिये। उस आत्मा की जिसने खोज की है और जिसने उसे समझा है वह सब लोगों को प्राप्त करता है और उसकी सब इच्छायें पूर्ण होती है। (१)

'देव और असुर दोनों ने ये शब्द सुने और कहा" अच्छा, उस आत्मा की हम सब खोज करें जिससे यदि किसी ने उसे खोजा है तो सब लोग प्राप्त हुए हैं और सब इच्छायें पूर्ण हुई हैं।"

यह कहकर इन्द्र देवताओं में दूर चले गये और विरोचन असुरों से दूर गये और दोनों, एक दूसरे से वार्तालाप न करके, प्रजापति के पास गये, अपने हाथों में

अग्नि की समिधा लिये हुये जैसी प्रथा है, गुरु के निकट जाने पर शिष्य ऐसे ही जाते हैं।" (२)

"वे वहाँ पर शिष्य की भाँति बत्तीस वर्ष रहे तब प्रजापति ने उनसे पूछा—तुम दोनों किस उद्देश्य से यहाँ रहे हो ?"

"उन्होंने उत्तर दिया," आपका एक कथन दोहराया जा रहा है।

"आत्मा पाप से मुक्त है, वृद्धावस्था से मुक्त है, मृत्यु से मुक्त है, क्षुधा पिपासा से मुक्त है, जो किसी की कामना नहीं करता है केवल वही कामना करता है जो उसे करना चाहिये, किसी की कल्पना नहीं करता है, केवल उसी की कल्पना करता है जो उसे करना चाहिये। हम दोनों ने यहाँ इसलिये निवास किया है कि हम उस आत्मा को चाहते हैं।' (३)

"प्रजापति ने उनसे कहा, जो आँख में दिखायी देता है वही आत्मा है। मैंने यही कहा है। यह अमर है, निर्भय है, यही ब्रह्म है।" [१]

"उन्होंने प्रश्न किया, महोदय, जो जल में देखा जाता है और जिसे शीशे में देखा जाता है, वह कौन है ?'

"उन्होंने उत्तर दिया इन सबमें वह स्वयं दिखायी देता है।" [२] (४)

आठवाँ खण्ड

'एक जल पात्र में अपने (स्वयं) को देखो और अपनी आत्मा का अर्थ जो न समझो तो आकर मुझसे बताओ।

"उन्होंने जल पात्र में देखा। तब प्रजापति ने उनसे कहा 'तुम क्या देखते हो ?

'उन्होंने कहा, हम दोनों इस प्रकार आत्मा को सम्पूर्ण देखते हैं एक चित्र जिसके नख और केश तक स्पष्ट हैं।' (१)

---

[१] भाष्यकार ने इसकी टीका ठीक की है। प्रजापति का अभिप्राय वह है व्यक्ति जो चक्षु में दिखायी देता है, वह देखने के कार्य का कर्त्ता है। उसे ऋषि देखते हैं जब उनके चक्षु बन्द रहते हैं तब भी। उनके शिष्यों ने उन्हें ठीक नहीं समझा। वे उस व्यक्ति को सोचते हैं जो देखा जा रहा है उसे नहीं जो देखता है। चक्षु में दिखायी देने वाला उनके लिये एक छोटी छाया है और वे प्रश्न करते जाते हैं कि शीशा या जल में दिखायी देने वाली छाया क्या आत्मा नहीं है।

[२] भाष्यकारों को इसे स्पष्ट करने में बड़ी कठिनाई जान पड़ती है कि प्रजापति ने कुछ भी असत्य नहीं कहा। पुरुष या व्यक्ति से उनका अभिप्राय उच्चतम अर्थ में व्यक्तिगत तत्व था। उनका दोष नहीं था कि उनके शिष्यों ने उस पुरुष का अर्थ मनुष्य या शरीर लगाया। प्रजापति का अभिप्राय कदापि यह नहीं था।

"प्रजापति ने उनसे कहा, अच्छे वस्त्र पहनने के बाद भली भांति अलकृत होकर और क्षौर कर्म क बाद पुन जलपात्र मे देखो ।"

'उन्होंने अच्छे वस्त्र पहिनने के बाद, सब प्रकार से अलकृत होकर और क्षौर कर्म करा कर जल पात्र मे देखा ।'

प्रजापति ने कहा "तुम क्या देखते हो ?" (२)

उन्होंने कहा "जैसे हम हैं, सुदर वस्त्र पहिने हुये, अलकृत, और बाल बनवाये हुय, हम दोनो वहाँ हैं, महोदय ! सुवस्त्र सज्जित और स्वच्छ ।'

प्रजापति न कहा "वही आत्मा है, यही अमर, निर्भय, ब्रह्म है ।"

तब दोनो अपन हृदयो म सन्तुष्टि प्राप्त कर चल गये ।

और प्रजापति ने उनको जाते दखकर कहा 'ये दोनो जा रहे हैं इन्होंने न आत्मा की धारणा प्राप्त की और न उसे जान पाय और इनम से जो भी, देव या असुर इस सिद्धान्त का अनुगमन करेगा, नष्ट हो जायगा ।'

"अब विरोचन अपन हृदय म मे सन्तुष्ट होकर असुरो के पास गय और उनको इस सिद्धान्त की शिक्षा दी कि आत्मा (शरीर) की ही पूजा करनी चाहिये और आत्मा (शरीर) की सेवा ही करना चाहिये । और जो आत्मा की पूजा करता है, सेवा करता है दोनो लोक प्राप्त करता है, यह लोक और परलोक ।"

'इसीलिये अब भी उस मनुष्य को लोग असुर कहते हैं जो यहाँ दानपुण्य नही करता है जिसम श्रद्धा नही होती और जो बलि नही देता है, क्योकि यह असुरो का दर्शन है । वे मृतक शरीर को फूल, सुगंधि और सुदर वस्त्रो स सजाते हैं और सोचते हैं कि इस प्रकार वे परलोक में विजय प्राप्त करेंगे ।

नवाँ खण्ड

किन्तु इन्द्र, देवताओ क पास लौटने के पहले इस कठिनाई को समझ गय थ यह आत्मा (जल म छाया) सुवस्त्र सज्जित है जैसे शरीर, [१] स्वच्छ है ।

इसी प्रकार आत्मा भी अन्धी होगी यदि शरीर अन्धा है । लगडी होगी यदि शरीर लगड़ा है, पगु होगी यदि शरीर पगु है । इसी प्रकार शरीर के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जायगी । इसलिये मैं इस सिद्धान्त मे कोई भलाइ नही देखता हूँ ।' (१)

वे हाथ म समिधा लेकर शिष्य की भाँति पुन प्रजापति क पास आये । प्रजा-

[१] भाष्यकार का कहना है कि इन्द्र और विरोचन दोनो न प्रजापति की बात ठीक स नही समझी थी फिर भी विरोचन शरीर को आत्मा समझने लगे और इन्द्र समझने लगे कि आत्मा शरीर की छाया था ।

पति ने उनसे कहा "मघवा ! (इन्द्र) तुम विरोचन के साथ ही अपने हृदय में सन्तुष्ट होकर चले गये थे। अब तुम किस अभिप्राय से पुन आये हो ?"

"उन्होंने कहा, महाशय ! यह आत्मा (छाया) सुअलङ्कृत और सुसज्जित होती है जब शरीर सुसज्जित और सुअलङ्कृत होता है, स्वच्छ होती है जब शरीर स्वच्छ होता है। तब क्या वह अन्धी हो जायगी जब शरीर अन्धा होगा ? लगडी हो जायगी जब शरीर लगडा होगा और पगु हो जायगी जब शरीर पगु होगा और वास्तव में जब शरीर नष्ट हो जायगा तब नष्ट हो जायगी ? इसलिये मैं इस दर्शन में कोई भलाई नही देखता हूँ। मुझे यह भ्रम-जाल सा लगता है।' (२)

"प्रजापति ने कहा" मघवा ! वास्तविकता यही है। किन्तु मैं इस (सत्य आत्मा को) तुम्हे और अधिक समझाऊँगा। मेरे साथ बत्तीस वर्ष और निवास करो तब इस ज्ञान के अधिकारी होगे।

व उनके साथ पुन बत्तीस वर्ष रहे और तब प्रजापति ने कहा —(३)

दसवाँ खन्ड

'जो स्वप्न मे परम आनन्द से विचरण करता है वही आत्मा है वही अमर है, निर्भय है, वही ब्रह्म है।"

"तब इन्द्र हृदय मे सन्तुष्ट होकर चले गये। किन्तु देवताओ के पास पहुँचने के पूर्व उनको यह कठिनाई जान पडी। यह ठीक है कि शरीर के अन्धे होने पर आत्मा अन्धी नही हो जाती है, न लगडी हो जाती है जब शरीर लगडा होता है। यह भी ठीक है कि शरीर के दोषो के कारण आत्मा दूषित नही हो जाती है और शरीर पर आघात लगने से आत्मा को नही लगता है फिर भी यह उसी प्रकार है जैसे आत्मा को स्वप्नो मे आघात किया गया और उसे भगा दिया गया। वह सचेतन भी हो जाता है कष्ट के कारण और आँसू बहाता है। इसलिये मैं इसमे भी कोई भलाई नही देखता हूँ।' (१)

"हाथ म समिधा लेकर वे पुन शिष्य की भाँति प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने उनसे कहा "मघवा ! तुम अपने हृदय मे सन्तुष्ट होकर चले गये थे। अब किस उद्देश्य से आये हो ?'

'उन्होने कहा' महोदय, यह ठीक है कि आत्मा अन्धी नही होती है यदि शरीर अन्धा हो जाता है। वह लगडी भी नही होती है जब शरीर लगडा हो जाता है। यह भी ठीक है कि शरीर के दूषित होने पर भी आत्मा दूषित नही हो जाता है और शरीर पर आघात होने पर आत्मा को आघात नही लगता और शरीर के लगडा होने पर आत्मा लगडी होती है फिर भी बात ऐसी लगती है कि स्वप्न में जैसे आत्मा को मारा गया हो, जैसे उसे भगा दिया गया हो। वह सचेतन भी हो जाता है। उसे कष्टो का

अनुभव होता है और वह आँसू बहाता है। इसलिये मैं इसमें कोई भलाई नहीं देखता हूँ।" (१)

"प्रजापति ने कहा "मघवा ! बात ऐसी ही है। किन्तु मैं आत्मा के सम्बन्ध मे, सत्य आत्मा के विषय मे और अधिक बताऊँगा। मेरे साथ बत्तीस वर्ष और निवास करो।"

व उनके साथ पुन बत्तीस वष रहे। तब प्रजापति ने कहा —(४)

ग्यारहवाँ खन्ड

"जब मनुष्य प्रगाढ निद्रा मे होता है, विश्राम करता है और पूर्ण विश्रान्ति पाता है, कोई स्वप्न नही देखता है, वही आत्मा है। यही अमर, निभय और ब्रह्म है।" (छान्दोग्य उपनिषद ८, ६, ३)

तब इन्द्र अपने हृदय म सन्तुष्ट होकर चले गये। किन्तु देवताओ के पास लौट कर जाने के पहले उन्हें यह कठिनाइ जान पडी। वास्तव में इस प्रकार वह अपने को, स्वय 'अहं' को नही जानता है कि वह है और न उसके सम्बन्ध मे कुछ जानता है जिसका अस्तित्व है। उसका सम्पूर्ण विलयन हो चुका है। इसलिये इसमें मुझे कुछ भलाइ नही दिखाई देती है। (१)

"हाथ म समिधा लेकर शिष्य की भांति वे पुन प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने उनसे कहा "मघवा ? तुम हृदय म सन्तुष्ट होकर चले गये थे। अब किस उद्देश्य से लौट कर आये हो ?"

"उन्होंने कहा महानुभाव ! इस प्रकार वह स्वय को नही जानता है कि वह है और न कुछ भी जो है उसके सम्बन्ध मे जानता है। उसका पूर्ण विलयन हो जाता है। मैं इसमे कोई भलाई नही देखता हूँ।"

- "प्रजापति ने उत्तर दिया "वास्तव म एसा ही है किन्तु उसके सम्बन्ध म और कुछ स्पष्ट करूँगा और इससे अधिक कुछ नही। (शकर ने इसका यह अर्थ किया है कि सत्य आत्मा आत्मा से कुछ भिन्न नही है) अब पाँच वर्ष और यहाँ रहो।"

'व वहाँ पाँच वष और रहे। इस प्रकार एक सौ एक वर्ष बीत गये। इसीलिये कहा जाता है कि इन्द्र (मघवा) एक सौ एक वष प्रजापति के शिष्य रहे। प्रजापति ने उनसे कहा —

बारहवाँ खन्ड

"मघवा यह शरीर मरणशील है और इसे मृत्यु पकडे रहती है। यह शरीर उसका निवास है जो आत्मा है, अमर है और बिना शरीर का है।

(आत्मा शरीर नही हैं किन्तु उसमें जुता है जिस प्रकार घोडा रथ में जुता होता है, उसे चलाता है। दूसरे पदो मे इन्द्रियाँ अश्व हैं, बुद्धि, विवेक रथी है, मन लगाम है। आत्मा रथ से लगी है चेतना के द्वारा—आनन्द ज्ञान गिरि)

"जो यह जानता है, मुझे इसे सोचने दो, वही आत्मा है। मन उसकी दैवी चक्षु है (क्योंकि वह केवल वही नही देखती है जो सम्मुख है वरन् उसे भी देखती है जो व्यतीत हो गया और जो आने वाला है) वह आत्मा इन सुखो को देखकर, जो दूसरो के लिये गुप्त स्वर्ण-कोष के समान छिपे हैं) अपनी दैवी चक्षु, मन से, आनन्द पाता है।

"देवता जो ब्रह्म लोक मे हैं उस आत्मा की पूजा करते हैं (जैसा प्रजापति ने इन्द्र को बताया और इन्द्र ने देवताओ को बताया। वहाँ वे सब लोको के स्वामी हैं। सब सुख उनको प्राप्त हैं। जो उस आत्मा को जानता है और समझता है सब लोको को प्राप्त कर लेता है और उसकी समस्त इच्छाये पूरी होती हैं। इस प्रकार प्रजापति ने कहा।

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी

दूसरा उदाहरण वृहदारण्यक का है। यहाँ पर वह दो बार कहा गया है। कुछ भेद के साथ, पहली बार दूसरे मे और दूसरी बार चौथे अध्याय मे —

"याज्ञवल्क्य के दो स्त्रियाँ थी मैत्रेयी और कात्यायनी। इनमे से एक मैत्रेयी ब्रह्म को जानती थी किन्तु कात्यायनी मे उतना ही ज्ञान था जो साधारण स्त्रियो मे होता है। जब याज्ञवल्क्य दूसरे राज्य मे जाने लगे तब—उन्होने कहा "मैत्रेयी! मैं इस घर से (वन को) जा रहा हूँ। इसलिये मुझे तुम्हारे और कात्यायनी (दूसरी पत्नी) के सम्बन्ध मे निर्णय कर देना चाहिये।

मैत्रेयी ने कहा 'मेरे स्वामी! यह सम्पूर्ण संसार, समस्त सम्पदा सहित यदि मेरा हो जाय, तो कृपया बताइये कि क्या मैं इससे अमर हो जाऊगी?'

"याज्ञवल्क्य ने कहा, नही, धनी लोगो के समान तुम्हारा जीवन होगा किन्तु धन से अमरत्व की आशा नही है। (२)

तब मैत्रेयी ने कहा "मै उसे लेकर क्या करुगी जिससे मुझे अमरत्व नही मिलेगा। मेरे स्वामी (अमरत्व के सम्बन्ध मे) जो आप जानते हैं, मुझे वह बताइये।' (३)

"याज्ञवल्क्य ने कहा, तुम वास्तव मे मुझे प्रिय हो, तुम प्रिय शब्द बोलती हो। आओ, यहाँ बैठो। मैं तुम्हे बताऊगा। जो मैं कहता हूँ उस पर खूब ध्यान देना।' (४)

और उन्होने कहा, वास्तव मे पति इसलिये प्रिय नहीं कि तुम उससे प्रेम करती हो किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम कर सकती हो इसलिये पति प्रिय है।'

"इसी प्रकार पत्नी प्यारी नही है कि हम उससे प्यार करे। किन्तु इसलिये प्रिय है कि हम आत्मा से प्रेम कर सकें। इसलिये पत्नी प्रिय है।"

"पुत्र भी प्यारे नही हैं। इसलिये नही कि तुम पुत्रो से प्रेम कर सको किन्तु इस लिये कि तुम आत्मा से प्रेम कर सको। इसलिये पुत्र प्रिय है।"

"निश्चय ही, धन प्यारा नही है कि तुम धन से प्रेम कर सको। किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम कर सको। इसलिये धन प्यारा है।"

"ब्राह्मण वर्ग प्यारा नही है कि तुम ब्राह्मण वर्ग से प्यार करो किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम कर सको। इसलिये ब्राह्मण-वर्ग प्रिय है।"

इसी प्रकार क्षत्रिय वर्ग प्यारा नही है कि तुम क्षत्रिय वर्ग से प्रेम करो किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम कर सको। इसलिये क्षत्रिय वर्ग प्यारा है!"

'निश्चय ही, देवता भी प्रिय नही है कि तुम देवताओ से प्रेम करो किंतु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम करो। इसलिये देवता प्रिय हैं।'

"इसी प्रकार प्राणी मात्र प्रिय नही है कि तुम प्राणियो से प्रेम करो किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम करो। इसलिये सृष्टि के प्राणी प्रिय है।'

'निश्चय ही प्रत्येक वस्तु प्रिय नही हैं कि तुम प्रत्येक वस्तु से प्रेम करो किन्तु इसलिये कि तुम आत्मा से प्रेम करो। इसलिये प्रत्येक वस्तु प्रिय है।

"आत्मा को देखना है आत्मा के सम्बन्ध मे सुनना है, आत्मा की धारणा करना है, आत्मा लक्ष्य है। हे मैत्रेयी! जब हम आत्मा को देखते हैं सुनते हैं धारणा करते हैं और उसे जानते हैं तब सब कुछ ज्ञात हो जाता है। (५)

"जो ब्राह्मण वर्ग को आत्मा मे नही देखता है उसे ब्राह्मण वर्ग को छोड देना चाहिये। जो क्षत्रिय वर्ग को आत्मा के अतिरिक्त और कही देखता है उसे क्षत्रिय वर्ग को छोड देना चाहिये। जो आत्मा के अतिरिक्त लोकों को और कही देखता है उसे लोको के द्वारा छोड देना चाहिये। जो देवताओ को आत्मा के अतिरिक्त और कही देखता है उसे देवताओं को छोड देना चाहिये, जो सृष्टि के प्राणियों को आत्मा के अतिरिक्त और कहीं समझता है उन प्राणियों को छोड़ देना चाहिये। जो प्रत्येक वस्तु को आत्मा के अतिरिक्त और कहीं देखता है उसे प्रत्येक वस्तु को छोड़ देना चाहिये। यह ब्राह्मण-वर्ग, यह क्षत्रिय वर्ग, ये लोक ये देवता, ये प्राणी, प्रत्येक वस्तु सब कुछ आत्मा है।' (६)

'जिस प्रकार एक ढोल की ध्वनि होने पर बाहर से अपने आप नहीं पकड़ी जा सकती है किन्तु ध्वनि पकड़ ली जाती है जब ढोल पकड़ लिया जाता है या ढोल पीटने वाला पकड़ लिया जाता है। (७)

और जिस प्रकार शंख ध्वनि होने पर बाहर से नहीं पकड़ी जा सकती है किन्तु जब शंख या शंख फूंकने वाला पकड़ लिया जाता है, तब पकड़ी जाती है।' (८)

"और जैसे वशी की ध्वनि जब की जाती है तब बाहर से नही पकडी जा सकती है किन्तु ध्वनि तब पकड जाती है जब वशी या वशी वादक पकड लिया जाता है।" (६)

"जैसे धुए के बादल अपने आप प्रज्वलित अग्नि म निकल कर बढते हैं जब लकडी गीली होती है, इसी प्रकार हे मैत्रेयी ! एक महान सत्ता की श्वास स, हमार ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवद, अथर्वागिरस, इतिहास, पुराण विद्या, उपनिषद, श्लोक सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, निकले हैं।" (१०)

"जैसे समस्त जल समुद्र म समा जाता है, समस्त स्पर्श, त्वचा मे, समस्त स्वाद जिह्वा म समस्त सुगन्धियाँ नाक म, समस्त रग नेत्र म, समस्त ध्वनियाँ कान म, समस्त अनुभूतियाँ मस्तिष्क म, समस्त ज्ञान हृदय म, समस्त कार्य हाथो म, समस्त गतियाँ पैरो मे और समस्त वेद वाणी मे कद्रित हैं।' (११)

'जसे नमक का एक टुकडा जल म डाला जाता है तो जल म घुल जाता है फिर उसे बाहर नही निकाला जा सकता है किन्तु जब हम स्वाद दते हैं (जल का) तब उसम नमक होता है, इसी प्रकार हे मैत्रेयी ! यह महान सत्ता अनन्त, असीम, केवल ज्ञानमय इन तत्वों से निकलती है फिर उनम लीन हो जाती है। जब वह चली जाती है तब कोई ज्ञान शेष नही रहता है। मैं कहता हूँ मैत्रेयी !" इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा।" (१२)

तब मैत्रेयी ने कहा यहाँ आपने मुझे आश्चर्य म डाल दिया है। आप कहते हैं कि चले जाने के बाद फिर ज्ञान नही रहता है।

किन्तु याज्ञवल्क्य ने कहा हे मैत्रेयी ! मैंने आश्चर्य म डालने वाली कोई बात नही कही है। इतना ही पर्याप्त है हे मैत्रेयी ! मेरी प्रियतमा ! ज्ञान यही है (आत्मा अमर है अविनाशी—वो)।' (१३)

"क्योकि जब दो होते हैं तब एक दूसरे को देखता है, एक दूसरे को सूघता है, दूसरे को सुनता है प्रणाम करता है दूसरे की अनुभूति करता है एक दूसरे को जानता है किन्तु जब आत्मा स्वय यह सब कुछ है (दूसरा कोई नही है) तब वह दूसरे का कैसे सूघेगा, देखेगा, सुनेगा, दूसरे को प्रणाम कैसे करेगा, दूसरे की अनुभूति कैसे करेगा ? दूसरे का ज्ञान कैसे होगा ? वह उसे कैसे जानेगा जिसके द्वारा वह यह सब जानता है ? हे प्रियतमे ! वह ज्ञाता को कैसे जानेगा ? आत्मा को नेति नेति कहना चाहिये, वह बुद्धि से अगम्य है, पतन विहीन है, वह मुक्त है निर्बन्ध है, इस प्रकार हे मैत्रेयी ! तुम्हे दीक्षा दी गयी है।' अमर तत्व यही है। इतना कहकर याज्ञवल्क्य वन को प्रस्थान कर गये। (४ ५ १५)

यम और नचिकेता

उपनिषदों में सबसे अधिक प्रख्यात कठ उपनिषद है। यूरोपियन विद्वानों को श्रीराम मोहन राय ने इसका पहले परिचय कराया। श्रीराम मोहन राय अपने देश के उदार नेता और प्रबुद्ध प्रमुख व्यक्ति थे और यह कहना भी ठीक है कि मानव जाति के वे प्रबुद्ध कल्याणकारी महापुरुष थे। अब उसका अनुवाद हो चुका है और उस पर विवेचना और विचार पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इसलिये उस पर मनोयोग से विचार करना सबके लिये हितकर है विशेषत उनके लिये जो धार्मिक और दार्शनिक विचारों के विकास में रुचि रखते हैं। कठ उपनिषद सब प्रकार से ऐसा साहित्य है जो इस विषय में बहुत सहायक है। यह सम्भव नहीं जान पड़ता है कि जिस रूप में वह हमें प्राप्त हुआ है वह उसका मूल रूप है। बाद को उसमें कुछ अंश मिला देने के स्पष्ट चिह्न हैं। वास्तव में यही कथा तैत्तरीय ब्राह्मण ३ २ ८ में आयी है। केवल यह अन्तर है कि ब्राह्मण में जन्म और मृत्यु से मुक्ति का उपाय एक विचित्र बलि द्वारा बताया गया है और उपनिषद में केवल ज्ञान द्वारा मुक्ति बताया गयी है।

उपनिषद मे एक बालक नचिकेता और यम का, जो स्वर्गीय आत्माओ के विधायक है, एक संवाद है। नचिकेता का पिता ने वचन दिया था कि वह सम्पूर्ण का बलिदान करेगा, सर्वस्व त्याग देगा वह बलिदान जिसके अनुसार मनुष्य को समस्त सपदा आदि दान करनी पड़ती है। पुत्र ने पिता की प्रतिज्ञा सुनकर पूछा कि वे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं या नही? इसमे कोई सकोच या बाधा है? पहले पिता सकोच करता है। अन्त मे वह क्रोध करता है और कहता है।

हाँ मैं तुम्हे भी मृत्यु को दे दूगा।

पिता, एक बार ऐसा कहने के बाद इसे पूरा करने के लिये बाध्य थे और पुत्र को मृत्यु के लिये भेट (बलि) चढाना था। पुत्र अपने पिता की कठोर प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिये (मृत्यु की ओर) जाने के लिये तत्पर है।

वह कहता है मैं जाता हूँ सबसे पहले उन सबसे आगे (जिनका अभी मरना है) मैं जाता हूँ उन अनेको के बीच मे (जो अब मर रहे, मृत आत्माओ के शासक यम जो करना चाहते आज करेगे (मेरे साथ)।'

'पीछे देखो, जो पहले आये है वे कैसे हैं। आगे देखो, जो आने वाले हैं वे कैसे होंगे? (उनका क्या होगा) मरणशील परिपक्व होता अन्न की भाँति जो अन्न की भाँति पुनः उपजता है।''

जब नचिकेता यमधाम पहुचे तब वहाँ के शासक, यम उपस्थित नहीं थे इस लिये अतिथि को तीन दिना तक आतिथ्य प्राप्त नही हुआ।

इस उपेक्षा और भूल की क्षति पूर्त्ति के लिये, यम ने लौटने पर उनको तीन वरदान दिये जो उनका चुनना था—

नचिकेता ने जो पहिला वरदान चुना वह यह था कि उनके पिता अब आगे उन पर क्रोध न करे। (तैत्तिरीय ब्राह्मण मे यह कहा गया है कि पहिला वरदान नचिकेता ने यह मागा कि वे अपने पिता के पास जीवित लौट जाये)।"

दूसरा वरदान यह मागा कि यम उनको कोई विचित्र बलिदान की पद्धति सिखा दे। (तैत्तिरीय ब्राह्मण मे यह कहा गया है कि उनके अच्छे कर्म नष्ट न हो। इस पर इन्द्र ने उनको एक विचित्र बलि बतायी जिसे नचिकेता के नाम से पुकारा जायगा)।

अब तीसरा वरदान आता है।

"नचिकेता कहते है यह सन्देह बना है कि जब मनुष्य मर जाता है तब कुछ लोग कहते हैं कि वह (मृत्यु के बाद भी) है और कुछ लोग कहते हैं कि नही है। मैं इसे आप से जानना चाहता हू। यह मेरा तीसरा वरदान है।" (२०)

(तैत्तिरीय ब्राह्मण मे यह कहा गया है कि तीसरा वरदान यह मागा था कि यम उनको मृत्यु विजय का उपाय बतावे। इस पर यम ने नचिकेता बलिदान बताया। भाष्य के अनुसार यह सशोधन है कि उपासना प्रमुख और बलिदान गौण है)

"मृत्यु ने कहा" इस बात पर पहले देवताओ को भी सन्देह हुआ है। इसे समझना सरल नही है। यह सूक्ष्म विषय है। दूसरा वरदान मागो, हे नचिकेता! मुझ पर जोर मत डालो। यह वरदान मेरे लिये छोड दो।" (२१)

'साधारण मरण-शील प्राणी जिनको प्राप्त नही कर सकते हैं, उनकी अनेक आकाक्षाये अपूर्ण रहती हैं, उनमे से कोई भी आकाक्षा तुम पूरी कर सकते हो। अपनी इच्छानुसार वरदान मागो। ये सुन्दर अप्सराये, उनके सुन्दर रथ, सगीत और वाद्य के मनमोहक यत्र, जिनको मृत्यु शील मानव कभी प्राप्त ही नही कर सकता है, ये सब तुम्हारे हो सकते है तुम्हारी सेवा मे लग सकते हैं। मैं तुमको यह सब देता हूँ। किन्तु मुझसे मृत्यु के सम्बन्ध मे मत पूछो।'

"नचिकेता ने कहा" इन सबका अस्तित्व केवल कल तक है (क्षण भगुर है) हे मृत्यु! समस्त इन्द्रियो की शक्ति ये ले लेते हैं, इससे वे शीघ्र ही शिथिल पड जाती है। पूरा जीवन भी (इनके लिये) कम है। अपने अश्व, नृत्य और सगीत के साधन अपने पास रखो। कोई भी मनुष्य (केवल) धन से सुखी नही हो सकता है। हे मृत्यु तुम्हे देखकर क्या हम धन का अधिकार लेना चाहेगे? कदापि नही।"

जिस पर सन्देह है हे मृत्यु! वह बताओ। उस महान भविष्य में है क्या? नचिकेता दूसरा वरदान नही माँगता है किन्तु वह माँगता है जिससे गुप्त ससार मे प्रवेश करता है।' (२९)

अन्त म यम, अपनी इच्छा क विरुद्ध, आत्मा क ज्ञान का रहस्य बताने को विवश होते हैं —

"वे कहते हैं" अज्ञान म पडे हुए मूख प्राणी, अपने को बुद्धिमान समझने वाले, मिथ्या ज्ञान से परिपूर्ण, घूमत रहत हैं (जन्म मरण के चक्र म) इधर उधर भटकत हैं जैसे अन्धे को अन्धा आगे ल चलाता है (मार्ग प्रदशन करता है) अचेत, असावधान बालक की आंखो के सामने भविष्य दिखायी नही देता है। धन का मोह भ्रम उत्पन्न करता है। वह सोचता है कि यही ससार है (जो सत्य है) दूसरा कोइ ससार नहीं है। इस प्रकार वह बारम्बार मेरे (यम के) पाश म पडता है।' (६)

"बुद्धिमान मनुष्य अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं और उस पुरातन को प्राप्त करते हैं जिसे देखना कठिन है, जो एकान्त गुफा म अधकार में, गूढ म निवास करते हैं (ऋषि) उस भगवान को देखते हैं। वह आनन्द और दुख दोनो को बहुत पीछे छोड देता है।" (१२)

"आत्मा का ज्ञाता (आत्म ज्ञानी) पुन जन्म नही लेता है। उसकी मृत्यु नही होती है। वह शून्य से आया था शून्य ही हो जाता है। पुरातन का जन्म नही होता है, अनन्त काल से अनन्त काल तक। उसकी मृत्यु नही होती है। जब शरीर नष्ट हो जाता है तब भी वह नही मरता है।" (१८)

"आत्मा लघुतम (अणु) से भी छोटा है महानतम से महान है, प्राणी क हृदय मे छिपा है। जिस मनुष्य को कोई कामना नही है कोई दुख नही है, वह उस आत्मा की गरिमा को स्रष्टा की अनुकम्पा से देखता है।" (२०)

"यद्यपि वह स्थिर बैठा रहता है फिर भी दूर तक भ्रमण करता है। लेटा रहता है और सर्वत्र जाता है। उस पुरातन परमेश्वर को मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन जान सकता है, जो आनन्द करता है फिर भी आनन्द नही करता है।' (२१)

' उस आत्मा की प्राप्ति (केवल) वेदो से नही हो सकती है न केवल ज्ञान से और न प्रचुर विद्याध्ययन से। जिसका वरण वह आत्मा स्वय करता है, उसी को आत्मा की प्राप्ति होती है। आत्मा उसे अपने ही रूप म वरण करता है। (२३)

किन्तु जिसने अपनी दुष्टता नही छोडी है जो शान्त और साम्य स्थिति म नही रहता है जिसने अपने ऊपर विजय नही प्राप्त की है या जिसका मस्तिष्क प्रशान्त नही है वह ज्ञान के द्वारा भी आत्मा की प्राप्ति नही कर सकता है।'

' कोई भी (मरणशील) प्राणी कवल उस श्वास स जीवित नही रहता है जो ऊपर जाती है और नीचे आती है (श्वास प्रश्वास) हम दूसरी (श्वास) से (जीवित) रहते हैं जिसम ये दोनो आश्रय पाती हैं।' (५ ५)

"अच्छा अब मैं तुम्हे यह रहस्य बताता हूँ। अनन्त शून्य का भेद खोलता हूँ और मृत्यु के बाद आत्मा का क्या होता है वह भी बताता हूँ।" (६)

"कुछ का पुनजन्म होता है, जीवित प्राणी के रूप मे, दूसरे पत्थर और वृक्षो की योनि म जाते हैं अपने कर्म के अनुसार और अपने ज्ञान के अनुसार (प्राणियो का जन्म) होता है।" (७)

"किन्तु वह, सर्वोच्च सत्ता, जब हम सोते रहते हैं तब भी जो जागती रहती है, जो एक के बाद दूसरे सुन्दर दृश्य बनाती रहती है, उसी को वास्तव म प्रकाश-पूर्ण (उज्वल, तेजस्वी) कहते हैं। उसी को ब्रह्म कहते हैं उसी को केवल अमर कहा जाता है। समस्त लोको का आधार वही है। उसके आगे कोई नहीं जाता है। यह वही है (सोहमस्मि)।" (८)

"जैसे अग्नि, ससार मे आने पर, यद्यपि एक है, अनेक रूपो मे प्रकट होती है जिसको जलाती है उसी के रूप की हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा जो सब मे व्याप्त है, अनेक हो जाती है, जिसमे प्रवेश करती है उसी के रूप के अनुरूप हो जाती है और सबसे अलग भी रहती है।" (६)

"जैसे सूर्य, जो ससार को चक्षु है, वाह्य अपवित्रताओ से दूषित नही होता है जो आँखो के कारण आती हैं। इसी प्रकार आत्मा, जो सर्वत्र व्याप्त है, कभी दूषित नहीं होता है, ससार के क्लेशो का उस पर कोई प्रभाव नहीं पडता है। स्वय सबसे अलग रहता है।" (११)

"एक अनन्त विचारक है, वह सान्त विचारो का भी विचार करता है। वह एक है किन्तु अनेक व्यक्तियो की आकाक्षा पूरी करता है। जो विद्वान उसे अपनी आत्मा म देखते हैं उनको अनन्त शान्ति प्राप्त होती हैं।" (१३)

"जो कुछ भी है, समस्त सृष्टि (ब्रह्म से) निकलकर कम्पित होती है (उसी के श्वास मे) वह ब्रह्म रुद्र रूप भी है, नङ्गी तलवार की भाँति भयानक है। जो उसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।" (६, २)

"ब्रह्म की प्राप्ति वाणी से नहीं हो सकती है। मस्तिष्क स उसे नहीं पाया जा सकता है। या नेत्र से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। केवल वही उसे प्राप्त कर सकता है, उसकी धारणा कर सकता है जो कहता है कि वह है। दूसरे उसे नही प्राप्त कर सकते हैं 'वह है' इसको धारणा करने वाला हो उसे प्राप्त कर सकता है। (१२)

"जब सब वासनाये जो हृदय में रहती हैं, समाप्त हो जाती हैं तब मर्त्य, अमर्त्य हो जाता है और ब्रह्म की प्राप्ति करता है।" (१४)

"जब पृथ्वी पर के, हृदय के सब बन्धन टूट जाते हैं तब मरणशील प्राणी अमर हो जाता है। यहाँ मेरी शिक्षा समाप्त होती है।" (१५)

उपनिषदों का धर्म

सम्भवतः यह कहा जायगा कि उपनिषदों की इस शिक्षा को अब धर्म नहीं कहा जा सकता है। ऐसा सम्भव हो सकता है यदि अभी यह दर्शन अस्पष्ट रूप में नहीं आता है। इससे यही स्पष्ट होता है कि हम आज भाषा के कितने गुलाम हैं। धर्म और दर्शन को अब हम अलग कर चुके हैं और यहाँ तर्क का और उपदेश का अन्तर है मैं इससे इनकार नहीं करता हूँ कि यह भेद लाभदायक हो सकता है। किन्तु जब हम उन विषयों को देखते हैं जिनसे धर्म का सम्बन्ध है तब हम यह पाते हैं कि ये वही विषय हैं जिनसे दर्शन का सम्बन्ध है और उनको पहले दर्शन में रखे हैं। ज्यादा हो नहीं, मैं तो कहूँगा कि दर्शन इसी से निकला है। यदि धर्म का आधार हो यह है कि सान्त में और सान्त के परे भी अनन्त की अनुभूति और धारणा हो जाय तब इसका निर्णय कौन करेगा कि यह भावना या यह धारणा ठीक है या नहीं। इसका निर्णय तो दार्शनिक ही कर सकता है। जो शक्तियाँ मनुष्य में हैं और जिनसे वह इन्द्रियों के द्वारा सान्त की अनुभूति करता है, फिर उन अनुभूतियों से अपने विवेक के द्वारा धारणायें बनाता है, उनका निर्णय दार्शनिक के अतिरिक्त और कौन करेगा? और यदि दार्शनिक नहीं तो दूसरा कौन इसकी जाँच करेगा कि मनुष्य इस अधिकार का दावा कर सकता है या नहीं कि वह यह कह सके कि अनन्त का अस्तित्व अवश्य है। यद्यपि इन्द्रियाँ और विवेक साधारण अर्थ में बराबर इसका विरोध करते हैं। यदि हम दर्शन से धर्म को अलग कर दें तो उसे निर्जीव कर देंगे और दर्शन का भी हम विनाश कर देंगे यदि उसे धर्म से अलग कर देंगे।

प्राचीन ब्राह्मण, जिन्होंने हमारे यूरोप के आचार्यों से अधिक कुशलता बरती थी पवित्र और अपवित्र साहित्य की स्पष्ट विभाजन रेखा बनायी थी और अपने धर्म ग्रन्थों के पवित्र और अपौरुषेय रूप को स्थापित करने के समय सदैव उपनिषदों को धर्म ग्रन्थों में सम्मिलित किया था। उपनिषद श्रुतियों में माने जाते हैं, इसके विपरीत स्मृतियाँ और दूसरे धार्मिक साहित्य हैं जिनमें उनके पवित्र निगम, महाकाव्य, आधुनिक पुराण सम्मिलित हैं।

उन ब्राह्मणों के लिये प्राचीन ऋषियों का दर्शन उतना ही पवित्र आधार था जितना कि बलिदान, स्तुतियों और ऋचायें।

वैदिक धर्म में विकास

किन्तु प्राचीन हिन्दू धर्म की स्थापना के सम्बन्ध में एक और गम्भीर बात है। जिसकी ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है।

इसमें सन्देह नहीं है कि संहिताओं में भी पवित्र ऋचाओं के संग्रह में, हम ऐतिहासिक विकास के चिह्न मिलते हैं। मैंने अपने पहिले के भाषणों में इसे स्पष्ट करने की

चेष्टा की थी यद्यपि मैंने यह भी कहा था कि विचार की इन कक्षाओं के लिये कोई भी वश-क्रमिक नाप तोल लगाना व्यर्थ होगा। हमें सदैव व्यक्तिगत प्रतिभा के लिये स्थान रखना चाहिये। यह प्रतिभा वर्षों और शताब्दियों से मुक्त होती है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि बरकले, जो हमें अत्यधिक प्रगतिशील हिन्दू दार्शनिकों का स्मरण दिलाते हैं, पवित्र कवि वाटस के समकालीन थे। फिर भी प्राचीनकाल में, और वैदिक काल के साहित्य में, हमें यह कहने का अधिकार है कि साधारणतया ऊषा और सूर्य के आगमन में लिखी गयी ऋचायें पहिले की हैं उसके बाद अग्नि को सम्बोधित ऋचायें और स्तुतियाँ हैं। और ये स्तुतियाँ भी प्रजापति की स्तुतियों से पहिले की हैं। प्रजापति समस्त प्राणियों के एक मात्र स्वामी थे। ऐसी कविताएं और स्तुतियाँ जिनका अनुवाद मैंने अभी किया है जिनमें कवि स्वयं बिना विश्वास के श्वास लेने वाले, का वर्णन करते हैं बाद को आयी हैं, इसमें सन्देह की सम्भावना कदापि नहीं है।

एक ऐतिहासिक, या जैसा अब कहते हैं विकास-पूर्ण, एक के बाद दूसरे विचार आने का, क्रम है जिसे वेद की सब ऋचाओं और मन्त्रों में देखा जा सकता है यह बहुत ही महत्वपूर्ण है और वंश परम्परागत या तिथियों की गिनती से अधिक शिक्षाप्रद और उपयोगी है। ये सब ऋचायें, अत्यन्त प्राचीन और आधुनिक, जब वेद की ऋचाओं और मन्त्रों का संग्रह-काल [संहिताओं का] पूर्ण हो चुका था उसके पहिले थीं। संहिताओं का समय यदि हम ईसा-पूर्व एक हजार वर्ष रक्खें तो हमारा विश्वास है कि हमारी अधिक आलोचना का अवसर किसी को न मिलेगा।

ऋचाओं का संग्रह निस्सन्देह ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना के पूर्व हुआ होगा। मन्त्रों में और ब्राह्मण ग्रन्थों के धार्मिक आलेखों में, जो बाद के समय के हैं, उनके लिये श्रेष्ठतम वरदान देने की बात कही गयी है जो प्राचीन बलिदानों को धार्मिक निष्ठा में सम्पन्न करते हैं। जिन देवताओं को बलि दी जाती है वे वही देवता हैं जिनका ऋचाओं में वर्णन है यद्यपि हम यह देखते हैं कि प्रजापति ऐसे देवता जो देवताओं के सूक्ष्मरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं, बारम्बार आते हैं बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों में वे और अधिक प्रमुख स्थान पाते हैं।

इसके बाद आरण्यक आते हैं, जो उसके बाद के समय के हैं। ये ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्त में आते हैं केवल इसीलिये बाद के समय के नहीं हैं वरन् इसलिये भी कि उनकी रचना और आकार ऐसा है।

उनका अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि वन में रहने वाले लोगों को बलिदान से सम्पन्न करना चाहिये जिनमें वह प्रदर्शन और वाह्य आडम्बर न हो जो ब्राह्मण-ग्रन्थों में और बाद के सूत्रों में बताया गया है। यह बलिदान की क्रिया मानसिक प्रयास का था। बलि देने वाले उपासक को बलि की केवल कल्पना करनी थी, अपनी स्मृति

से ही उसे दोहराना था (मस्तिष्क) में। इस प्रकार उसे वही सिद्धि प्राप्त होती थी जो जटिल बलिदान प्रथाओं को पूरा करने वाले को प्राप्त होनी थी।

अन्त में उपनिषद् आते हैं। उनका उद्देश्य क्या है? वे समस्त धार्मिक बाह्य (आडंबर पूर्ण) क्रियाओं का व्यर्थ बताते हैं। इतना ही नहीं वे उन क्रियाओं का दुष्टता पूर्ण रूप भी प्रकट करते हैं। वे प्रत्येक बलिकर्म की निन्दा करते हैं जो किसी फल की अभिलाषा से या कामना की पूर्ति के लिये किया जाता है। वे, यदि देवताओं के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करते हैं तो कम से कम उनको विशिष्ट और सर्वोपरि स्थान भी नहीं देते हैं। उपनिषद् यह सिखाते हैं कि मुक्ति की आशा, अपने स्वरूप को पहिचानने से और सर्व व्यापी आत्मा के ज्ञान से ही हो सकती है और किसी प्रकार नहीं। इसी मार्ग से शान्ति और विश्रान्ति प्राप्त हो सकती है। परमपद प्राप्त होता है।

इन विचारों तक लोग कैसे पहुँचे, एक के बाद दूसरा विचार स्वभावतः कैसे आया, इनकी खोज करने वाले किस प्रकार केवल सत्य ज्ञान के ही शोधकर्त्ता थे, ऋत से प्रेम करते थे और सत्य के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने में प्रत्येक मानव सम्भव अध्यवसाय करते रहे, इन सबको विशद रूप से स्पष्ट करने के लिये मैंने यथा-सम्भव अपने भाषणों में प्रयत्न किया है। भाषणों में समय और स्थान की सीमा निर्धारित थी ही।

अब आप, निस्सन्देह यह प्रश्न करेंगे जैसा कि पहिले भी अनेक लोगों ने किया है, कि ऐसे धर्म की स्थिरता कैसे सम्भव थी जिसमें न केवल विभिन्न विचार हैं बल्कि एक दूसरे के अत्यन्त विपरीत तत्व हैं?

एक ही धार्मिक वर्ग के लोग एक साथ कैसे रहते थे जिनमें से कुछ लोग यह मानते थे कि देवताओं का अस्तित्व है और कुछ लोग यह मानते थे कि न कोई ईश्वर है और न कोई देवता। कुछ लोग अपने जीवन का सर्वस्व बलिदानों में त्याग देते थे और दूसरे लोग प्रत्येक बलि प्रथा को माया जाल, भ्रम और आडंबर मानते थे। एक दूसरे के विपरीत सब धर्म-ग्रन्थ किस प्रकार पवित्र माने जाते थे अपौरुषेय कहे जाते थे और सत्य की समीक्षा के लिये उनको अद्वितीय माना जाता था।

फिर भी वास्तविकता यह है कि हजारों वर्ष पूर्व ऐसा ही था और आज भी वैसा ही है यद्यपि बीच के समय में अनेक परिवर्तन हुये हैं। जहाँ कहीं भी प्राचीन वैदिक धर्म है, वहाँ उसकी यही विशिष्टता है। तथ्य सम्मुख हैं हम केवल उनको समझने का प्रयत्न करना है, और उससे एक पाठ पढ़ना है।

चारवर्ण

भारत का प्राचीन साहित्य और भाषा जब तक यूरोपियन विद्वानों के लिये सुलभ नहीं हुई थी तब तक यह कहने की रीति चल गयी थी कि ब्राह्मण वर्ग विशेष में पुरोहितों का आधिपत्य है जो अपने स्वार्थों की रक्षा ईर्ष्या वश करते रहते हैं,

अपने पवित्र ज्ञान को सुरक्षित और सीमित रखते हैं (अपने ही हित मे उसका प्रयोग करते है) दूसरी जातियो का उससे दूर रखते हैं और मूर्ख लोगो पर अपनी श्रेष्ठता बनाये रखते हैं।

संस्कृत साहित्य का थोडा सा परिचय और ज्ञान भी इस आरोप को पूर्ण निराधार बता देगा। केवल शूद्रों को वेद ज्ञान देने का का निषेध था। दूसरे वर्णों के लिये, क्षत्रिय और नागरिक (वैश्य) वर्गों के लिये, निषिद्ध तो थी ही नहीं वैदिक शिक्षा पवित्र और अनिवार्य कर्तव्य मानी जाती थी। सबको वेद पढ़ना पड़ते थे। ब्राह्मणों का विशेषाधिकार केवल यही था कि वे ही उसे सिखा सकते थे।

ब्राह्मणों का यह उद्देश्य कभी नही था कि निम्न वर्गों को केवल पूजा, कर्मकाड और परम्परागत विश्वास का रूप बताना चाहिये और उपनिषदो का दिव्य ज्ञान ब्राह्मणों के लिये ही सुरक्षित रखना चाहिये। इसके विपरीत इसके अनेक चिह्न हैं कि ये दिव्य विचार प्रथम वर्ग से अधिक दूसरे वर्ग से (क्षत्रिय, वैश्य) निकले।

वास्तव मे वैदिक काल मे वर्ण व्यवस्था, शब्द के साधारण अर्थ मे, थी ही नही, वेद के (तथा कथित) वर्ण, मनु के नियमों से नितान्त भिन्न हैं और वर्तमान में जो प्रचलित है, वे तो इससे भी अधिकाधिक भिन्न हैं। हम आर्य जाति को पहिले दो वर्गों से विभाजित पाते हैं। आर्य या श्रेष्ठ-जन्मा और शूद्र, सेवक या गुलाम। इसके बाद हम देखते हैं कि आर्यों मे ब्राह्मण (ब्रह्म ज्ञानी, अध्यात्म गुरु) क्षत्रिय या राजन्य, सैनिक विशिष्ट व्यक्ति और वैश्य, नागरिक वर्ग हुये। इनको जो कर्तव्य बताये गये थे और इनके जो अधिकार घोषित किये गये थे वे वही थे जो दूसरे देशो मे थे। इसके लिये इस समय हम अधिक विचार नहीं करना है। सार्वभौम प्रथा के रूप मे आर्यों मे भी ये वर्ण थे।

चार आश्रम

प्राचीन वैदिक समाज की अधिक महत्व पूर्ण व्यवस्था, चार वर्णों से अधिक चार आश्रमों की है। इसके अनुसार ब्राह्मण को चार आश्रमो मे रहना आवश्यक है, क्षत्रिय को तीन और वैश्य (नागरिक) को दो आश्रमो मे रहना चाहिये, जीवन का प्रत्येक क्रिया कलाप, प्रत्येक बच्चे के लिये जो प्राचीन भारत मे, ससार मे जन्म लेता था जो किसी भी नियम के बन्धन मे सम्पूर्ण रूप से नही पड़ना चाहता है। हम यह सन्देह करने का कोई भी कारण नही दिखायी देता है कि भारतीय इतिहास के पुरातन काल मे यह जीवन क्रम, यह निर्धारित प्रणाली, जिसे पवित्र ग्रंथो ने स्वीकृत किया था और जिसे नियमो के अन्तर्गत निर्धारित किया था, सर्व मान्य नहीं था या इस पर आचरण किया जाता था।

आर्यों के बच्चों की उत्पत्ति के समय ही, उनके जन्म के पूर्व भी माता पिता को

पवित्र कर्तव्य पूरे करने पड़ते थे। संस्कारों का विधान था जो जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता था। इन संस्कारों के न करने पर बच्चा समाज का मान्य सदस्य नहीं हो सकता था। जैसे कोई चर्च का सदस्य नहीं हो सकता था, बिना विशेष धार्मिक संस्कार के वैसे ही आर्य होने के लिये संस्कार अनिवार्य थे। कम से कम पचीस संस्कारों का वर्णन है, कहीं कहीं अधिक भी लिखे हैं। शूद्रों का इन संस्कारों का अनुमति नहीं थी और जो ब्राह्मण इन संस्कारों को पूर्ण नहीं करते थे उनको शूद्र से अच्छा नहीं माना जाता था। (यम के अनुसार, शूद्र भी उपनयन तक ये संस्कार कर सकते हैं किन्तु उनमें वैदिक मन्त्र नहीं पढ़े जायेंगे)

प्रथम आश्रम, ब्रह्मचर्य

आर्य पुत्र के लिये, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये, प्रथम आश्रम तब प्रारम्भ होता था जब बच्चा सात से ग्यारह वर्ष की आयु का होता है। तब उसे घर से बाहर भेज दिया जाता था और एक गुरु के आश्रम में शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य वेद-पाठ होता था। वेदों को कंठस्थ किया जाता था। वेदों को ब्रह्म कहते हैं इसलिये शिष्य को ब्रह्मचारी कहा जाता था—वेदों का विद्यार्थी। कम से कम बारह वर्ष अध्ययन के लिये रक्खे गये थे। अधिक से अधिक अड़तालीस वर्ष बताये गये हैं। गुरु गृह में निवास के समय शिष्य को कठोर अनुशासन पालन करना पड़ता था।

प्रतिदिन दो बार सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सन्ध्योपासना करनी पड़ती थी। प्रतिदिन प्रात और सन्ध्या समय गाँव में भिक्षा के लिये जाना पड़ता था और जो कुछ मिलता था सब गुरु को भेंट किया जाता था। जो कुछ गुरु देते थे शिष्य वही खाता था। उसे जल लाना पड़ता था, यज्ञ की वेदी के लिये सामग्री एकत्र करनी पड़ती था निवास के चतुर्दिक स्थान स्वच्छ रखना पड़ता था और रात्रि दिवस गुरु की सेवा करनी पड़ती थी। इसके बदले गुरु वेद पढ़ाते थे जो कंठस्थ किये जाते थे। इसके अतिरिक्त दूसरे आश्रम में जाने योग्य समस्त शिक्षा, और गृहस्थाश्रम में प्रवेश की दीक्षा दी जाती थी। शिष्य दूसरे गुरुओं (उपाध्याय) से भी सीख सकता था किन्तु दीक्षा-संस्कार केवल आचार्य करवाते थे।

शिक्षा की समाप्ति के बाद गुरु दक्षिणा देकर शिष्य अपने माता पिता के यहाँ लौट जाता था। तब उसे स्नातक कहा जाता था (स्नान किये हुये) या समावत (जो लौट आया है) हम कह सकते हैं कि उसने अपनी डिग्री प्राप्त की। कुछ नैष्ठिक जीवन भर गुरु गृह में निवास करते थे और विवाह नहीं करते थे दूसरे यदि उनमें वैसी भावना जाग्रत हुई तो ब्रह्मचर्य आश्रम से तुरन्त संन्यास आश्रम में चले जाते थे। किन्तु

साधारणतया नियम यह था कि कुमार आर्य जो लगभग उन्नीस या बाइस वर्ष के हो जाते थे, विवाह करते थे।

दूसरा आश्रम, गृहस्थ जीवन

जीवन के दूसरे आश्रम में उसे गृहस्थ या गृहमेधिन कहा जाता था। स्त्री के चुनाव के सम्बन्ध में और विवाह संस्कार के लिये अत्यन्त विस्तृत नियम बनाये गये थे। हम उसके धर्म पक्ष में रुचि है। उस समय तक वह वेद मंत्रों को कठस्थ कर लेता था और उसे, हमारा विश्वास है कि इन्द्र, अग्नि, वरुण प्रजापति और दूसरे वैदिक देवताओं में आस्था होती थी। उसे ब्राह्मण ग्रन्थों का ज्ञान हो जाता था और उसे अनेक बलिदान करने पड़ते थे जो धर्म सम्मत थे। उसे कुछ आरण्यक और उपनिषद भी कठस्थ हो जाते थे। हम यह मान सकते हैं कि उसकी प्रज्ञा जागृत हो जाती थी और वह तीसरे आश्रम के लिये तैयारी कर लेता था। प्रथम और दूसरे आश्रम में बिना रहे तीसरे आश्रम की अनुमति नहीं दी जाती थी। इसमें भी अपवाद हुये हैं। गृहस्थ को प्रतिदिन पाँच बलि देनी पड़ती थी, वेदों का पठन पाठन, पूर्वजों का श्राद्ध, बलि वैश्यदेव, देवताओं को बलि, जीवित प्राणियों को भोजन दान और अतिथि-सत्कार। गृह्य-सूत्र में वर्णित गृहस्थ के कर्तव्यों से अधिक पूर्ण प्रतिदिन का जीवन नहीं बताया जा सकता है। वह आदर्श रहा होगा। फिर भी ऐसा आदर्श था जो अन्यत्र नहीं मिलता है।

उदाहरण के लिये भारत में यह बहुत प्राचीन जीवन की धारणा थी कि प्रत्येक व्यक्ति एक ऋणी के रूप में जन्म लेता है। उस पर पहला ऋण ऋषियों का होता है जिन्होंने धर्म की स्थापना की, दूसरा ऋण देवताओं का होता है और तीसरा ऋण माता पिता का। ऋषि ऋण से वह मुक्त हो सकता है वेदों के सावधानी से किये अध्ययन से। देव ऋण से गृहस्थ के रूप में अनेक धार्मिक बलिदानों के करने से मुक्त हो सकता है और माता पिता के ऋण से श्राद्ध द्वारा और स्वयं बच्चों का माता-पिता बनकर मुक्त हो सकता है।

इन तीनों ऋणों को चुका देने के बाद मनुष्य को इस संसार से मुक्त माना जाता है।

आर्यों के इन अनिवार्य कर्त्तव्यों के अतिरिक्त दूसरे अनेक बलिदान हैं जिनको साधनों के अनुसार करने की उससे आशा की जाती है। अनेक दैनिक बलि क्रियायें हैं, दूसरी पाक्षिक, अन्य ऋतुओं के अनुसार, या अर्द्धवार्षिक और वार्षिक हैं। इनके करने में पुरोहितों की सहायता आवश्यक थी, इसलिये इनमें बहुत द्रव्य लगता होगा। तीन उच्च वर्णों के लाभ के लिये ये बलिदान निर्धारित थे। क्षत्रिय और वैश्य को ब्राह्मण के समान ही श्रेष्ठ द्विज माना जाता था। फिर भी इनकी क्रियायें और उनसे लाभ ब्राह्मणों के लिये ही सीमित थे। अश्वमेध या राजसूय यज्ञ क्षत्रियों के कल्याण के लिये

थे। पहिले दा] को इनसे बिल्कुल अलग रक्खा गया था कि तु बाद के काल में कुछ अपवाद हुए किन्तु उनमे भी यही बंधन था कि पवित्र मन्त्र न पढ़े जाय।

भारत के प्राचीन काल के सम्बन्ध में, लगभग एक हजार और पाँच सौ अपने काल से पूर्व के काल में, हम यह पाते हैं कि दिन का प्रत्येक क्षण (रात्रि का भी) ब्राह्मण के जीवन में कठोर नियमों से अनुशासित था। इनमे थोड़ी सी भी शिथिलता आने से जाति च्युत होना पड़ता था, कठिन पश्चात्ताप करना पड़ता था। दूसरे लोक में दण्ड मिलने का भय तो था ही। सावधानी से कर्तव्य-पालन करने से, उपासना और बलिदान से सम्पूर्ण जीवन में आनन्द मिलता था और मृत्यु के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होती थी।

तीसरा आश्रम वाणप्रस्थ (निवृत्ति)

अब हम प्राचीन भारतीयो के अत्यन्त महत्वपूर्ण उपदेश प्रद जीवन के आश्रम का वर्णन करते हैं। जब परिवार का पिता यह देखता था कि उसके केश भूरे (सफेद) हो रहे हैं या जब वह अपने पुत्र का पुत्र देख लेता था तब वह जानता था कि उसे संसार छोड़ देना है।

उसे अपने पुत्रों को अपना सर्वस्व दे देना पडता था घर छोड़कर वन को प्रस्थान करना पडता था। तब वह वाण प्रस्थ कहलाता था। स्त्री अपनी इच्छानुसार उसके साथ रहने या न रहने के लिये स्वतन्त्र थी। प्राचीन ऋषियो मे इस विषय में पर्याप्त मतभेद है और उस पर पूर्ण विचार आवश्यक है। मुख्य कठिनाई यह निर्णय करने में है कि ये विभिन्न आचार्य स्थानीय और समकालीन प्रथाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं या भारतीय समाज के क्रमागत विकास को बताते हैं। उदाहरण के लिये जहाँ संसार त्याग और वन गमन कठोरता पूर्वक पालन किया जाता था वहाँ उत्तराधिकार के नियम पर इससे प्रभाव अवश्य पडा होगा और स्त्री की इच्छानुसार वन-गमन करने या न करने से कौटुम्बिक व्यवस्था पर प्रभाव पडा होगा। किन्तु इन सब मतभेदों के होते हुए भी एक बात निश्चित है कि वन में प्रवेश करते ही विचार और कार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता हो जाती थी। कुछ समय तक वह अनेक धार्मिक क्रियाये सम्पन्न कर सकता था किन्तु अधिकांश क्रियायें मानसिक होती थीं। वह बलिदान क्रिया को उसी प्रकार मन मे दोहराते थे जैसे हम सङ्गीत की ध्वनि गुनगुनाते है। इस प्रकार कर्तव्य-पूर्ण हो जाता था। कुछ समय बाद यह भी समाप्त हो जाता था। वाणप्रस्थी अनेक प्रकार के तप भी करते थे किन्तु उनमें फल की आशा या स्वर्ग की अभिलाषा नहीं रहती थी। उस आश्रम मे मुख्य कार्य था आत्म निरीक्षण, अनन्त आत्मा और व्यक्ति के बीच सत्य सम्बन्ध की खोज और ज्ञान।

भारतीय इतिहास के जिज्ञासु के लिये अधिक महत्व पूर्ण प्रश्न वाणप्रस्थ जीवन के सम्बन्ध में हैं। इस समय उन पर अधिक विचार नहीं किया जा सकता है। ये दो बातों पर ध्यान देना है। पहिली यह है कि तीसरे आश्रम के बाद चौथा और अन्तिम आश्रम सन्यास था जब संसार से समग्र त्याग हो जाता था, वनों में अकेले भ्रमण करना पड़ता था और मृत्यु की गोद में शान्ति से सोने की तैयारी करना था। भिक्षु यति, परिव्राजक मुनि आदि नामों से सन्यासी का भेद करना कठिन है। प्रारम्भ में यह भेद था कि तीन आश्रमों के सदस्य परलोक के प्राप्ति की कामना करते थे (भय पुण्य लोक भाग) और सन्यासी सब कर्म छोड़कर केवल अमर आत्मा की प्राप्ति करते थे। (एको मृतत्वमाक ब्रम्ह सस्थ) वाणप्रस्थी परिषद के सदस्य बने रहते थे किन्तु सन्यासी संसार के किसी भी कार्य में रुचि नहीं रखते थे।

दूसरी बात यह है कि हम यह स्मरण रखना चाहिये कि तीसरे आश्रम, वाणप्रस्थ में जो भारत के प्राचीन साहित्य में बहुत महत्व रखता है, और जिसे बाद के समय में मनु के नियमों में भी स्वीकार किया गया है और महाकाव्यों में जिसका विशद वर्णन है, बाद को तोड़ दिया गया सम्भवतः इसलिये कि वाणप्रस्थ आश्रम के कारण बौद्ध धर्म को बहुत समर्थन प्राप्त होता था। किन्तु इन अनेक बातों में वाणप्रस्थ का विस्तार और स्वीकृति ही वह सकत हैं जो अन्त में संसार त्याग में परिणत होता था जिसकी स्वीकृति ब्राम्हणों के विधानों में था। ब्राम्हणों की पुरातन प्रणाली बहुत सरल थी जब तक लोगों को यह समझाया जा सका कि आश्रमों का प्रवेश क्रमशः और धीरे धीरे होना चाहिये और वन निवास के आनन्द और संसार त्याग को पहले से ही नहीं प्रारम्भ कर देना चाहिये। सर्व प्रथम ब्रम्हचर्य और गृहस्थ के कर्तव्यों का पूर्ण करना चाहिये। महाभारत के शान्ति पर्व अध्याय १७५ में एक पिता और पुत्र के संवाद में इसका विशद वर्णन है। पिता अपने पुत्र को पूर्वजों के मार्ग पर चलने का आदेश देता है। वेदाध्ययन ब्रम्हचर्य के नियमों का पालन गृहस्थ जीवन में प्रवेश, विवाह सन्तानोत्पत्ति वन्हिवेदी निर्माण, बलिदान वाणप्रस्थ जीवन और अन्त में मुनि या सन्यासी। यह क्रम था, जो धीरे धीरे और एक के बाद दूसरा होता था। पुत्र अपने पिता की आज्ञा नहीं मानता है और गृहस्थ जीवन, स्त्री, पुत्र बलिदान और सबको व्यर्थ बताता है। वह कहता है 'ग्राम निवास का आनन्द तो मृत्यु के मुख में खेलना है। वन में देवताओं का निवास है, शास्त्र यही कहते हैं। ग्राम निवास का बन्धन पुण्यात्मा दते हैं और मुक्त हो जाते हैं। पापी उसमें बंधे रहते हैं। ब्राह्मण के लिये साम्य, सत्य, पुण्य, शुचि, दया, सत्याचरण और कर्म त्याग से बढ़कर नहीं है—ब्राम्हण ! जब तुम्हें एक दिन मृत्यु के मुख में जाना है

क्या किया गया ? उन माताओं को याद करो जो हृदय में छिपा है तुम्हारे पिता और पितामह कहाँ चले गए ?

यह भी हो काल्पनिक काव्यमय और भावुकता पूर्ण जान पड़े किन्तु यह निश्चय ही प्राचीन भारत के वन्य जीवन की झलक देता है। भारत के पुरातन इतिहास में यह वन जीवन केवल कल्पना की उड़ान नहीं था यह हमें प्राचीन भारतीय साहित्य ही नहीं बतलाता बल्कि विद्वान भी यही कहते हैं। उनके लिये यह आवश्यक सी बात थी कि नगरों के व्यस्त जीवन के साथ ही वनों में आश्रम थे जिनमें ऋषि गण साधना करते थे।

हमारे लिये वन-जीवन रुचिकर है, मुख्यतया इसलिये कि मनुष्य के पृथ्वी पर अस्तित्व को यह नई भावना देता है। निस्सन्देह ईसाइयों के सन्तों के चौथी शताब्दी के जीवन से इसमें मुख्य बातों में समानता है। इतना ही अन्तर है कि भारतीय ऋषि मुनि मानसिक बौद्धिक और शारीरिक रूप से भी अधिक स्वतन्त्रता के वातावरण में रहते थे। ईसाइयों सन्तों ने जो गुफायें और स्थान चुने थे उनसे वन आश्रम अधिक सुन्दर और एकान्त थे। *क्या बुद्ध भिक्षुओं और यात्रियों से ईसाई साधुओं ने संसार* त्याग और मरुस्थल निवास की भावना ग्रहण की ? बौद्ध स्वयं ब्राह्मण ऋषियों का अनुकरण कर चुके थे। अनेक धार्मिक क्रियायें और संस्कार बौद्ध और ईसाइयों के सन्तों के मिलते जुलते हैं *(माला, भिक्षुणी, ब्रह्मचर्य आदि)* ये एक ही समय में एक समान कैसे हो गये ? इन प्रश्नों का समाधानकारी उत्तर अब भी नहीं दिया जा सकता है। किन्तु ईसाई सन्तों के अतिरिक्त भारतीय ही इतने सभ्य हुये हैं जिन्होंने इसकी अनुभूति की थी कि मनुष्य के जीवन में ऐसा समय आता है जब उसे छोटी अवस्था वालों के लिये स्थान खाली कर देना चाहिये और जीवन के अस्तित्व और उसके बाद की समस्याओं पर एकान्त में बिना किसी बाधा के विचार करना चाहिये मृत्यु-वरण की तैयारी करना चाहिये। *जीवन के इस दर्शन को भली भाँति हृदयङ्गम करने के लिये* यह आवश्यक है कि हम यह न भूलें कि हम भारतवर्ष की बात कर रहे हैं, यूरोप की नहीं। भारत में जीवन का संघर्ष बहुत सरल था। अधिक परिश्रम के बिना ही धरती भरपूर वह सब कुछ देती थी जिसकी आवश्यकता थी और जलवायु इतना सुन्दर था *कि वन जीवन कष्ट कर न होकर आनन्द प्रद होता था।* आर्य लोगों ने वनों को जो अनेक नाम दिये थे उनका अर्थ ही था आनन्द, शान्ति। जब योरोप में वृद्ध लोगों को संघर्ष-रत रहना पड़ता था और समाज में अपना स्थान बनाये रखना पड़ता था—वह समाज पथ प्रदर्शन और संशोधन करता था—तब भारतवर्ष में वृद्ध जन प्रसन्नता पूर्वक नवयुवकों के लिये स्थान खाली कर देते थे जब वे स्वयं पिता हो जाते थे। अपना जीवन शान्ति और आनन्द से एकान्त में बिताते थे।

वन जीवन

हमें इसकी कल्पना भी नहीं करनी चाहिये कि वे प्राचीन आर्य हमसे कम बुद्धिमान थे। वे हमारी तरह जानते थे कि मनुष्य भले ही वन म निवास करे किन्तु उसके अन्तर्मन मे कामनायें और वासनायें रह सक्ती हैं।

व यह भी जानते थे कि मनुष्य अत्यन्त व्यस्त जीवन म भी अपनी हृदय की गुफा म एकान्त प्राप्त कर सकता है जहा वह नितान्त अकेला हो और अपने लिये बिलकुल निश्छल हो, अपने को भली भाँति जानता हो।

याज्ञवल्क्य के नियमो म (३, ६५) हम पाते हैं "एकान्त या वनवास पुण्य का कारण नही है। पुण्य और गुण आचरण से प्रकट होते हैं। इसलिये किसी भी मनुष्य के प्रति ऐसा आचरण नहीं करना चाहिये जो स्वय को दुखदायी हो।" मनु (६, ६६) के भी ऐसे ही विचार हैं।

"सब प्राणियो के प्रति समान दृष्टि, से प्रत्येक स्थान और अवसर पर, अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिये—चाहे वाह्य रूप (किसी आश्रम आदि का) कुछ भी हो। किसी आश्रम का केवल होना ही कर्त्तव्य पालन नहीं है।"

महाभारत मे यही विचार बारम्बर आये हैं 'हे भारत! आत्म जयी के लिये बन की क्या आवश्यकता है और वन-आश्रम से अव्यवस्थित अशान्त आत्मा को क्या प्राप्ति होगी? जहाँ भी आत्म-सयमी निवास करता है वहीं तपोवन है वही शान्ति निकेतन है।'

एक ऋषि, घर म रहकर और सुन्दर वस्त्र पहिन कर भी, यदि शुद्ध आचरण करता है, प्रेम करता है तो सम्पूर्ण पापो से मुक्त हो जाता है।

'यदि हृदय शुद्ध नही है तो तीनो आश्रमो म रहना, मौन रहना, जटाजूट बढ़ाना, या मुडन करवाना, मृगचर्म धारण करना, बलि पूजा करना, अग्नि होत्र करना, वन म रहना और शरीर को कष्ट देना सब कुछ व्यर्थ है।

एसे विचार अधिक व्यापक होते गये और इनसे ही कुछ समय बाद बौद्ध धर्म की विजय हुई। उनमे समस्त वाह्य आचरण और धर्म चिह्न महत्व ही मान गये थे। हम धम्मपद में पढ़ते हैं। (१४१, १४२)

"मरणशील प्राणी को, जिसने वासनाओ पर विजय नहीं पायी है नग्न रहना, जटाजूट बाधना, धूलि लपेटना, व्रत, भूमि शयन, मौन बैठना आदि पवित्र नहीं बना सकते।

"जो सुन्दर वस्त्र पहिन कर भी सौम्यावस्था म रहता है, शान्त, इन्द्रिय-जित, पवित्र, पर छिद्रान्वेषण-त्यागी है वह वास्तव म ब्राह्मण, श्रमण या भिक्षु है।

ये सब विचार भारतीय विचारको के मन म उठे थे जैसे हमारे मन मे उठते हैं। इन विचारो की अभिव्यक्ति बडी रोचक शैली म धार्मिक और महाकाव्य म हुई है। मैं महाभारत से जनक और सुलभा का वार्तालाप उद्धृत कर रहा हूँ।

सुलभा, एक सुन्दर नारी के रूप म जनक पर आरोप लगाती है कि वह अपने साथ प्रवचना कर रह हैं यदि वह यह कल्पना करत हैं कि एक ही समय मे वह राजा भी रह सक्ते हैं और ऋषि भी। ससार मे रहकर ससार स विलग रह सकत हैं। जनक वही राजा है जो विदेह क थ और जिनके सम्बन्ध म यह कहा जाता है कि उनका दावा था कि यदि उनकी राजधानी भी जलती हो तब भा उनकी सम्पत्ति (दैवी सपदा) नहीं जलेगी।

फिर भी प्राचीन ब्राह्मणो का यह पक्का विश्वास था कि पहिले और दूसरे आश्रमो मे रहने के बाद पचास की अवस्था होने पर, जिसे हम सब अतृप्त कार्य प्रेम के कारण मानव जीवन की सर्वोतम अवस्था मानते हैं, विश्रान्ति का अधिकार था। समय के पहिले ही अन्तमनन आवश्यक था, आत्म विवेचन (पिछला) अनिवार्य था और आगे का (परलोक, आत्मा, ब्रह्म) ध्यान लक्ष्य था।

यहाँ इस पर विवाद करना निरर्थक होगा कि इस प्रणाली स वास्तविक प्रगति, सभ्यता, मानव जीवन के परमोच्च लक्ष्य की प्राप्ति होती थी या रुकती थी। जो हम विचित्र लगता है उसकी नि दा करना हम छोड दे और जो कुछ भी हमे अपने से मिलता जुलता है उसकी भी प्रशसा हम न करे। हमारे विधायको ने और वृद्ध वर्ग ने महत्वपूर्ण सेवाये की हैं किन्तु उनके अधिकार और प्रभाव का उपयोग इतिहास म अनेक बार नवयुवको की उदार और प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ को रोकने मे हुआ है। इस कहावत मे सत्य हो सकता है कि नवयुवक वृद्ध वग को मूख समझते हैं और वृद्ध भी उनको वही समझत हैं। किन्तु क्या इसी के साथ यह भी सत्य नहीं है कि राजा और चच के अनेक अधिकारियो ने जिस मात्रा म उनकी बुद्धि की पुखरता और तज तथा भावनाओ को नूतनता कम होती गयी है उसी मात्रा म अपने प्रभाव और अधिकार भल कर्मों की अपेक्षा बुरे कर्मों म अधिक लगाये हैं।

और हम यह स्मरण रखना चाहिये कि वन निवास कोई अनिवार्य दड नहीं था। इस गौरव पूर्ण सुविधा क रूप म वर्णन माना जाता था। जिसने ब्रह्मचर्य और और गृहस्थ आश्रम क कत्तव्य पूरे किय थ उसीको वाणप्रस्थ आश्रम म जाने की अनुमति मिलती थी। प्रथम अनुशासन आवश्यक माना जाता था जिसस मनुष्य क हृदय की उद्दाम वासनाओ का दमन किया जा सक। इस पूर्व दीक्षा काल म—मनुष्य जीवन क सर्वोत्तम भाग म—स्वतन्त्रता विचार और कर्म की, बहुत ही कमी थी।

ब्रह्मचारी विद्यार्थी को जमा बताया जाता था उसी पर उस विश्वास करना पड़ता था उसा प्रकार उपासना करनी पडती थी, बलिदान करने पडत थ। वद उनक पवित्र ग्रन्थ थे, उनका अपौरुषेय और अवतरित होने की धारणा पक्की कर दी जाती था। भारत क अतिरिक्त दूसर किसी देश म धर्माधिकारियो ने इस धारणा की रक्षा इस प्रकार नहीं की है।

वाणप्रस्थ आश्रम मे प्रवश करत ही य सब बन्धन टूट जात थ । कुछ समय तक वाह्य पूजा आदि की जा सकती थी, प्रार्थना, वेद पाठ किया जा सकता था किन्तु मुख्य उद्देश्य होता था अनन्त आत्मा का विचार, एकाग्र ध्यान, जैसा उपनिषदो मे लिखा है। जितना ही अधिक वह इन विचारो मे लीन हो जाता था, अपना सर्वस्व त्याग देता था, अहं की भावना पूर्ण रूप से छोड देता था और समस्त क्षण भगुर पदार्थों से हाथ खीच लेता था उतनी ही शीघ्रता से कर्म के बन्धन टूट जाते थ। परम्परा, जाति और धर्म के वाह्य चिह्न छूट जात थे। इस अवस्था म वेद भी कम ज्ञान पूर्ण हो जाते थ बलिदान बाधक माने जात थे। पुराने देवता अग्नि इन्द्र मित्र वरुण, विश्वकर्मा, प्रजापति सब केवल नाम मात्र को रह जाते थे। केवल आत्मा उद्देश्य और ब्रह्म विधेय रह जाता था। सर्वोच्च ज्ञान 'तत् त्वम्' से प्रकट होता था। तुम वह हो, तुम्हारी आत्मा, सत्य स्वरूप तुमसे भिन्न नही है, कुछ समय के लिये जो तुम्हारा था वह समाप्त हो गया। समस्त सृष्टि एक स्वप्न की भाँति समाप्त हो गयी। आत्मा ही ब्रह्म है जो तुम्हारे भीतर है। कुछ समय के लिये तुम उससे अलग थे, जीवन मरण के बन्धन म थे। उनसे मुक्ति पाकर तुम पुन ब्रह्म म लीन हो गये, पुन अपने स्थान को लौट आये।

भाषण ७ की समाप्ति

अब उस दीर्घ यात्रा की समाप्ति है जो अनन्त की खोज म की गयी थी। पर्वतो और सरिताओ मे उसे छिपा हुआ देखा गया था, सूर्य और आकाश मे निस्सीम उषा की विभा मे, विश्वकर्मा म, प्रजापति के रूप मे, और सब प्राणियो के पिता के रूप म जिसे देखा गया था उस अन्त मे सर्वोच्च और पवित्रतम रूप म देखा गया जहाँ तक भारतीय विचार जा सकता था।

क्या हम उसकी परिभाषा कर सकते हैं? या उसकी धारणा कर सकते हैं? नही, उनका कहना था 'नेति नेति' वह यह नही है।

वह भी नही है वह सृष्टा नही है, पिता नही है, सूर्य और आकाश नही है और न पर्वत या सरिता है। जिन नामो से हमने उसे पुकारा है वे नही है। हम उसका नाम करण नही कर सकते, उसका विचार नही कर सकते। हम केवल उसकी अनुभूति कर सकते हैं। हम उसे जान नही सकते हैं किन्तु समझ सकते हैं। एक बार जब हम उसे पा जाते हैं तब वह हमसे दूर नही है और न हम उससे दूर हैं। हम स्वतन्त्र हो जाते हैं विश्रान्ति पाते हैं और धन्य हो जाते हैं। मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व वे शान्ति से प्रतीक्षा करते थे। वृद्धावस्था बढ़ाने के लिये वे कुछ भी नही करते थ किन्तु स्वयं अपने जीवन का नाश कर देना वे पाप समझते थ। पृथ्वी पर वे उस जीवन की

प्राप्ति कर लेते थे जिसे अनन्त कहा जाता है और उनका दृढ़ विश्वास हो जाता था कि नवीन जन्म या मृत्यु उन्हें उस अनन्त से कभी विलग नही कर सकती है। जिस ब्रह्म, अनन्त, अखण्ड को उन्होने प्राप्त किया था या जिसने उनका वरण किया था।

फिर भी वे अपनी आत्मा के विनाश मे विश्वास नही रखते थे। उस वार्तालाप का स्मरण कीजिये जो इन्द्र का था जिसमे वे आत्मज्ञान की प्रतीक्षा शान्ति से कर रहे हैं पहिले वह आत्मा को जल की छाया मे देखते है, फिर आत्मा मे स्वप्न म, फिर गहन निद्रा म (सुषुप्ति) देखत हैं फिर भी असन्तुष्ट होकर कहत हैं नही, यह नही हो सकता है क्योकि सोने वाला स्वय को नही जानता है कि मैं हूँ। और न उसके सम्बन्ध मे कुछ भी जानता है जिसका अस्तित्व है। उसका सम्पूर्ण विलय हो जाता है। मैं इसमे कोई अच्छी बात नही देखता हूँ।

किन्तु उनके गुरु का उत्तर क्या है ? 'यह शरीर नश्वर है" गुरु कहते हैं यह सदैव मृत्युग्रसित है किन्तु यह आत्मा का निवास है और आत्मा अमर है। शरीर का मान रहने पर ही दुख सुख की अनुभूति होती है। जब तक शरीर का बन्धन है तब तक दुख सुख स मुक्ति नही मिल सकती है। जब आत्मा शरीर से असम्बद्ध हो जाता है जब वह शरीर से अपने को पृथक कर लेता है तब दुख-सुख स्पर्श नही कर सकते हैं।

यह आत्मा, प्रशान्त आत्मा, महानतम सत्ता कभी नष्ट नही होती है। वह पुन अपना रूप प्राप्त कर लेती है। आनन्द भी प्राप्त करती है, हसती है, खेलती है किन्तु केवल एक द्रष्टा के रूप म। वह जन्म के शरीर का कभी स्मरण नही करती है।

वह चक्षु की आत्मा है, चक्षु केवल एक मन्त्र मात्र है। जो यह जानता है कि मैं यह कहूँगा, मैं यह सुनूँगा। मैं यह सोचूँगा, वह आत्मा है। जिह्वा कान और मस्तिष्क उसके मन्त्र हैं। मस्तिष्क उसकी देवी चक्षु है उस दिव्य चक्षु से आत्मा समस्त सुन्दरता को देखता है और प्रसन्न होता है। यहाँ भी हम यही पाते हैं कि विलय उच्चतम लक्ष्य नही था जिसके लिये भारत के वन आश्रमवासी अपना धर्म और दर्शन प्रस्तुत करते थे। सत्य आत्मा बनी रहती थी। स्वय शान्त होने पर भी उसकी सत्ता रहती थी। बाहर से जो हम जान पड़ते थे उस सत्ता की समाप्ति हो जाती थी। हम यह हो जाते थे जो अपने को जानते थे स्वय प्रभा प्राप्त कर। यदि किसी राजा का पुत्र बाहर हो जाता है उसका लालन-पालन एक अछूत की भाँति होता है तो जब उसे कोई मित्र बता देता है कि वह कौन है तब वह अपने को जान लेता है और राजकुमार हो जाता है। अपने पिता का सिंहासन प्राप्त करता है। यही बात हम लोगों के साथ है। जब तक हम आत्मा को नहीं जानते हैं अपने ही स्वरूप को नहीं पहिचानते हैं तब तक जो हम दिखाई पड़ते हैं वह है। किन्तु जब कोई मित्र आकर बताता है कि हम वास्तव म क्या हैं तब हम बदल जाते हैं निमिष मात्र म ही विशाल परिवर्तन हो जाता है। हम अपने मूल्य को प्राप्त कर लेते हैं, हम आत्म ज्ञानी हो जाते हैं। आत्म-

स्वरूप हो जाते हैं जैस राजकुमार न अपने पिता को जान लिया और सम्राट हो गया।

धार्मिक विचार की श्रेणियाँ

हमने एक धर्म को एक चरण से दूसरे चरण तक बढते देखा है। सीधी सरल बालोपम प्रार्थनाओ से उच्चतम आध्यात्मिक सूक्ष्मताए विकसित हुई हैं। वेद के अनेक मन्त्रो म हम बालोपम सरलता पाते है, ब्राह्मण ग्रथो म, बलिदान म गृहस्थ जीवन मे और नतिक आदर्शों मे हम कर्तृत्वपूर्ण तरुणता पाते हैं। और उपनिषदो मे वैदिक धर्म की परिपक्व वृद्धावस्था पात हैं। हम इस भली-भाँति समझ सकते यदि भारतीय मस्तिष्क के एतिहासिक विकास मे वे अपनी प्रारम्भ की सरल और बालोपम स्तुतियाँ छोड देते जब उन्होंने ब्राह्मण ग्रथो की तरुणता प्राप्त कर ली थी और जब बलिदानो की व्यर्थता और अनेक देवताओ का वास्तविक रूप जान लिया था तब उनको भी छोड देत और केवल उपनिषदो के उदात्त धम का पालन करत। किन्तु ऐसा नही था। भारतवष मे प्रत्येक धार्मिक विचार जो कभी प्रकट हुआ था और जो पवित्र उत्तराधिकार के रूप मे मिला था सुरक्षित रक्खा गया था। और भारतीय ऋत के तीनों ऐतिहासिक कालो के विचार बालपन, युवावस्था और वृद्धावस्था स्थायी रूप से प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के अङ्ग बन गये थ।

हम इसी प्रकार इसे स्पष्ट करत हैं। वेद के वही पवित्र मन्त्र, सहिता और ग्रथ हैं किन्तु उनमे धार्मिक विचारो की विभिन्न श्रेणियो का उल्लेख ही नही है अपितु ऐस सिद्धान्त भी हैं जो एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। वद की सरल स्तुतियो मे जो देवता हैं वे बडी कठिनता से देवता कहे जा सकते हैं। जब प्रजापति, जीवित प्राणियो क एक मात्र स्वामी मान गये और ब्राह्मण ग्रथो मे प्रमुखता से उनका प्रवेश हुआ और सब देवता अन्त म समाप्त हो गये जब उपनिषदो म ब्रह्म को अखिल विश्व का कारण बताया गया और आत्मा को अनन्त आत्मा, ब्रह्म की एक ज्योति माना गया।

सैकडा नही हजारो वष से यह प्राचीन धर्म अपना स्थान दृढता से बनाये है यदि कभी यह लुप्त भी हुआ तो कुछ समय बाद ही इसने अपना स्थान पुन प्राप्त कर लिया। इसने काल और ऋतुओ के अनुसार अपने को स्थिर किया है इसम अनेक विचित्र और असगत तत्वो को ले लिया है। किन्तु आज भी ऐसे ब्राह्मण परिवार हैं जो श्रुति के अनुसार अपना जीवन निर्धारित करते हैं वेद के अवतरित मन्त्रो म आस्था रखते हैं और स्मृतियो के नियम भी मानते हैं।

अब भी एसे ब्राह्मण परिवार है जिनमे पुत्र अपने पिता से प्राचीन मन्त्रो को प्राप्त करता है, उन्हे कण्ठस्थ करता है और पिता प्रतिदिन अपन धार्मिक कृत्य और बलिदान सम्पन्न करता है। पिता यह ग्राम मे ही रहकर इन कृत्यो को व्यर्थ समझता है वैदिक देवताओ मे भी, उनके नामो मे उसे देखता है जिसे नाम दिया जा सकता है

और सर्वोच्च ज्ञान म ही शान्ति खोजता है। यही उसका धर्म हो गया है जिसे वेदान्त कहते हैं समस्त वेदो की इति, सम्पूर्णता, अन्त।

ये तीनो पीढ़ियाँ शान्ति से एक साथ रहना जानती हैं। पितामह यद्यपि जाग्रत और प्रबुद्ध है फिर भी अपने पुत्र या या प्रपुत्र को हेय दृष्टि से नही देखते हैं। उनपर धूर्तता का आरोप तो कभी नही लगाते। व जानते हैं कि उनको मुक्ति किसी दिन अवश्य आयेगा और इसके लिये वे शीघ्रता नही करते। और पुत्र भी, अपने सिद्धान्तो म श्रद्धा और विश्वास दृढ़ रखने पर भी और प्राचीन धार्मिक कृत्यो को भली भाँति सम्पन्न करते हुये अपने पिता को निष्ठुरता म नही देखता है। उनके साथ सद् व्यवहार करता है। वह जानता है कि उन्होने सकीर्ण और सूक्ष्म पथ की यात्रा की है। वह उनकी स्वतन्त्रता मे बाधा नही डालता है और उनके विस्तृत विचारो के विस्तृत क्षितिज की ओर बढने देता है।

क्या यहाँ पर हमे एक उत्तम उदाहरण नही मिलता है जो काय के ऐतिहासिक अध्ययन स प्राप्त होता है?

✓ जब हम यह देखते हैं कि भारत मे अत्यन्त प्राचीन काल मे जो अग्नि के उपासक थे वे इन्द्र के उपासको के साथ ही रहते थे प्रजापति को मानने वाल छोटे देवताओ को मानने वालो की और उनको बलि देने वालो को हेय नही समझते थे, जब हम यह देखते हैं कि जिनको यह ज्ञान हो गया था कि अनेक देवताओ के नाम एक ही सत्ता को सूचित करते हैं वे उनको शाप नही देते थे जो उन देवताओ को फिर भी मानते थे और न उन देवताओ की बलिवेदियो को तोडते थे, तब क्या हम उन प्राचीन वैदिक भारतीयो से कुछ सीख ले सकते हैं? हम अनेक बातो मे अधिक बुद्धिमान भले ही हो गये हो, या अधिक प्रबुद्ध हो गये हो उनकी अपेक्षा। फिर भी उनकी सहिष्णुता, सहगमन, विभिन्न विचारो का एक साथ निर्वाह वास्तव मे प्रशसनीय है।

मेरा यह उद्देश्य नही है कि हम ब्राह्मणो का अन्धानुसरण करे। हम पुन चार आश्रमो की व्यवस्था चलावें और धार्मिक श्रद्धा को उसी प्रकार स्थापित करें। हमारा आधुनिक जीवन यह कठोर अनुशासन स्वीकार नही करेगा। कोई भी कुछ समय के लिये केवल सस्कारवादी नही होना चाहेगा और फिर सच्चा विश्वासी। हमारी शिक्षा उस प्रकार से एक समान और सार्वभौम नही रही जैसी भारत म थी और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सिद्धान्त, जो आधुनिक समाज के गौरव की वस्तु है उस तरह के धार्मिक विधान को जैसा प्राचीन भारत के विधायको ने स्वीकार किया था, स्वीकार करें यह असम्भव है। भारत मे ही हम केवल यही जानते हैं कि ऐसे नियम थे। हम यह नही जानते कि उनका पालन कैसे होता था। इतना ही नही, भारत का इतिहास हमे बताता है कि पुराने ब्राह्मणो के नियमो की कठोर बेड़ियाँ अन्त में तोड़ दी गयी थी, इसमे किसी को सन्देह नही हो सकता और हमे यह मानना पड़ेगा कि स्वत-

त्रता के अधिकारों का वरदान बौद्धधर्म ने दिया। उन्होंने विशेषत, समाज के बंधनों को तोड़ने का अधिकार घोषित किया और जब भी मुक्ति की अभिलाषा उत्पन्न हो उसी समय वन गमन का अधिकार और पूर्ण आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के जीवन का अधिकार माना। बुद्ध धर्म के अनुयाइयों के विरुद्ध प्रमुख आरोप पुरातन विचार वान ब्राह्मण यह लगाते थे कि वे जब चाहते थे नियमों के बंधन तोड़ देते थे। पुराने नियमों के अनुसार पूर्व अनुशासन के लिये, अन्य आश्रमों को व्यर्थ समझते थे, धार्मिक क्रियायें बन्द करवाते थे और पुरातन प्रणाली तोड़ते थे।

किन्तु हम भारत के प्राचीन आर्यों के आदर्श जीवन का अन्धानुसरण चाहे न करें—आधुनिक जीवन की परिस्थितियाँ हमें वन निवास नहीं करने देंगी—फिर भी जब हम इस व्यस्त जीवन से थक जाय, जिस जीवन में कमरत रहना गौरवास्पद है, तब हम भारत के प्राचीन वाणप्रस्थियों से एक पाठ सीख सकते हैं। वह पाठ कठोर तटस्थता का पाठ नहीं है। वह व्यावहारिकता का पाठ है। उसमें होकर भी उससे ऊपर जो जीवन हम घर और बाजार में घेरे हैं, सहिष्णुता का पाठ, मानव सहानुभूति का पाठ, दया का पाठ, प्रेम का पाठ। प्रेम के पवित्र शब्द का अर्थ हम शायद ही पूरी तरह समझ पायें। वह अज्ञात है और गूढ़ भी है। वन में निवास न करके, समूह में रहने पर भी अपने पड़ोसी से मतभेद रखने पर राजी हो जाय, धार्मिक विश्वासों के कारण जो हमसे घृणा करते हैं उनको प्यार करें और प्रत्येक दशा में उनको दण्ड देना बन्द कर दें जिनके विश्वास नैतिक आदर्श, भय और आशा में हमसे भिन्न हैं। यह जीवन भी वन निवास के तुल्य है, वाणप्रस्थी ऋषि के समान है जो यह जानता है कि मनुष्य क्या है, जीवन क्या है और जिसने अनन्त और शाश्वत के सम्मुख मौन रहना सीख लिया है।

निस्सन्देह मस्तिष्क की ऐसी अवस्था को दुर्नाम देना बहुत ही सरल है कुछ लोग इसे छिछला तटस्थता कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे बेईमानी कहते हैं कि विभिन्न आश्रमों का अन्तर, जीवन के विभिन्न वर्गों का अन्तर एवं बालपन, युवावस्था और वृद्धावस्था का अन्तर सहन किया जाय। इसके भी आगे समाज के शिक्षित और अशिक्षित वर्ग का अन्तर है।

किन्तु हम उन वास्तविक तथ्यों पर विचार करें जो हमारे चतुर्दिक और भीतर हैं, जैसे वे आज हैं और जैसे वे सदैव रहेंगे। क्या बिशप बर्कले या न्यूटन का भी धर्म वही है जो एक किसान के बेटे का? कुछ बातों में से शेष बातों में नहीं है। निश्चय ही मैथ्यू आरनाल्ड की दलीलें व्यर्थ जातीं, यदि लोग विशेषत इङ्गलैण्ड में यह न सीख पाते कि संस्कृति का बहुत कुछ सम्बन्ध धर्म से है धर्म के तत्व और धर्म के प्राण, सारांश से संस्कृति का सम्बन्ध है। बिशप बरकले ने एक ही स्थान पर अशिक्षित कृषक पुत्र के साथ उपासना करने के लिये इंकार न किया होता किन्तु ईश्वर, पिता ईश्वर की छाया

आदि शूद्रो के विचार उस महान दार्शनिक के, कृषक पुत्र के विचारो से निश्चय ही भिन्न होते ।

और हमे केवल दूसरो के सम्बन्ध मे ही नही सोचना चाहिये, अपने सम्बन्ध मे भी विचार करना चाहिये । समाज के ही विभिन्न स्तरो की नही वरन् अपनी जीवन-यात्रा के विभिन्न स्थलो की बात सोचना चाहिये जो बालकपन से वृद्धावस्था तक पूर्ण हुई है । कौन कह सकता है, यदि वह अपने प्रति ईमानदार है, कि उसकी तरुणावस्था का धर्म वही था जो बाल्य काल मे था, या वृद्धावस्था का वही है जो तरुण रहने पर था । अपने को धोखा देना सरल है और यह कह देना और भी सरल है कि सच्चा विश्वास निश्छल बाल्यकाल का विश्वास है । किन्तु इसे सीखने के पहिले हम एक और पाठ सीख लेना चाहिये बाल्यकाल की बातो को (चपलता, असम्बद्ध व्यवहार और शरारत) छोड देना चाहिये । सूर्यास्त के समय जो आभा सूर्य की होती है वह सूर्योदय के समय भी होती है किन्तु उसमे बहुत अन्तर है—सम्पूर्ण आकाश मे और समस्त पृथ्वी पर सूर्य की यात्रा हो चुकी होती है ।

इसलिये प्रश्न यह नही है कि क्या धर्म के विभिन्न स्वरूप हैं, उनमे अन्तर है, उनमे अन्तर है, जीवन के प्रत्येक काल मे ? प्रश्न यह है कि क्या हमे यह तथ्य स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेना चाहिये जैसा कि प्राचीन ब्राह्मणो ने मान लिया था और अपना कर्त्तव्य निर्धारित कर लेना चाहिये उनके प्रति जो धर्म के वही शब्द प्रयोग करते हैं जो हम करते हैं यद्यपि उनके अर्थ विभिन्न और अनेक होते हैं और उनके प्रति भी जो उस तरह के शब्द भी प्रयोग नही करते हैं ?

किन्तु फिर यह प्रश्न किया जाता है कि क्या यह तटस्थता है कि हम वही शब्द प्रयोग करें या न करें, हम दैवी सत्ता के लिये एक नाम का प्रयोग करें अथवा अनेक का ? अग्नि उतना ही अच्छा नाम है जितना प्रजापति ? बाल उतना ही अच्छा है जितना कि जिहोवा या ओरमज्द उतना ही अच्छा है जितना कि अल्लाह । हम कितने ही अज्ञानी क्यो न हो और परमसत्ता के वास्तविक विशेषण भले ही न जानते हो फिर भी क्या ऐसे नाम और विशेषण नही हैं जिनको हम जानते हैं कि नितान्त असत्य है ? हम भले ही असहाय हो और यह न जानते हो कि भगवान की उपासना सच्चे रूप मे और भली भाँति कैसे करना चाहिये फिर भी पूजा के अनेक रूप क्या ऐसे नही हैं जिनको हम जानते हैं कि अवश्य त्याग देना चाहिये ?

इन प्रश्नो के कुछ उत्तर ऐसे हैं जिनको प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार कर लेगा । फिर भी हो सकता है कि पूर्ण अर्थ और महत्व प्रत्येक व्यक्ति न समझे ।

एक परम सत्य, अनेक मे से एक, मैं समझता हूँ यह है कि भगवान किसी व्यक्ति या व्यक्तियो को विशेष आदर नही देता है (सबको समान समझता है, निष्ठुर होकर बडे से बडे को दड देता है, निष्पक्ष है, न्याय के आसन पर विराजमान होकर

दृढ़ और ठीक न्याय करता है) किन्तु प्रत्येक राष्ट्र म वह ऐस लोगा को स्वीकार करता है जो उससे भय खात हैं (भगवान हैं यह समझ कर पाप नही करते हैं, लोकचक्षु से सब देखते हैं) और पुण्य कर्म करते हैं (ऐक्ट १०, ३४, ३५)।"

"प्रत्येक व्यक्ति, जो कहता है भगवान, भगवान (केवल नाम रखा है) स्वग साम्राज्य मे प्रवेश नही पा जायगा। वह व्यक्ति जो परम पिता की इच्छा पूरी करता है वह पिता जो स्वग मे है, वह स्वग म प्रवेश पाता है। (सेंट मैथ्यू ७, २१)।"

यदि ये उदाहरण और प्रमाण पर्याप्त नही हैं तो हम एक उपमा का प्रयाग कर ल, जव दवीतत्व पर घटित की जा सक्ती है, उत्तम है और हम तथा दूसरो को अनेक कठिनाइयो के समाधान मे इससे सहायता मिलो है। हम पिता के रूप म भगवान की कल्पना करे, मानव मात्र को उसक पुत्र समझे।

क्या पिता कभी इसकी परवाह करता है कि उसका पुत्र कैसे विचित्र नामो स उसे पुकारता है ? ऐसे शब्द कहता है (प्रारम्भ मे) जिनका शायद ही कुछ अर्थ हाता हो, दूसरा शायद ही उनको समझ सके। पिता पुत्र की वाणी प्रथम बार सुनता है, जो उसे किसी प्रकार पुकारने की चष्टा मात्र है, नाम और शब्द कुछ भी हो। क्या बच्चे की तुतली बोली, जब यह मालूम हो जाता है कि वह हमारे लिये है, परम हृष से नही सुनी जाती है ? उस तुतली बोली से बढकर आदरास्पद या गौरवपूर्ण क्या कोई शब्द हो सक्ता है जिसे हम सुनना चाहते हैं ?

और एक बच्चा यदि एक नाम से (पिता को) पुकारता है और दूसरा बच्चा दूसरे नाम स तो क्या हम उनकी निन्दा करते हैं ? क्या हम एक रूपता पर उस समय जोर दत हैं ? क्या हम इसम आनन्द नहीं पात हैं कि प्रत्येक बच्चा अपनी तुतली बोली मे विचित्र और विभिन्न रूप से हमे पुकारे ?

नामो क सम्बन्ध मे इतना कहा गया। अब विचारो की बात है। जब बच्चे साचना प्रारम्भ करते हैं माता पिता के सम्बन्ध मे अपने विचार बनाने लगते हैं और अगर उनका यह विश्वास होता है कि उनके माता पिता सब कुछ कर सक्ते हैं, उनको सब कुछ दे सकत हैं आकाश के तारे भी उपस्थित कर सकत हैं, उनके दद दूर कर सक्ते हैं और उनकी सब शरारते क्षमा कर सक्ते हैं तब क्या पिता इसकी परवाह करता है ? क्या वह सदैव उनको सुधारता रहता है ? क्या पिता क्राध करता है जब बच्चे उसको बडा कठार मानत हैं ? क्या माता अप्रसन्न होता है जब बच्चा उसे अधिक दयालु मानता है ? माँ को शरारत सहन वाली और अपने ही समान (बच्चा की तरह) मानता है। यह सत्य है कि छोटे बच्चे अपने माता पिता का आशय नही समझ सक्ते और न उनके उद्देश्यो की प्रशसा कर सक्त हैं किन्तु जब तक वे माता पिता का प्रेम करते हैं, उन पर विश्वास करत हैं, अपने भोले भाल रूप मे, तब तक इसस अधिक और क्या चाहिये ?

और पूजा के सम्बन्धी कार्यों के सम्बन्ध में यह कहना है कि अनन्त को प्रसन्न करने के लिये बैल का बलिदान निस्सन्देह घृणास्पद है किन्तु वह हमें चाहे जैसा लगे फिर भी कौन माता ऐसी है जो एक मीठा किन्तु जूठा कौर जो पुत्र अपने मुख से निकाल कर खिलाता है नहीं खायगी ? चाहे वह गन्दी उंगलियों से मुख से निकाला गया हो ? वह उसे भले ही न खाये फिर भी यह चाहेगी कि बच्चा समझ ले कि माँ ने खा लिया। और ये सब बहुत ही मधुर व्यवहार की बातें हैं मानवमन की लालायें हैं। इनकी मूर्खता में भी आनन्द है क्योंकि प्रेम का संसार है। हम बच्चों के गलत नाम विचार और कार्यों को बुरा नहीं मानते क्योंकि वे शुद्ध और सरल हृदय से निकलते हैं। हम बच्चों में जिस बात की परवाह करते हैं वह यह है कि वे ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका सम्यक् अर्थ वे नहीं जानते हैं ऐसी बातें करते हैं जिनका पूरा मतलब वे नहीं समझते हैं और एक दूसरे के प्रति भी कठोर बातें कहते हैं।

यह सब केवल एक उपमा मात्र है। दैवी सत्ता और हमारे बीच जो अन्तर है वह उससे कहीं अधिक बड़ा है जो बच्चे में और माता पिता में होता है। हम इसका अनुभव बहुत नहीं कर सकते किन्तु कुछ भी अनुभव करने के बाद, दैवी सत्ता के और अपने सम्बन्ध में और दूसरे जन्म की आशा में हम वह नहीं रहेंगे जो अभी हैं हम अपने प्रति इतने सच्चे न रहेंगे, बालक मनुष्य न रहेंगे मानव न रहेंगे। भले ही दैवी हो जाये।

हमें इसे सम्पूर्ण प्रकार से समझ लेना चाहिये कि दैवी सत्ता के प्रतिबिम्ब के लिये मानव प्रकृति बहुत ही अपूर्ण दर्पण है। किन्तु इस काल शीशे को तोड़ देने की अपेक्षा यह अधिक समुचित है कि हम उसे अच्छी तरह से जितना हो सके स्वच्छ रक्खें। वह शीशा अपूर्ण है किन्तु हमारे लिये वही पूर्ण है और उस पर विश्वास करके कुछ समय के लिये ही सही हम बहुत बड़ी भूल नहीं करेंगे।

और हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ तक हम सम्भावनाओं की बातें करते हैं यह पूर्णतः सम्भव है और पूर्ण रूप से धारणा के योग्य है कि ये उपमायें और तुलनायें जो हम अदृश्य और अज्ञात सत्ता के सम्बन्ध में बनाते हैं सत्य हों। यद्यपि मानवीय दुर्बलतायें और दृष्टि की सकीर्णता बाधक है। प्राचीन ब्राह्मणों का यह विश्वास था कि मनुष्य भविष्य की जैसी भी कल्पना करता है, पूर्ण या अपूर्ण, उसका हृदय जैसी धारणा करने की क्षमता रखता है वैसा ही होता है। वह उनकी समझ में उनके विश्वास के अनुसार था। वे यह समझते थे कि पार्थिव पदार्थों की कामना करने वालों को पार्थिव पदार्थ प्राप्त होते हैं। और जो अपने हृदयों को उच्चासन पर रखकर उच्च धारणायें करते हैं उनको उच्च ज्ञान प्राप्त होता है। उनका अपना उच्च संसार बनता है।

किन्तु यदि हम यह विचार मान लें कि उपमायें और तुलनायें, जो हम अदृश्य

और अनात सत्ता के लिये प्रयोग करते हैं और यह आशा, कि हम पुन मिलेंगे जैसे पृथ्वी पर मिले थे, ठीक इसी रूप म पूर्णत नहा होगी, फिर भी कौन सा तर्क हम यह विश्वास कराने क लिये दिया जा सकता है कि एक दुबल हृदय की कामना भी, उतनी पूर्ण नही होगी जितनी आकाक्षा है। विश्वास का अर्थ यह है कि जो होगा सर्वोत्तम होगा और यह सत्य है क्योंकि अनिवार्य विश्वास है। हम इसके अवशेष अनेक धर्मों मे पाते हैं। किन्तु मुझे सन्देह है कि ओल्ड एण्ड यू टस्टामेंट स अधिक साधारण शब्दो म और जोरदार भाषा म इस और वही प्रकट किया गया है—

'क्योंकि ससार के प्रारम्भ से मनुष्यो ने नही सुना है, न आँखो दखा है ऐ भगवान ! तुम्हारे अतिरिक्त, उसन उसके लिये क्या बनाया है जा उसकी प्रतीक्षा करता है। (ईसाह ४)

"किन्तु जैसा लिखा है, आख ने नही देखा है, कान ने नहा सुना है, किसी न भी मानव हृदय मे प्रवेश नही किया है! भगवान ने उनके लिये जो वस्तुयें बनायी हैं जो उसे प्रम करते हैं।"

हम जो चाहे करे। मनुष्य जो सबस बडी बात समझ सकता है वह है मनुष्य को समझने की। वह एक चरण आगे बढ कर कह सकता है कि आगे जो है वह विभिन्न है किन्तु वह वत्तमान स कम पूर्ण नहो हो सकता, भूत काल स भविष्य अधिक खराब नहा हो सकता। मनुष्य ने निराशावाद म विश्वास किया है, विकासवाद मे उतना विश्वास नही किया है, उसका उपहास किया है। विकासवाद यदि हम कुछ सिखाता है तो वह है उज्वल भविष्य मे दृढ विश्वास और अधिक पूर्णता की प्राप्ति जो मनुष्य जीवन का उद्देश्य है।

दैवी सत्ता यदि हमारे बीच प्रकट होगी, तो हमारे मानव रूप मे अवतरित होगी। मनुष्य दैवी सत्ता से चाह जितनी दूर हो, पृथ्वी पर मनुष्य से अधिक भगवान के निकट कोई नही है। पृथ्वी पर मनुष्य म अधिक भगवान के समान कोई नहा है। मनुष्य का बाल्यावस्था से वृद्धावस्था मे जैसे—विकास हाना है उसी प्रकार जन्म से मृत्यु पर्यन्त दैवी सत्ता की भावना का विकास होना चाहिये, एक आश्रम से दूसरे आश्रम तक उसकी वृद्धि होना चाहिये और उसकी महिमा निरन्तर बढनी चाहिये।

जो धर्म हमारे साथ-साथ नही बढ सकता है विकसित नही हो सकता है जैसे हम बढ़ते हैं, विकसित होते हैं वह मृतक है। निश्चित और अभिन्न एक रूपता ईमानदारी और जीवन का लक्षण न होकर मृत्यु और बईमानी का लक्षण है। प्रत्येक धर्म को यदि वह बुद्धिमान और मूर्ख की एकता चाहता हैं, वृद्ध और युवक का सामजस्य चाहता है, नमन शील हाना चाहिये। उसे उच्च, उदार और गम्भीर होना चाहिये, उस सबको सहन करना पडेगा, सब म विश्वास करना हागा, सबमें आशा रखनी होगी और सहनशील होना होगा। जितना वह इस प्रकार का अधिक होगा उतनी ही उसकी

जीवनी शक्ति होगी, उतना ही वह शक्ति सपन्न होगा और सबके हृदय म स्थान पायेगा।

इन्हीं सब कारणो स ईसा क सिद्धान्त, दूसरे धर्मों क आचार्यों की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हुये। प्रारम्भ म उन्होने सर्वोच्च सत्य प्रकट किया था जिस मछुने बढ़ई वग ने रोमन पब्लिकन ने, और साथ ही यूनान क दार्शनिको न स्वीकार किया था, सच्चे मन स। ससार के उत्तमार्द्ध पर उसका राज्य इसीलिये था किन्तु प्राचीन काल से ही प्रयत्न किये गये थे कि विश्वासो की अभिव्यक्ति क वाह्य लक्षण और चिह्न कठोर और सकीर्ण कर दिये जायें।

प्रेम और श्रद्धा का स्थान सकीर्ण एव जड़ सिद्धान्तों को दे दिया जाय। इसीलिये ईसाई चर्च ने उन लोगो को खो दिया जो उसके सर्वोत्तम समथक हो सकते थे और ईसाई धर्म प्राय वह नही रह गया जिसे सबसे पहले ससार व्यापी प्रेम और उदारता का धर्म माना गया था।

अनुशीलन

एक बार हम फिर उस भाग को देखें जिस पर हमने साथ-साथ यात्रा की है। वह प्राचीन पथ जिस पर हमारे आर्य पूर्वज, जो सप्त सिंधु म बसे थे, कुछ ही हजार वष पहले, चले थे। उस पथ पर चल कर उन्होंने अनन्त, अदृश्य और दैवी सत्ता की खोज की थी।

जैसी कल्पना की जाती है, उन्होंने मूर्ति पूजा स प्रारम्भ नही किया था। मूर्ति पूजा बाद के काल म आयी, जब उसे आना चाहिये था। भारत मे प्राचीनतम धार्मिक ग्रथो मे इसका प्रमाण नही है। इतना ही नही, हम यह भी कह सकत हैं कि मूर्ति पूजा के लिये उसमे स्थान नही है उसी प्रकार जैसे ग्रेनाइट ऐस कठोर पत्थर क भीतर किसी जीव जन्तु या पदार्थ के रहने की सभावना नही है।

और हमे उनके पवित्र ग्रथो म, जिसे अवतरण (इलहाम) दैवी सत्ता का एक क एक प्रकट होना, कहते हैं उसके भी चिह्न या प्रमाण नही मिले हैं। सब कुछ परम स्वाभाविक है, सब कुछ समझ मे आने योग्य है और इस अर्थ म अवतरित है। इंद्रिया और बुद्धि के अतिरिक्त एक अलग धार्मिक प्रवृत्ति की बात स्वीकार करने का कोई भी कारण नही है। यदि हम स्वीकार भी करे तो हमारे विरोधी, जो यहाँ और सर्वत्र हमारे सच्चे मित्र हैं, उसे स्वीकार न करने देंगे। धर्म की व्याख्या यदि हम एक धार्मिक प्रवृत्ति या शक्ति से करें तो यह ज्ञात की व्याख्या कम ज्ञात से करना होगा।

वास्तविक धार्मिक प्रवृत्ति या चेष्टा तो अनन्त की धारणा है। इसीलिये हमने प्राचीन आर्यों के सम्बन्ध मे किसी अधिक दैवी शक्ति का दावा नही किया और न अपने सबके सम्बन्ध म करते हैं। जिसका विरोध कोई भी विरोधी नही कर सकता है हमने उसी को स्वीकार किया है—इंद्रियाँ और विवेक। दूसरे शब्दो म अपनी समझने की शक्ति, इंद्रिया द्वारा प्रकट ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति और इंद्रियो से प्राप्त ज्ञान

को मनन करने की शक्ति, अनुशीलन की शक्ति और शब्दो से प्रकट ज्ञान को धारणा करने की शक्ति। इससे अधिक मनुष्य क बस की बात नही है। इस कल्पना से उसे कुछ भी प्राप्त नही होता है कि वह इससे अधिक कुछ कर सकता है।

हमने यह देख लिया कि हमारी इन्द्रियाँ एक ओर सान्त वस्तुओ का ज्ञान देती हैं और दूसरी ओर निरन्तर उसके सपक मे आती है जो सान्त नही है या कम से कम जो अभी सान्त नही है। वास्तव मे उनका मुख्य उद्देश्य है अनन्त म से सान्त को स्पष्ट करना, अदृश्य से दृश्य को, अलौकिक से लौकिक (पार्थिव) को और क्षणभगुर चतुर्दिक स विश्व को स्पष्ट करना है।

✓ अनन्त के साथ इन्द्रिया क स्थायी सपक स धर्म की प्रथम प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। सबसे पहली भावना जाग्रत हुई कि इन्द्रियाँ जिसे ग्रहण कर सकती हैं उसके आगे भी कुछ है, हमारा विवेक और हमारी भाषा जिसे समझ सकती है उससे भी आगे कुछ है।

यही पर सब धर्मों की गहरी बुनियाद थी। यही पर उन सब का स्पष्टीकरण है जो सबसे पहल थे और जिनका स्पष्टीकरण माना जाता है, मूर्ति पूजा के पहिले अलङ्कार बाद के पहिले और पशुवाद से पहिले।

मनुष्य को सान्त वस्तुओ के इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान स स ताप क्यो नही हुआ ? उसके मस्तिष्क म कभी भी यह विचार आया ही क्योकि ससार मे जिसे वह स्पष्ट कर सकता है, सुन सकता है देख सकता है उसस भी आगे कुछ है या हो सकता है, उसे दैवी शक्ति कहे चाहे आत्मा या दवता कहे।

वैदिक साहित्य क ध्वसावशेषो की खोदाई जब हमको उस दृढ़ चट्टान पर ले आयी तब हम आगे खोज करते गये। हम यह देखना था कि सबसे प्राचीन स्वय जो उस चट्टान पर बने थे उनका पता मिले और ऐसे मेहराब और छते मिले जो भारत क प्राचीन मन्दिरो को बनाये थे। हमने यह देखा कि एकबार जब मनुष्य ने इस विचार को प्राप्त कर लिया कि सान्त क आगे कुछ है तब हिन्दुओ ने उसे प्रकृति में सवत्र खोजा। उसे ग्रहण करने की चेष्टा की और नाम करण का प्रयास किया। पहिले अद्ध दृश्य पदार्थों म, फिर अदृश्य म और अन्त म अप्रत्यक्ष मे।

अद्ध दृश्यमान पदार्थों का ग्रहण करने म मनुष्य की इन्द्रियो ने बताया कि वे उन्हे कुछ अशो मे ही ग्रहण कर सकती हैं फिर भी उनका अस्तित्व है। अदृश्यमान और अन्त म अप्रत्यक्ष पदार्थों के ग्रहण करन मे इन्द्रियो ने बताया कि वे उन्हे कठिनाई से और शायद ही ग्रहण कर सकें फिर भी उनका अस्तित्व है।

इस प्रकार एक नया ससार बना जिसमे अद्ध दृश्यमान अदृश्यमान और अप्रत्यक्ष पदार्थ थ, प्रत्येक कुछ क्रियाओ का व्यक्त करता था। उनकी तुलना मानवीय कृतियो स की जा सकती थी। उनक नाम भी वही दिये गये जो इस प्रकार की मानव क्रियाओ को दिये जात हैं।

जीवनी शक्ति होगी, उतना ही वह शक्ति सम्पन्न होगा और सबके हृदयों में स्थान पायेगा।

इन्हीं सब कारणों से ईसा के सिद्धान्त, दूसरे धर्मों के आचार्यों की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हुये। प्रारम्भ में उन्होंने सर्वोच्च सत्य प्रकट किया था जिसे यहूदी बड़ई वर्ग ने रोमन पब्लिकन ने, और साथ ही यूनान के दार्शनिकों ने स्वीकार किया था, सच्चे मन से। संसार के उत्तमांश पर उसका राज्य इसीलिये था किन्तु प्राचीन काल से ही प्रयत्न किये गये थे कि विश्वासों की अभिव्यक्ति के बाह्य लक्षण और चिह्न कठोर और संकीर्ण कर दिये जायें।

प्रेम और श्रद्धा का स्थान संकीर्ण एवं जड़ सिद्धान्तों को दे दिया जाय। इसीलिये ईसाई चर्च ने उन लोगों को खो दिया जो उसके सर्वोत्तम समर्थक हो सकते थे और ईसाई धर्म प्रायः वह नहीं रह गया जिसे सबसे पहले संसार व्यापी प्रेम और उदारता का धर्म माना गया था।

अनुशीलन

एक बार हम फिर उस भाग को देखें जिस पर हमने साथ-साथ यात्रा की है। वह प्राचीन पथ जिस पर हमारे आर्य पूर्वज, जो सप्त सिंधु में बसे थे, कुछ ही हजार वर्ष पहले, चले थे। उस पथ पर चल कर उन्होंने अनन्त, अदृश्य और दैवी सत्ता की खोज की थी।

जैसी कल्पना की जाती है, उन्होंने मूर्ति पूजा से प्रारम्भ नहीं किया था। मूर्ति पूजा बाद के काल में आयी, जब उसे आना चाहिये था। भारत में प्राचीनतम धार्मिक ग्रन्थों में इसका प्रमाण नहीं है। इतना ही नहीं हम यह भी कह सकते हैं कि मूर्ति पूजा के लिये उसमें स्थान नहीं है उसी प्रकार जैसे ग्रेनाइट ऐसे कठोर पत्थर के भीतर किसी जीव जन्तु या पदार्थ के रहने की संभावना नहीं है।

और हमें उनके पवित्र ग्रन्थों में, जिसे अवतरण (इलहाम) दैवी सत्ता का एक क एक प्रकट होना, कहते हैं उसके भी चिह्न या प्रमाण नहीं मिले हैं। सब कुछ परम स्वाभाविक है, सब कुछ समझ में आने योग्य है और इस अर्थ में अवतरित है। इन्द्रियों और बुद्धि के अतिरिक्त एक अलग धार्मिक प्रवृत्ति की बात स्वीकार करने का कोई भी कारण नहीं है। यदि हम स्वीकार भी करें तो हमारे विरोधी, जो यहाँ और सर्वत्र हमारे सच्चे मित्र हैं, उसे स्वीकार न करने देंगे। धर्म की व्याख्या यदि हम एक धार्मिक प्रवृत्ति या शक्ति से करें तो यह बात की व्याख्या कम बात से करना होगा।

वास्तविक धार्मिक प्रवृत्ति या चेष्टा तो अनन्त की धारणा है। इसीलिये हमने प्राचीन आर्यों के सम्बन्ध में किसी अधिक दैवी शक्ति का दावा नहीं किया और न अपने सबके सम्बन्ध में करते हैं। जिसका विरोध कोई भी विरोधी नहीं कर सकता है हमने उसी को स्वीकार किया है—इन्द्रियाँ और विवेक। दूसरे शब्दों में अपनी समझने की शक्ति, इन्द्रियों द्वारा प्रकट ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति और इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान

का मनन करने की शक्ति, अनुशीलन की शक्ति और श्रद्धा से प्रकट ज्ञान को धारण करने की शक्ति। इससे अधिक मनुष्य के बस की बात नहीं है। इस कल्पना से उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता है कि वह इससे अधिक कुछ कर सकता है।

हमने यह देख लिया कि हमारी इन्द्रियां एक ओर सान्त वस्तुओं का ज्ञान देती हैं और दूसरी ओर निरन्तर उसके सपर्क में आती है जो सान्त नहीं है या कम से कम जो अभी सान्त नहीं है। वास्तव में उनका मुख्य उद्देश्य है अनन्त में से सान्त को स्पष्ट करना, अदृश्य से दृश्य को, अलौकिक से लौकिक (पार्थिव) को और क्षणभंगुर चतुर्दिक से विश्व को स्पष्ट करना है।

अनन्त के साथ इन्द्रियों के स्थायी सपर्क से धर्म की प्रथम प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। सबसे पहली भावना जागृत हुई कि इन्द्रियाँ जिसे ग्रहण कर सकती हैं उसके आगे भी कुछ है, हमारा विवेक और हमारी भाषा जिसे समझ सकती है उससे भी आगे कुछ है।

यही पर सब धर्मों की गहरी बुनियाद थी। यही पर उन सब का स्पष्टीकरण है जो सबसे पहले थे और जिनका स्पष्टीकरण माना जाता है, मूर्ति पूजा के पहिले अलङ्कार वाद के पहिले और पशुवाद से पहिले।

मनुष्य का सान्त वस्तुओं के इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से सतोष क्यों नहीं हुआ? उसके मस्तिष्क में कभी भी यह विचार आया ही क्योंकि ससार में जिसे वह स्पष्ट कर सकता है, सुन सकता है, देख सकता है उससे भी आगे कुछ है या हो सकता है, उसे दैवी शक्ति कहे चाहे आत्मा या देवता कहे।

वैदिक साहित्य के ध्वसावशेषों की खुदाई जब हमको उस दृढ चट्टान पर ले आयी तब हम आगे खोज करते गये। हम यह देखना था कि सबसे प्राचीन स्वय जो उस चट्टान पर बने थे उनका पता मिले और ऐसे महराब और छतें मिलें जो भारत के प्राचीन मन्दिरों का बनाये थे। हमने यह देखा कि एकबार जब मनुष्य ने इस विचार को प्राप्त कर लिया कि सान्त के आगे कुछ है तब हिन्दुओं ने उस प्रकृति में सर्वत्र खोजा। उसे ग्रहण करने की चेष्टा की और नाम करण का प्रयास किया। पहिले अर्द्ध दृश्य पदार्थों में, फिर अदृश्य में और अन्त में अप्रत्यक्ष में।

अर्द्ध दृश्यमान पदार्थों का ग्रहण करने में मनुष्य की इन्द्रियों ने बताया कि वे उन्हें कुछ अशों में ही ग्रहण कर सकती हैं फिर भी उनका अस्तित्व है। अदृश्यमान और अन्त में अप्रत्यक्ष पदार्थों के ग्रहण करने में इन्द्रियों ने बताया कि वे उन्हें कठिनाई से और शायद ही ग्रहण कर सकें फिर भी उनका अस्तित्व है।

इस प्रकार एक नया ससार बना जिसमें अर्द्ध दृश्यमान अदृश्यमान और अप्रत्यक्ष पदार्थ थे, प्रत्येक कुछ क्रियाओं को व्यक्त करता था। उनकी तुलना मानवीय कृतियों से की जा सकती थी। उनके नाम भी वही दिये गये जो इस प्रकार की मानव-क्रियाओं को दिये जाते हैं।

इन नामों में से कुछ नाम ऐसे थे जो एक से अधिक अप्रत्यक्ष पदार्थों का दिये गये थे। ये साधारण तथा अधिक प्रयुक्त विशेषण बन गये। असुर, देव, दानव अमरत्व, ए। विशेषण हैं जो यूनान, इटली और जर्मनी के अमर्त्य देवताओं के समतुल्य और समरूप हैं।

हमने यह भी देख लिया कि दूसरे विचार जो धार्मिक हैं और जो अत्यन्त सूक्ष्म विचार जान पड़ते हैं जिनको मनुष्य बनाने की क्षमता रखता है वास्तव में सब ,ये विचारों की भाँति एन्द्रिय अनुभूतियों से लिये गये थे। नियम, पुण्य, अनन्त और अमरत्व के विचार भी इन्द्रिय जनित अनुभूतियों पर आधारित थे। सूक्ष्म नाम धीरे धीरे आये।

मैं चाहता था कि और अधिक भाषण का अवसर मिलता। मैं दिखाना चाहता था कि मनुष्य के मस्तिष्क पर मृत्यु का पहिला सचेतन सम्पर्क कैसा हुआ और फिर निश्चय रूप के विश्वास और अवतरण की धारणा कैसे विकसित हुई ?

भारत वर्ष में भी, इसके विरुद्ध चाहे जो कहा जाय, यह निश्चित है कि जो कुछ समय के लिये मृत्यु द्वारा हमसे विलग कर दिये गये हैं उनके सम्बन्ध में विचार और भावनाओं ने धर्म का आवश्यक आधार बहुत प्राचीन काल से ही प्रस्तुत किया। और विश्व से को पहिला आश्रय उन आशाओं और कल्पनाओं में मिला कि हमारा भविष्य जीवन होगा हम पुनः मिलेंगे (मृतकों से भी) हमारी जाति के बुजुर्गों पर भी इस विश्वास का प्रभाव पड़ा जो अब भी है और जिसे रोकना कठिन है।

अन्त में हमने यह देखा कि एक प्राकृतिक और बुद्धि गम्य क्रम से एक देव का विश्वास एक ईश्वर का विश्वास बन गया जो सर्वोच्च था। दूसरे देवताओं का महत्व नहीं था, बहुदेव वाद नहीं था। एक ईश्वर वाद था। दूसरे देवताओं की सम्भावना समाप्त हो गयी।

और आगे चल कर हमने देखा कि समस्त देवता और असुर केवल नाम ही माने गये किन्तु यह खोज कुछ अंशों में नास्तिकवाद की ओर गयी और कुछ अंशों में बौद्ध धर्म की ओर। दूसरा को इसमें एक नयी दिशा मिली, उस नयी दिशा का अभियान, एक सत्ता का विश्वास द गया। वह सत्ता प्रत्येक की आत्मा (स्वयं) है। वह समस्त सा त पदार्थों में है उसके आगे है, उसके अन्तर्गत है। इन्द्रियों से जो ग्राह्य होता है उसमें है फिर भी उससे आगे है। हमारी सान्त सत्ता अहं के अन्तर्गत है और उसके आगे भी है। वह समस्त आत्माओं की आत्मा है।

इस समय यहाँ पर हमें अपना अन्वेषण छोड़ देना पड़ा और यह सन्तोष हो गया कि हमने उस निम्नतम दृढ़ चट्टान की बुनियाद देख ली जिस पर भारत के समस्त मन्दिर आधारित हैं जो बाद के समय में बनाये गये और जिनमें उपासना या बलिदान किये गये।

मैंने आपको बारम्बार यह चेतावनी देना ठीक समझा कि आप यह धारणा

न बनाले कि जिन बुनियादो की खोज, मैंने भारत के प्राचीनतम मंदिरो की, की थी, वह वही थी जो मनुष्य के बनाये गये सब मन्दिरो की थी। समाप्ति के पहिले मैं इसे फिर कहता हूँ।

निस्सदेह वह दृढ़ चट्टान, मनुष्य का हृदय, सर्वत्र समान होना चाहिये, कुछ खम्भे और प्राचीन छतें भी सर्वत्र समान हैं जहाँ भी धर्म है, विश्वास है और पूजा है।

किन्तु इसके आगे हम नही जाना चाहिये, कम से कम इस समय मुझे आशा है कि वह समय आयेगा जब मानव धर्म का अन्तप्रवाहित क्षेत्र और अधिक सुलभ और गन्तव्य हो जायगा।

मेरा विश्वास है कि जिन भाषणो का मैंने उद्घाटन किया है उसे कोई योग्यतर और मुझसे अधिक समर्थक भविष्य मे पर्याप्त सामग्री देंगे और धर्म-विज्ञान, जो अभी एक आशा मात्र है, और बीज रूप मे है भविष्य मे सब प्रकार से पूर्ण होगा और ज्ञान की प्रचुर-सपदा देगा।

जब इस परिश्रम की फसल का समय आयेगा, जब ससार के समस्त धर्मों की गहरी बुनियादें स्वतन्त्र रूप से डाल दी जायेगी, तब कौन जानता है कि वही बुनियादें एक बार फिर, हमारे गिरजा घरो के नीचे की परतो के समान, उन लोगो को विश्रान्ति स्थल देगी जो, चाहे जिस धर्म के हो, श्रेष्ठतर, पवित्रतर और वास्तविक जीवन की आकाक्षा रखते हैं जो उनको नियमित बलिदान, पूजा और उपासना में नही मिलता है। उनमें कुछ लोग ऐसे भी होंगे जो बालसुलभ कार्यों को छोड देना सीख गये हैं, उनको दन्त-कथा, चमत्कार या इलहाम आदि कहते हैं किन्तु अपने हृदय के बालोपम विश्वास को छोड देना उनके लिये कठिन है।

हिन्दू मन्दिरो मे कैसी उपासना होती हैं, क्या प्रवचन होते हैं, बौद्ध विहारो मे धर्माचरण कैसे होता है, मुसलमानों की मस्जिदो में कैसे नमाज पढ़ी जाती है, यहूदी पूजा-गृहों मे कैसे पूजा होती है। इन सबके अधिकाश को एक ओर रखकर, प्रत्येक आस्तिक, और विश्वासी अपने हृदय के, ज्ञात कोने मे, अपने अमूल्य रत्न रख सकता है—

हिन्दू अपने इस ससार मे अविश्वास और परलोक मे दृढ़ विश्वास को, बौद्ध अपनी अनन्त नियम की धारणा को, उसके प्रति समर्पण को, अपनी नम्रता और दया को।

मुसलमान, यदि और कुछ नही तो अपनी गम्भीरता को।

यहूदी—बुरे और भले सब दिनो मे एक ईश्वर की मान्यता को जो पुण्य कर्मों से प्रेम करता है। जिसके नाम का अर्थ ही यह है। ईसाई—ईश्वर के प्रति अपने प्रेम

को, जो सर्वोपरि है। उसे चाहे जो कहे अनन्त, अदृश्य, अमर्त्य, पिता, सर्वोच्च आत्मा, सब मे और सबके ऊपर, मनुष्य के प्रेम मे प्रकट, जावित का प्रेम मृतक का प्रेम। जीवन्त और अमर प्रेम।

उस एकान्त कोने की ओर जो अभी छोटा और तिमिराच्छन्न है, थोड़े लोग जाते हैं जो अनेक ध्वनियो और शब्दो के शोर से बचना चाहते हैं, प्रकाड प्रकाश से बचना चाहते हैं और अनेक सम्मतियो के सघर्ष से दूर रहना चाहते हैं। कौन जानता है कि किसी समय भूत काल का यह कोना विस्तीर्ण होगा, प्रकाश पूर्ण होगा और भविष्य का उपासना ग्रह बनेगा।